विवेकानन्द संचयन

भाग-1

विवेकानन्द संचयन

भाग–1

लेखक

स्वामी विवेकानन्द

भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली–110032

प्रकाशक : भारती भाषा प्रकाशन,
518/6-बी, विश्वास नगर,
शाहदरा, दिल्ली-110032
मूल्य : 300.00
संस्करण : 1999
आवरण : सौजन्य सत्यसेवक मुखर्जी
मुद्रक : एस०एन० प्रिंटर्स, दिल्ली

भूमिका

स्वामी विवेकानन्द
(जन्म 12-1-1863 – मृत्यु 4-7-1902)

स्वामी विवेकानन्द आधुनिक युग के प्रथम पंक्ति के विश्व प्रसिद्ध महापुरुष थे। वे भारतीयता के आदर्श प्रतिनिधि होने के अतिरिक्त, वैदिक धर्म तथा संस्कृति के ओजस्वी वक्ता भी थे। वेदान्त को आज के विज्ञान के सम्मुख जिस हृदयगंम रूप में उन्होंने प्रतिपादित किया यह उन की ओजस्वी प्रतिभा का प्रतिबिम्ब है। उनके स्फूर्तिदायी विचारो से केवल भारत ही नहीं वरन् सम्पूर्ण पश्चिमी जगत् भी लाभान्वित हुआ। स्वीमी विवेकानन्द के विचार एवं उपदेश मानव के सभी कार्यक्षेत्रों में यथार्थ मार्ग दर्शी हैं।

श्री रामकृष्ण परमहंस के आध्यात्मिक दाय को ग्रहण करके तथा उनके चिंतन के बीज कणो को सारे संसार मे बिखेरने का भार जिस शिष्य के कंधे पर पडा, वह शारीरिक और नैतिक दृष्टियों से अपने गुरु से सर्वथा भिन्न थे। परमहंस की समानता का सौभाग्य उनके किसी अन्य शिष्य में भी न था, लेकिन विवेकानन्द अपने गुरु की महानता तथा सर्मथ तक यदा कदा ऊंचाई पा जाते थे जो कि उन पर गुरु कृपा के कारण था।

विवेकानन्द के सिंह-हृदय मे सामर्थ्य की भावनाएं उमडती रहती थीं। वह मूर्तिमान तेज थे, तथा 'कर्म' ही संसार को उनका सन्देश था। निष्क्रियता के विरोध मे उनका अभिमत था – बलवान बनो और पुरुषार्थ करो। पौरुष तथा सामर्थ्य युक्त दुष्ट व्यक्ति भी अपने सामर्थ्य के कारण एक दिन निज कुकर्मो को त्यागकर सत्य के समर्थन में उठ सकता है – यह उनका तर्क था।

विवेकानन्द का पुष्ट शरीर, सगुठित देह, लम्बा डील, चौडे कन्धे और छाती, गठी हुई लम्बी भुजाएं, गेहुआं रंग, भरा चेहारा, प्रशस्त माथा, सुन्दर गहरी आंखें, उनके दर्शनीय स्वरूप को एक मोहक तथा प्रभावी व्यक्तित्व से प्रतिभा मंडित करते थे। उनकी दृष्टि का पैना जादू तथा आर्कषण उन में राजसी भाव उपजाता था। वे एक विराट के समान थे, जो भी उनके निकट आया उसने उनके सामने सिर नवा दिया।

तीस वर्ष का यह अज्ञात नवयुवक जब ग्यारह सितम्बर सन् 1893 में शिकाग
के धर्म-सम्मेलन के उद्घाटन के अवसर पर खड़ा हुआ, तब उसकी भव्य आकृति वे
सम्मुख सब प्रतिनिधि भुला दिये गये। विवेकानन्द की बलिष्ट देह, शालीन भंगिमा
प्रभावशाली मुद्रा, आंखों की गहरी चमक, गम्भीर वाणी के दिव्य सम्बोधन, 'अमेरिक
निवासी भगिनी और भ्रातृगण' के सुनते सात हजार श्रोताओं तथा दर्शकों से भरे हाल
में तुमुल तालियों की बौछार लगातार दो मिनट तक जारी रही। ऐसा सरल सम्बोधन
वहां की जनता के लिए अन्जाना था। इस सम्बोधन को सुनते ही वे सात हजार व्यक्ति
हर्षयुक्त हो अभ्यर्थनार्थ खड़े हो गये। वहां स्वामी विवेकानन्द के महान् व्यक्तित्व,
तेजस्वी मुख मडंल, गेरुआ वस्त्र आदि का इतना भव्य प्रभाव हुआ कि दूसरे दिन
समाचार पत्रों ने उस पूरे धर्म-सम्मेलन में उन्हें सर्वश्रेष्ठ एवं महानतम् व्यक्ति कहकर
वर्णित किया।

भारत के इस सन्देशवाहक द्वारा उद्बोधित वेदान्त की चिन्तनधारा की अमेरिका
की प्रबुद्ध जनता पर गहरी छाप पड़ी। वेदान्त के–समस्त धर्मो के आधारभूत सन्देश को
पाश्चात्यों के समीप तक पहुंचाने में स्वामीजी को अत्याधिक परिश्रम करना पड़ा। वह
जहां भी जाते उनका स्थान सर्वप्रथम ही होता था। उन्हें देखते ही प्रत्येक व्यक्ति आदर
से नत-मस्तक हो उन्हें नेता का तथा भगवान के कृपा पात्र का वरिष्ठ पद दे देता।

विश्व धर्म-सम्मेलन के बाद, पाश्चात्य देशों में धर्म प्रचार का कार्य कर स्वामी
विवेकानन्द 15 जनवरी, सन् 1897 को कोलम्बो पधारे। तब श्रीलंका भारत का भाग
था। स्वामीजी के स्वदेश आगमन का समाचार भारत में सर्वत्र पहुंच चुका था। सारे
देश में प्रत्येक स्थान पर स्वागतार्थ जोश उमड रहा था। अब वे एक अज्ञात संन्यासी
नहीं रह गये थे। भारत आगमन पर स्वामी विवेकानन्द ने सारे भारत का भ्रमण किया
और वेदान्त, कर्म, भक्ति तथा योग का सन्देश तात्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक
परिस्थितियों के अनुरूप दिया। उनका मानना था कि राष्ट्रीय पुनरुत्थान का आधार
धर्म है – ऐसा धर्म जो समस्त विश्द में आध्यात्मिक एक्य का प्रचार करे। स्वामी
विवेकानन्द पाश्चात्यों की अंधी नकल के तीव्र आलोचक थे और इसी प्रकार भारतीयों
की रूढ़िवादिता, जाति संकीर्णता आदि के विरोधी थे।

सन् 1897 में स्वामी विवेकानन्द द्वारा रामकृष्ण मिशन की स्थापना हुई जिसमें
स्वामी राकृष्ण परमहंस के सभी भक्त और संन्यासी सम्मिलित हुए। इस मिशन के
उद्देश्य तथा आदर्श आध्यात्मिकता एवं मानव सेवा सम्बन्धी हुए। अब राकृष्ण मिशन
के लिए स्वामी विवेकानन्द का जीवन उत्सर्ग था। वे अतीत और वर्तमान, पूर्व और
पश्चिम, स्वप्न और यथार्थ के प्रभुत्व के लिए अविराम जूझते रहे। जून सन् 1899

को स्वामीजी धर्म प्रचार्थ पुनः विदेश गये तथा दिसम्बर सन् 1900 में लौटे।

इस प्रकार विरोधी महाशक्तियों में समन्वय स्थापित करने के लिए उन्हें वर्षों संर्घष करना पड़ा जिसके लिए बड़े साहस और जीवट की आवश्यकता थी। इस कार्य के लिए उन्हें अपने जीवन की आहूति देनी पड़ी। उनके लिए जीवन और संग्राम पर्यायवाची थे। श्री रामकृष्ण परमहंस तथा उनके इस महान् शिष्य की मृत्यु के बीच केवल सोलह वर्षो का अन्तराल रहा! संघर्ष और विस्फोट से भरे हुए सोलह वर्ष—अभी विवेकानन्द की आयु का चालीसवां वर्ष भी पूरा नहीं हुआ था कि वह बलवान शरीर चितारूढ़ हो गया। किन्तु इस चिता की ज्वाला की राख से भारत की आत्मा उनके सन्देशों को ग्रहण कर नया जन्म लेकर प्रकट हुई है। विवेकानन्द के सन्देश से देश की एकता तथा समग्रता का नया विश्वास जागा। यही सन्देश जिनका मनन और चिंतन, प्राचीन भारतीय प्रतिभा वैदिक काल से करती आयी है – तथा शेष मानव-जाति के लिए प्रशस्त करती रही है।

आज के वैज्ञानिक युग के मनुष्य के सम्मुख जो भी सामाजिक, आत्मिक, अधिभौतिक समस्याएं हैं, उनके लिए स्वामीजी ने वेदान्त, भक्ति, योग के मार्ग द्वारा उपाय तथा पथ प्रशस्त किया। उन्होंने चिरंतन सत्य के यथार्थ तथा मानव-धर्म की शिक्षा के अतिरिक्त पूजाभाव से विश्व की जनता-जनार्दन की सेवा करने का पाठ पढ़ाया।

देश की भावी पीढ़ियों के लिए यह अमूल्य संन्देश है। स्वामी विवेकानन्द की रचनाओं द्वारा देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन को प्रभावी योगदान मिलने के कारण स्वामीजी का जन्म दिवस राष्ट्रीय युवा दिवस के रूप में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत है।

स्वामी विवेकानन्द ने सम्पूर्ण विश्व के लिए ज्ञान और शिक्षा की जो सामग्री प्रदान की है वे उनके व्याख्यानों, उपदेशों, प्रवचनो, लेखों तथा वार्तालाप – सम्भाषणों में निहित है। उनके सैकड़ों व्याख्यान जो भारत तथा विदेशों में दिये गये, उनकी लिखित पुस्तकों तथा लेख हजारों पृष्ठों में लिपिबद्ध हैं। उनके इस विस्तृत साहित्य में विषयानुसार चयन कर यह सचंयन सुधि पाठकों, अध्येयताओं तथा जन-मानस के लिए प्रकाशित हो रहा है।

—प्रकाशक

अनुक्रम

व्याख्यान, प्रवचन एवं कक्षालाप

वेदान्त – (1)

(12 नवम्बर, सन् 1897 को लाहौर में दिया गया व्याख्यान)

स्वामी विवेकानन्द ने अपने व्याख्यान में बताया कि हम (बहिर्जगत् व अन्तर्जगत) दोनों जगतो में ही निवास करते है। इन दोनों जगतों में ही मनुष्य प्राचीनकाल से काफी उन्नति करता हुआ आया है। मनुष्य ने सर्वप्रथम बहिर्जगत् की खोज की व दुरूहतर समस्याओं के उत्तर बाह्य समस्याओं से प्राप्त करने की कोशिश की। प्रथमत: मनुष्यो ने अपने चारो ओर की वस्तुओं से सुन्दर और उदात्त की तृष्णा निवृत्त करनी चाही। वे अपने को और अपने सभी भीतरी भावों को स्थूल भाषा में प्रकाशित करने के लिए प्रवृत्त हुए तथा उन्हे जो उत्तर मिले, ईश्वर-तत्त्व और उपासना-तत्त्व के जो अति अद्‌भुत सिद्धान्त उन्हें प्राप्त हुए और उस शिव-सुन्दर का उन्होने जो उच्छ्‌वासमय वर्णन किया, वे सभी वास्तव में अति अपूर्व है। बहिर्जगत् से नि.सन्देह महान् भावों का आविर्भाव हुआ। परन्तु बाद मे मनुष्य जाति के लिए जो अन्य जगत् उन्मुक्त हुआ, वह और भी महान् और भी सुन्दर तथा अनन्त गुना विस्मृत था। वेदों के कर्मकाण्ड-भाग मे हम धर्म के बडे ही आश्चर्यमय तत्त्वों का वर्णन पाते हैं। वहां हम संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करनेवाले विधाता के सम्बन्ध में अत्यन्त अद्‌भुत तत्त्वों को देखते है, ये सब हमारे सामने मर्मस्पर्शी भाषा में रखे गये है। तुममे से अनेकों को ऋग्वेदसंहिता का वह श्लोक, जो प्रलय के वर्णन मे आया है, याद होगा। भावो को उद्दीप्त करनेवाला ऐसा उदात्त वर्णन शायद कभी किसी ने नहीं किया। इन सब के होते हुए भी हम देखते हैं कि इसमें केवल बहिर्जगत् की ही महत्ता का चित्रण किया गया है; यह वर्णन स्थूल का है, इसमे कुछ जड़त्व भी लगा हुआ है। तथापि हम देखते है, जड और समीप भाषा मे यह असीम का ही वर्णन है। यह जड शरीर के अनन्त विस्तार का वर्णन है, किन्तु मन का नहीं; यह देश के अनन्तत्व का वर्णन है, किन्तु विचार का नहीं। इसलिए वेदों के दूसरे भाग में, अर्थात् ज्ञानकाण्ड मे, हम देखते है, एक बिलकुल ही भिन्न प्रणाली का अनुसरण किया गया है। पहली प्रणाली थी बाह्य-प्रकृति में विश्व-ब्रह्माण्ड के प्रकृत सत्य का अनुसंधान; यह जड-संसार

से जीवन की सभी गम्भीर समस्याओं की मीमांसा करने की चेष्टा थी। 'यस्यैते हिमवन्तो महित्वा' – 'यह हिमालय पर्वत जिनकी महत्ता बतला रहा है।' यह बड़ा ऊंचा विचार है अवश्य, किन्तु फिर भी भारत के लिए यह पर्याप्त नहीं था। भारतीय मन को इस पथ का परित्याग करना पड़ा। भारतीय गवेषणा पूर्णतया बहिर्जगत् को छोड़कर दूसरी ओर मुड़ी – खोज अन्तर्जगत में शुरू हुई। क्रमश: वे जड़ से चेतन में आये। चारों ओर से यह प्रश्न उठने लगा, 'मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का क्या हाल होता है ?' 'अस्तीत्यैके नायमस्तीति चैके' (कठोपनिषद् 1 । 120 । ।) – 'किसी-किसी का कथन है, कि मनुष्य की मृत्यु के बाद भी आत्मा का अस्तित्व रहता है, और कोई-कोई कहते है कि नहीं रहता; हे यमराज, इसमें कौन-सा सत्य है ?' यहां हम देखते हैं, एक दूसरी ही प्रणाली का अनुसरण किया गया है। भारतीय मन को बहिर्जगत् से जो कुछ मिलना था, मिल चुका था, परन्तु उससे इसे तृप्ति नहीं हुई। अनुसंधान के लिए वह और आगे बढ़ा। समस्या के समाधान के लिए उसने अपने में ही गोता लगाया, तब यथार्थ उत्तर मिला।

वेदों के इस भाग का नाम है उपनिषद् या वेदान्त या आरण्यक या रहस्य। यहां हम देखते हैं, धर्म बाहरी दिखलावे से बिलकुल अलग है; यहां हम देखते हैं, आध्यात्मिक विषयों का वर्णन जड़ की भाषा से नहीं हुआ। सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों के लिए तदनुरूप भाषा का व्यवहार किया गया है। यहां और कोई स्थूल भाव नहीं है, यहां जगत् के विषयों से कोई समझौता नहीं है। हमारी आज की धारणा के परे, उपनिषदों के वीर तथा साहसी महामना ऋषि निर्भय भाव से बिना समझौता किये ही मनुष्यजाति के लिए ऊंचे से ऊंचे तत्त्वों की घोषणा कर गये हैं, जो कभी भी प्रचारित नहीं हुए। हे हमारे देशवासियो, मैं उन्हीं को तुम्हारे आगे रखना चाहता हूं। वेदों का ज्ञानकाण्ड एक विशाल महासागर है, इसका थोड़ा ही अंश समझने के लिए अनेक जन्मों की आवश्यकता है। रामानुज के उपनिषदों के सम्बन्ध में यथार्थ ही कहा है कि वेदान्त वेदों का मुकुट है और सचमुच ही वह वर्तमान भारत की बाईबिल है। वेदों के कर्मकाण्ड पर हिन्दुओं की बड़ी श्रद्धा है, परन्तु हम जानते हैं, युगों तक श्रुति के नाम से केवल उपनिषदों का ही अर्थ लिया जाता था। हम जानते हैं, हमारे बड़े-बड़े सब दर्शनकारों ने – व्यास हों चाहे पतंजलि या गौतम, यहां तक कि सभी दर्शनशास्त्रों के जनकस्वरूप महापुरुष कपिल ने भी – जब अपने मत के समर्थन में प्रमाणों का संग्रह करना चाह तब उनमें से हर उपनिषदों में ही प्रमाण मिले हैं और कहीं नहीं; क्योंकि शाश्वत सत्य केवल उपनिषदों में ही हैं।

कुछ सत्य ऐसे हैं जो किसी विशेष पथ से, विशेष-विशेष अवस्थाओं और समयों

के अनुकूल, किसी-किसी निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए होते हैं और वे किसी खास समय के लिए ही उपयोगी होते हैं और कुछ सत्य ऐसे हैं जिनकी प्रतिष्ठा मानव; प्रकृति पर हुई है। उनका अस्तित्व रहेगा। यही पिछले सत्य सार्वजनीन और सार्वकालिक कहे जा सकते हैं; और भार में बहुत कुछ परिवर्तन होने पर भी, हमारे खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा और उपासना प्रणालियों के बहुत कुछ परिवर्तित हो जाने पर भी श्रुतियों के ये सार्वभौम सत्य, वेदान्त के ये अपूर्व तत्त्व, अपनी ही महिमा से अचल, अजेय और अविनाशी बनकर आज भी विद्यमान हैं।

उपनिषदों में जो तत्त्व अच्छी तरह विकसित हो पाये हैं, उनके बीज पहले ही से कर्मकाण्ड में पाये जाते हैं। ब्रह्माण्ड-तत्त्व की धारणा, जिसका अस्तित्व सब सम्प्रदायों के वेदान्ती मानते हैं; यहां तक कि मनोविज्ञान-तत्त्व भी, जिसे भारत की सम्पूर्ण चिन्तनप्रणालियों का उद्‌गमस्थान कहना चाहिए, कर्मकाण्ड में वर्णित एवं संसार के सम्मुख प्रचारित हो चुके हैं। अतः वेदान्त के आध्यात्मिक भाग पर कुछ कहने के पहले मुझे कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक प्रतीत हो रहा है और वेदान्त शब्द मै किस अर्थ में प्रयोग करता हूं, इसकी व्याख्या सर्वप्रथम करना चाहता हूं।

दुःख की बात है कि आजकल हम लोग प्रायः एक विशेष भ्रम में पड़ जाते हैं। हम वेदान्त से केवल अद्वैतवाद समझ लेते हैं। परन्तु तुम लोगों को याद रखना चाहिए कि यदि सभी धार्मिक पन्थों का अध्ययन करना है तो भारत के वर्तमान समय में प्रस्थानत्रय पढ़ने की भी उतनी ही आवश्यकता है। सब से पहले हैं श्रुतियां अर्थात् उपनिषद्, दूसरे हैं व्याससूत्र जो अपने पहले के दर्शनों की समष्टि तथा चरम परिणतिस्वरूप होने के कारण इतर दर्शनों से बढ़कर समझे जाते है; और बात ऐसी नहीं कि ये दर्शन एक दूसरे के विरोधी हैं, बल्कि वे एक दूसरे के आधार-स्वरूप हैं– मानो सत्य की खोज करनेवाले मनुष्यों को सत्य का क्रमविकास दिखलाते हुए, व्याससूत्रों में उनकी चरम परिणति हो गयी है। व्याससूत्रों में वेदान्त के अद्‌भुत सत्यों को क्रमबद्ध किया गया है और उपनिणदो तथा व्याससूत्रों के मध्य में वेदान्त की दिव्या टीका के रूप में गीता वर्तमान है।

अतः भारत का प्रत्येक धर्माभिमानी सम्प्रदाय – चाहे वह द्वैतवादी, अद्वैतवादी या वैष्णव हो – उपनिषद्, गीता तथा व्याससूत्र को प्रामाणिक ग्रन्थ मानता है। ये ही तीनों प्रस्थानत्रय कहे जाते हैं। हम देखते हैं शंकराचार्य हों चाहे रामानुज, मध्वाचार्य हों चाहे वल्लभाचार्य अथवा चैतन्य हों, जिस किसी ने एक नवीन सम्प्रदाय की नींव डाली है, उसे इन तीनों प्रस्थानों को ग्रहण करना ही पड़ा और उन पर एक नये भाष्य की रचना करनी पडी। अतः वेदान्त को उपनिषदों के किसी एक ही भाव में, द्वैतवाद,

विशिष्टाद्वैतवाद या अद्वैतवाद के रूप में आबद्ध कर देना ठीक नहीं। जब कि वेदान्त से ये सभी मत निकले हैं तो उसे इन मतों की समष्टि ही कहना चाहिए। एक अद्वैतवादी को अपने को वेदान्ती कहकर परिचय देने का जितना अधिकार है, उतना ही रामानुज-सम्प्रदाय के विशिष्टद्वैतवादी को भी है। परन्तु मैं कुछ और बढ़कर कहना चाहता हूं कि हिन्दू शब्द कहने से हम लोगों का वही अभिप्राय है जो वास्तव में वेदान्ती का है। मैं तुमसे कहता हूं कि ये तीनों भारत में स्मरणातीतकाल से प्रचलित हैं। तुम कदापि यह विश्वास न करो कि अद्वैतवाद के आविष्कारक शंकर थे। उनके जन्म के बहुत पहले ही से यह मत यहां था। वे केवल इसके अन्तिम प्रतिनिधियों में से एक थे। रामानुज के मत के लिए भी यही बात कहनी चाहिए। उनके भाष्य ही से यह सूचित हो जाता है कि उनके आविर्भाव के बहुत पहले से वह मत विद्यमान था। जो द्वैतवादी सम्प्रदाय अन्य सम्प्रदायों के साथ-साथ भारत में वर्तमान हैं, उन पर भी यही बात लागू होती है; और अपने थोड़े-से ज्ञान के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि ये सब मत एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं।

जिस तरह हमारे षड्दर्शन महान् तत्त्वों के क्रमिक विकास मात्र हैं, जो संगीत की तरह पिछले धीमे स्वर वाले परदों से उठते हैं और अन्त में समाप्त होते हैं अद्वैत की वज्रगम्भीर ध्वनि में, उसी तरह हम देखते हैं कि पूर्वोक्त तीनों मतों में भी मनुष्य-मन उच्च से उच्चतर आदर्श की ओर अग्रसर हुआ है और अन्त में सभी मत अद्वैतवाद के उच्चतम सोपान पर पहुंचकर एक अद्भुत एकत्व में परिसमाप्त हुए हैं। अत: ये तीनों परस्पर विरोधी नहीं हैं। दूसरी ओर, मुझे यह कहना पड़ता है कि बहुत लोग इस भ्रम में पड़े हुए हैं कि ये तीनों मत परस्पर विरोधी हैं। हम देखते हैं, अद्वैतवादी आचार्य, जिन श्लोकों में अद्वैतवाद की ही शिक्षा दी गयी है, उन्हें तो ज्यों का त्यों रख देते हैं, परन्तु, जिनमें द्वैत या विशिष्टाद्वैतवाद के उपदेश हैं, उन्हें जबरदस्ती अद्वैतवाद की ओर घसीट लाते हैं, उनका भी अद्वैतपरक अर्थ कर डालते हैं। उधर द्वैतवादी आचार्य अद्वैतात्मक श्लोकों का भी द्वैतपरक अर्थ लगाने की चेष्टा करते हैं। वे हमारे पूज्य आचार्य हैं, यह मैं मानता हूं, परन्तु 'दोषा वाच्या गुरोरपि' भी एक प्रसिद्ध वाक्य है। मेरा मत है कि केवल इसी एक विषय में उन्हें भ्रम हुआ है। हमें शास्त्रों की विकृत व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। धार्मिक विषयों में हमें किसी प्रकार की बेईमानी का सहारा लेकर धर्म की व्याख्या करने की जरूरत नहीं है। व्याकरण के दांव-पेंच दिखाने से क्या फायदा! श्लोकों का अर्थ लगाने में हमें अपने ऐसे भाव रखने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए, जो उनमें अभिप्रेत न थे। जब तुम अधिकारभेद का अपूर्व रहस्य समझोगे, तब श्लोकों का यथार्थ अर्थ सहज ही तुम्हारी समझ में आ जाएगा।

यह सच है कि सम्पूर्ण उपनिषदों का लक्ष्य एक है, 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मुण्डकोपनिषद् 1।3।।) – 'वह कौन-सी वस्तु है जिसे जान लेने पर सम्पूर्ण ज्ञान करतलगत हो जाता है ?' आजकल की भाषा में अगर कहा जाए तो यही कहना चाहिए कि उपनिषदों का उद्देश्य चरम एकत्व के आविष्कार की चेष्टा है और भिन्नत्व के एकत्व की खोज ही ज्ञान है। प्रत्येक विज्ञान की इसी नींव पर प्रतिष्ठित है। मनुष्यों का सम्पूर्ण ज्ञान भिभत्व में एकत्व की खोज पर ही प्रतिष्ठित है; और, यदि दृश्य जगत् कि थोडी-सी घटनाओं में ही एकत्व के अनुसंधान की चेष्टा क्षुद्र मानवीय विज्ञान का कार्य हो तो इस अपूर्व विचित्रतासंकुल विश्व के भीतर, जिसे हम नाम और रूपों से सहस्रधा विभक्त देख रहे है, जहां जड और चेतन में भेद वर्तमान है, जहां सभी चित्तवृत्तियां एक दूसरी से भिन्न हैं, जहां कोई रूप किसी दूसरे से नहीं मिलता, जहां प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तु से पृथक् है, एकत्व का आविष्कार करने का हमारा उद्देश्य कितना कठिन है ! परन्तु इन विभिन्न स्तरों और अनन्त लोकों के भीतर एकत्व का आविष्कार करने का हमारा उद्देश्य कितना कठिन है ! परन्तु इन विभिन्न स्तरों और अनन्त लोकों के भीतर एकत्व का आविष्कार करना ही उपनिषदों का लक्ष्य है। दूसरी ओर हमें अरुन्धती न्याय का भी सहारा लेना चाहिए। यदि किसी को अरुन्धती नक्षत्र दिखलाना है तो पहले पासवाला उससे कोई बडा और उज्ज्वलतर नक्षत्र दिखला कर उस पर देखनेवाले की दृष्टि स्थिर करनी चाहिए इसके बाद छोटे नक्षत्र अरुन्धती का दिखलाना आसान होगा। इसी तरह सूक्ष्मतम ब्रह्मतत्व को समझाने के लिए दूसरे कितने ही स्थूल भावों के उपदेश देकर ऋषियो ने उच्च तत्त्व को समझाया है। इस कथन को प्रमाणित करने के लिए मुझे ज्यादा कुछ नहीं करना है, केवल उपनिषदों को तुम्हारे सामने रख देना है, फिर तुम स्वयं समझ जाओगे। प्राय: हर अध्याय द्वैतवाद या उपासना के उपदेश से आरम्भ होता है। पहले शिक्षा दी गयी है कि ईश्वर संसार का सृष्टिकर्ता है, संरक्षक है और अन्त में प्रत्येक वस्तु उसी मे विलीन हो जाती है; वही हमारा उपास्य है, वही शासक है, वही बहि:प्रकृति और अन्त:प्रकृति का प्रेरक है, फिर भी वह मानो प्रकृति के बाहर है। एक कदम और बढकर हम देखते हैं, वे ही आचार्य वतलाते हैं कि ईश्वर प्रकृति के बाहर नहीं बल्कि प्रकृति के अन्तर्व्याप्त है। अन्त में ये दोनों भाव छोड दिये गये है और जो कुछ है सब वही है – कोई भेद नहीं। 'तत्त्वमसि श्वेतकेत्तो' – 'हे श्वेतकेतु, तुम वही (ब्रह्म) हो।'' अन्त में यही घोषणा की गयी कि जो समग्र जगत् के भीतर विद्यमान है वही मनुष्यों की आत्मा में भी विराजमान है। यहां किसी तरह की रियायत नहीं, यहां दूसरों के मतामत की परवाह नहीं की गयी। यहां सत्य, निरावरण सत्य निर्भीक भाषा मे

प्रचारित किया गया है। आज उस महान् सत्य का उसी निर्भीक भाषा में प्रचार करने में हमें हरगिज न डरना चाहिए और ईश्वर की कृपा से मैं स्वयं तो कम-से-कम उसी प्रकार का एक निर्भीक प्रचारक होने की आशा रखता हूं।

अब मैं पूर्वप्रसंग का अनुसरण करते हुए दो बातों को समझाता हूं। एक है मनस्तात्त्विक पक्ष, जो सभी वेदान्तियों का सामान्य विषय है, और दूसरा है जगत्-सृष्टि पक्ष। पहले मैं जगत्-सृष्टि पक्ष पर विचार करूंगा। हम देखते हैं, आजकल आधुनिक विज्ञान के विचित्र-विचित्र आविष्कार हमें आकस्मिक रूप से चकित कर रहे हैं और स्वप्न में भी अकल्पनीय अद्भुत चमत्कारों को हमारे सामने रखकर हमारी आंखों को चकाचौंध कर दे रहे हैं। परन्तु वास्तव में इन आविष्कारों का अधिकांश बहुत पहले के आविष्कृत सत्यों का पुनराविष्कार मात्र है। अभी हाल की बात है। आधुनिक विज्ञान ने विभिन्न शक्तियों में एकत्व का आविष्कार किया है। उसने अभी-अभी यह आविष्कृत किया कि ताप, विद्युत, चुम्बक आदि भिन्न-भिन्न नामों से परिचित जितनी शक्तियां हैं, वे एक ही शक्ति में परिवर्तित की जा सकती हैं; अत: दूसरे उन्हें चाहे जिन नामों से पुकारते रहें, विज्ञान उनके लिए एक ही नाम व्यवहार में लाता है। यही बात संहिता में भी पायी जाती है। यद्यपि वह एक प्राचीन ग्रन्थ है, तथापि उसमें भी शक्तिविषयक ऐसा ही सिद्धान्त मिलता है, जिसका मैंने उल्लेख किया है। जितनी शक्तियां हैं, चाहे तुम उन्हें गुरुत्वाकर्षण कहो, चाहे आकर्षण या विकर्षण कहो, अथवा ताप कहो या विद्युत, वे सब उसी शक्तितत्त्व के विभिन्न रूप हैं। चाहें मनुष्यों के बाह्य इन्द्रियों का व्यापार कहो या उनके अन्त:करण की चिन्तनशक्ति ही कहो, हैं सब एक ही शक्ति से उद्भूत। उसे प्राण शक्ति कहते हैं। अब यह प्रश्न उठ सकता है कि प्राण क्या है? प्राण स्पन्दन या कम्पन है। जब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का विलय इसके चिरन्तन स्वरूप में हो जाता है, तब ये अनन्त-शक्तियां कहां चली जाती हैं ? क्या तुम सोचते हो कि इनका भी लोप हो जाता है ? नहीं, कदापि नहीं। यदि शक्तिराशि बिलकुल नष्ट हो जाए तो फिर भविष्य में जगत्तरंग का उत्थान कैसे और किस आधार पर हो सकता है ? क्योंकि गति तो तरंगाकार संचरण है, जो उठती है, गिरती है, फिर उठती है, फिर गिरती है। इसी जगत्-प्रपंच के विकास को हमारे शास्त्रों में 'सृष्टि' कहा गया है। परन्तु ध्यान रहे, 'सृष्टि' अंग्रेजी में 'क्रियेशन' (creation) नहीं। अंग्रेजी में संस्कृत शब्दों का यथार्थ अनुवाद नहीं होता। बड़ी मुश्किल से मैं संस्कृत के भाव अंग्रेजी में व्यक्त करता हूं। 'सृष्टि' शब्द का वास्तविक अर्थ है – प्रक्षेपण। प्रलय होने पर जगत्-प्रपंच सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर अपनी प्राथमिक अवस्था को प्राप्त होता है, कुछ काल उसी शान्त अवस्था में रहकर फिर विकसित होता है। यही सृष्टि है। अच्छा, तो फिर

इन प्राणरूप शक्तियों का क्या होता है ? वे आदिप्राण से मिल जाती हैं। यह प्राण उस समय बहुत कुछ गतिहीन हो जाता है, परन्तु इसकी गति बिलकुल ही बन्द नहीं हो जाती। वैदिक सूक्तों के 'आनीदवातम्' – 'वह गतिहीन भाव से स्पन्दित हुआ था' – इस वाक्य से इसी तत्त्व का वर्णन किया गया है। वेदों के कितने ही पारिभाषिक शब्दों का अर्थनिर्णय करना अत्यन्त कठिन काम है। उदाहरण के रूप में हम यहां 'वात' शब्द को ही लेते हैं। कभी-कभी तो इससे वायु का अर्थ निकलता है और कभी-कभी गति सूचित होती है। इन दोनों अर्थों में बहुधा लोगों को भ्रम हो जाता है। अतएव इस पर ध्यान रखना चाहिए। अच्छा, तो उस समय भूतों की क्या अवस्था होती है? शक्तियां सर्वभूतों में ओतप्रोत हैं। वे उस समय आकाश में लीन हो जाती हैं, इस आकाश से फिर भूतसमूहों की सृष्टि होती है। यह आकाश ही आदिभूत है। यही आकाश प्राण की शक्ति से स्पन्दित होता रहता है और हर नयी सृष्टि के साथ ज्यों-ज्यों प्राण का स्पन्दन द्रुत होता जाता है, त्यों-त्यों आकाश की तरंगें क्षुब्ध होती हुई चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि के आकार धारण करती जाती हैं। हम पढ़ते हैं, 'यदिदं किंच जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम।'(ऋग्वेद 10। 12।2।।) 'इस संसार में जो कुछ है, प्राण के कम्पित होने से निःसृत होता है।' यहां 'एजति' शब्द पर ध्यान दो; क्योंकि 'एज्' धातु का अर्थ है कांपना, 'निःसृतम' का अर्थ है प्रक्षिप्त और 'यादिदम किंच' का अर्थ है इस संसार में जो भी कुछ।

जगत्-प्रपंच की सृष्टि का यह थोड़ा-सा आभास दिया गया। इसके विषय में बहुत-सी छोटी-छोटी बातें कही जा सकती हैं। उदाहरणस्वरूप किस तरह सृष्टि होती है, किस तरह पहले आकाश की ओर आकाश से दूसरी वस्तुओं की सृष्टि होती है, आकाश में कम्पन होने पर वायु की उत्पत्ति कैसे होती है, आदि कितनी ही बातें कहनी पड़ेंगी। परन्तु यहां एक बात पर ध्यान रखना चाहिए, वह यह कि सूक्ष्मतर तत्त्व से स्थूलतर तत्त्व की उत्पत्ति होती है, सब से पीछे स्थूल भूत की सृष्टि होती है। यही बाह्यतम वस्तु है, और इसके पीछे सूक्ष्मतर भूत विद्यमान है। यहां तक विश्लेषण करने पर भी, हमने देखा कि सम्पूर्ण संसार केवल दो तत्त्वों में पर्यवसित किया गया है, अभी तक चरम एकत्व पर हम नहीं पहुंचे। शक्तित्व के एकत्व को प्राण और जड़तत्त्व के एकत्व को आकाश कहा गया है। क्या इन दोनों में भी कोई एकत्व पाया जा सकता है ? ये भी क्या एक तत्त्व में पर्यवसित किये जा सकते हैं ? हमारा आधुनिक विज्ञान यहां मूक है, वह किसी तरह की मीमांसा नहीं कर सका और यदि उसे इसकी मीमांसा करनी ही पड़े तो जैसे उसने प्राचीन पुरुषों की तरह आकाश और प्राणों का आविष्कार किया है, उसी तरह उनके मार्ग पर उसे आगे भी चलना होगा।

जिस एक तत्त्व से आकाश और प्राण की सृष्टि हुई है, वह सर्वव्यापी निर्गुण तत्त्व है, जो पुराणों में ब्रह्मा, चतुरानन, ब्रह्मा, के नाम से परिचित है और मनस्तत्त्व के अनुसार जिसको 'महत' भी कहा जाता है। यहीं उन दोनों तत्त्वों का मेल होता है। जिसे मन कहते हैं, वह मस्तिष्कजाल में फंसा हुआ उसी महत का एक छोटा-सा अंश है और मस्तिष्कजाल में फंसे हुए संसार के सामूहिक मनों का नाम समष्टिमहत् है। परन्तु विश्लेषण को आगे भी अग्रसर होना है, यह अब भी पूर्ण नहीं है। हममें से प्रत्येक मनुष्य मानो एक क्षुद्र ब्रह्माण्ड है और सम्पूर्ण जगत् बृहत् ब्रह्माण्ड है। जो कुछ व्यष्टि में हो रहा है वही समष्टि में भी होता है – 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।' यह बात सहज ही हमारी समझ में आ सकती है। यदि हम अपने मन का विश्लेषण कर सकते तो समष्टिमन में क्या होता है, इसका भी बहुत कुछ निश्चित अनुमान कर सकते। अब प्रश्न यह है कि यह मन है क्या चीज ? इस समय पाश्चात्य देशों में भौतिक विज्ञान की जैसी द्रुत उन्नति हो रही है और शरीरविज्ञान जिस तरह धीरे-धीरे प्राचीनधर्मों के एक के बाद दूसरे दुर्ग पर अपना अधिकार जमा रहा है, उसे देखते हुए पाश्चात्यवासियों को कोई टिकाऊ आधार नहीं मिल रहा है, क्योंकि आधुनिक शरीरविज्ञान में पद-पद पर मन की मस्तिष्क के साथ अभिन्नता देखकर वे बड़ी उलझन में पड़ गये हैं; परन्तु भारतवर्ष में हम लोग यह तत्त्व पहले ही से जानते हैं। हिन्दू बालक को पहले ही यह तत्त्व सीखना पड़ता है, इसके पश्चात् सूक्ष्म शरीर अथवा मन है। यह भी जड़ है, केवल सूक्ष्मतर जड़ है, परन्तु यह आत्मा नहीं।

मैं इस 'आत्मा' शब्द का अंग्रेजी में अनुवाद नहीं कर सकता; कारण, यूरोप में 'आत्मा' शब्द का द्योतक कोई भाव ही नहीं, अतएव इस शब्द का अनुवाद नहीं किया जा सकता। जर्मन दार्शनिक इस 'आत्मा' शब्द का सेल्फ (self) शब्द से अनुवाद करते हैं, परन्तु जब तक इस शब्द को सार्वभौम मान्यता प्राप्त न हो जाए, तब तक इसे व्यवहार में लाना असम्भव है। अतएव उसे सेल्फ कहो, चाहे कुछ और कहो, हमारी आत्मा के सिवा वह और कुछ नहीं है। यही आत्मा मनुष्य के भीतर का यथार्थ मनुष्य है। यही आत्मा जड़ को अपने यन्त्र के रूप में अथवा मनोविज्ञान की भाषा में कहो तो अपने अन्तःकरण के रूप में चलाती-फिराती है. और मन अन्तरिंद्रियों की सहायता से शरीर की दृश्यमान बाह्य-इंद्रियों पर काम करता है। अस्तु, यह मन है क्या ? अभी हाल में ही पाश्चात्य दार्शनिक यह जान सके हैं कि नेत्र वास्तव में दर्शनेन्द्रिय नहीं हैं, किन्तु यथार्थ इंद्रिय इनके पीछे वर्तमान है और यदि यह नष्ट हो जाए तो सहस्रलोचन इन्द्र की तरह चाहे मनुष्य की हजार आंखें हों, पर वह कुछ देख नहीं सकता। तुम्हारा दर्शन यह स्वतःसिद्ध सिद्धान्त लेकर आगे बढ़ताह है कि दृष्टि

का तात्पर्य वास्तव में बाह्य दृष्टि से नहीं, यथार्थ दृष्टि अन्तरिद्रिय की, भीतर रहनेवाले मस्तिष्क के केन्द्रसमूहो की है। तुम चाहे जिस नाम से पुकारो, परन्तु इंद्रिय शब्द से हमारी नाक, कान, आंखें नहीं सिद्ध होतीं; और इन इद्रियसमूहों की ही समष्टि, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के साथ मिलकर अंग्रेजी मे माण्इड (mind) नाम से पुकारी जाती है; और यदि आधुनिक शरीरवैज्ञानिक तुमसे आकर कहें कि मस्तिष्क ही माइण्ड (mind) है, और वह मस्तिष्क ही विभिन्न सूक्ष्म अवयवों से कठिन है, तो तुम्हारे लिए डरने का कोई कारण नहीं। उनसे तुम तत्काल कह सकते हो कि हमारे दार्शनिक बराबर यह बात जानते है, यह हमारे धर्म के प्रथम मुख्य सिद्धान्तों में से एक है।

खैर, इस समय तुम्हे समझाना होगा कि मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, आदि शब्दों के क्या अर्थ हैं। सब से पहले हम चित्त की मीमांसा करे। चित्त वास्तव मे अन्त.करण का मूल उपादान है, यह महत् का ही अंश है। विभिन्न अवस्थाओं के साथ मन का ही एक साधारण नाम चित्त है। उदाहरणार्थ ग्रीष्मकाल की उस स्थिर और शान्त झील को लो जिस पर एक भी तरंग नहीं है। सोचो, किसी ने उस पर एक पत्थर फेंका, तो उससे क्या होगा ? पहले, पानी पर जो आघात किया गया उससे एक क्रिया हुई, इसके पश्चात् पानी उठकर पत्थर की ओर प्रतिक्रिया करने लगा और उसी प्रतिक्रिया ने तरंग का आकार धारण किया। पहले-पहल पानी जरा कांप उठता है, उसके बाद ही तरंग के आकार में प्रतिक्रिया होती है। इस चित्त को झील की तरह समझो और बाहरी वस्तुए उस पर फेके गये प्रस्तरखण्ड हैं। जब कभी वह इंद्रियों की सहायता से किसी बहिर्वस्तु के संस्पर्श में आता है, बहिर्वस्तुओ को भीतर ले जाने के लिए इन इद्रियो की जरूरत होती है, तभी एक कम्पन उत्थित होता है। वह मन है — संकल्प-विकल्पात्मक। इसके बाद ही एक प्रतिक्रिया होती है, वह निश्चयात्मिका बुद्धि है और इस बुद्धि के साथ-साथ अहंज्ञान और बाहरी वस्तु का बोध पैदा होता है। जैसे हमारे हाथ पर मच्छर ने बैठकर डंक मारा, संवेदना हमारे चित्त तक पहुंची, चित्त जरा कांप उठा — हमारे मनोविज्ञान के मत से वही मन है। इसके बाद एक प्रतिक्रिया उठी और साथ ही साथ हमारे भीतर यह भाव पैदा हुआ कि हमारे हाथ में मच्छर काट रहा है, इसे भगाना चाहिए। इसी प्रकार झील में पत्थर फेंके जाते हैं। परन्तु इतना जरूर समझना होगा कि झील पर जितने आघात होते हैं, सब बाहर से आते हैं, परन्तु मन की झील में बाहर से भी आघात आ सकते हैं और भीतर से भी। चित्त और उसकी इन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का नाम ही अन्तःकरण है।

पहले जो कुछ कहा गया उसके साथ और भी बात समझनी होगी। उससे अद्वैतवाद समझने में हम लोगो को विशेष सुविधा होगी। तुममें से प्रत्येक ने मोती

अवश्य ही देखा होगा और तुममें से अनेक को मालूम भी होगा कि यह किस तरह बनता है। सीप (शक्ति) के भीतर धूलि अथवा बालुका की कणिका पकड़कर उसे उत्तेजित करती रहती है और सीप इस उत्तेजना की प्रतिक्रिया करते हुए उस छोटी-सी बालू की रज को अपने शरीर से निकले हुए रस से ढकती रहती है। वही कणिका एक निर्दिष्ट आकार को प्राप्त कर मोती के रूप में परिणत होती है। यह मोती जिस तरह निर्मित होता है, हम सम्पूर्ण संसार को उसी तरह निर्मित करते हैं। बाहरी संसार से हम केवल आघात पाते हैं। यहां तक कि उस आघात के प्रति सचेत होने में भी हमें अपने भीतर से ही प्रतिक्रिया करनी पड़ती है। जब हम प्रतिक्रियाशील होते हैं, तब वास्तव में हम अपने मन के अंशविशेष को ही उस आघात के प्रति प्रक्षेपित करते हैं और जब हमें उसकी जानकारी होती है, तब वह और कुछ नहीं, उस आघात से आकार प्राप्त हमारा अपना मन ही होता है। जो लोग बहिर्जगत् की यथार्थता पर विश्वास करना चाहते हैं, उन्हें यह बात माननी पड़ेगी और आजकल इस शरीरविज्ञान की उन्नति के दिनों में इस बात को बिना माने दूसरा उपाय ही नहीं है। यदि बहिर्जगत् को हम 'क' मान लें तो वास्तव में हम 'क + मन' को ही जानते हैं और इस जानकारी के भीतर मन का भाग इतना अधिक है कि उसने 'क' को सर्वांशत: ढक लिया है; और उस 'क' का यथार्थ रूप वास्तव में सदैव अज्ञात और अज्ञेय है। अतएव यदि बहिर्जगत् के नाम से कोई वस्तु हो भी तो वह सदैव अज्ञात और अज्ञेय है। हमारे मन के द्वारा वह जिस सांचे में ढाल दी जाती है, जिस रूप में गठित होती है, हम उसको उसी रूप में जानते हैं। अन्तर्जगत् के सम्बन्ध में भी यही बात है। हमारी आत्मा के सम्बन्ध में भी यह बात बिलकुल सच उतरती है। हम आत्मा को जानना चाहें तो उसे भी अपने मन के भीतर से समझेंगे; अत: हम आत्मा के सम्बन्ध में जो कुछ जानते हैं, वह 'आत्मा + मन' के सिवा और कुछ नहीं। अर्थात् मन ही के द्वारा आवृत, मन ही के द्वारा गठित आत्मा को हम जानते हैं। इस तत्त्व के सम्बन्ध में हम आगे चलकर कुछ और विवेचना करेंगे, यहां हमें इतना ही स्मरण रखना होगा।

इसके पश्चात् हमें जो विषय समझना है, वह यह है कि यह देह एक निरवच्छिन्न जड़प्रवाह का नाम है। प्रतिक्षण हम इसमें नये-नये पदार्थ जोड़ रहे हैं, फिर प्रतिक्षण इससे कितने ही पदार्थ निकलते जा रहे हैं। जैसे एक निरन्तर बहती हुई नदी है, उसकी सलिलराशि सदा ही एक स्थान से दूसरे स्थान को जा रही है, फिर भी हम अपनी कल्पना के बल से उसके समस्त अंशों को एक ही वस्तु मानकर उसे एक ही नदी कहते हैं। परन्तु वास्तव में नदी है क्या ? प्रतिक्षण नया पानी आ रहा है, प्रतिक्षण उसकी तटभूमि परिवर्तित हो रही है, प्रतिक्षण सारा वातावरण परिवर्तित होता जा रहा

है। तब नदी है क्या ? वह इसी परिवर्तन-समष्टि का नाम है। मन के सम्बन्ध में भी यही बात है बौद्धों ने इस सदा ही होनेवाले परिवर्तन को लक्ष्य करके महान् क्षणिक विज्ञानवाद की रचना की थी। उसे ठीक-ठीक समझना बड़ा कठिन काम है। परन्तु बौद्ध दर्शनों में यह मत सुदृढ़ युक्तियों द्वारा समर्थित और प्रमाणित हुआ है। भारत में यह वेदान्त के किसी-किसी अंश के विरोध में उठ खड़ा हुआ था। इस मत को निरस्त करने की जरूरत आ पड़ी और हम आगे देखेंगे, इस मत का खण्डन करने में केवल अद्वैतवाद ही समर्थ हुआ और कोई मत नहीं। आगे चलकर हम यह भी देखेंगे कि अद्वैतवाद के सम्बन्ध में लोगों की अनेक विचित्र धारणाएं होने पर भी और अद्वैतवाद से लोगों के भयभीत होने पर भी, वास्तव में संसार का कल्याण इसी से होता है, कारण इस अद्वैतवाद से ही सब प्रकार की समस्याओं का उत्तर मिलता है। द्वैतवाद और दूसरे जितने 'वाद' हैं उपासना आदि के लिए बहुत अच्छे हैं, उनसे मन को बड़ी तृप्ति होती है और हो सकता है कि उनसे मन के उच्च पथ पर बढ़ने में सहायता मिलती हो, परन्तु यदि कोई तर्कसंगत एवं धर्मपरायण होना चाहे तो उसके लिए एकमात्र गति अद्वैतवाद ही है। अस्तु, मन को भी देह की तरह किसी नदी के सदृश समझना चाहिए। वह भी सदा एक ओर खाली और दूसरी ओर पूर्ण हो रहा है। परन्तु वह एकत्व कहां है, जिसे हम आत्मा कहते हैं ? हम देखते हैं कि हमारी देह और मन में इस तरह सदा ही परिवर्तन होने पर भी हमारे भीतर कोई ऐसी वस्तु है, जो अपरिवर्तनीय है, जिसके कारण हमारी वस्तु-विषयक धारणाएं अपरिवर्तनीय हैं। जब विभिन्न दिशाओं में आलोकरश्मियां किसी यवनिका या दीवार अथवा किसी दूसरी अचल वस्तु पर पड़ती हैं, केवल तभी उनके लिए एकता-स्थापन सम्भव होता है, केवल तभी वे एक अखण्ड भाव का निर्माण कर सकती हैं। मनुष्य के विभिन्न शारीरिक अवयवों में वह एकत्व कहां है, जिस पर पहुंचकर विभिन्न भावराश्मियां एकत्व और पूर्ण अखण्डत्व को प्राप्त हो सकें ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह वस्तु कभी मन नहीं हो सकती, क्योंकि वह परिवर्तनशील है। इसलिए अवश्य वह ऐसी वस्तु है जो न देह है, न मन है, जिसमें कभी परिवर्ततन नहीं होता, जिसमें आकर हमारे समस्त भाव, बाहर के समस्त विषय एक अखण्ड भाव में परिणत हो जाते हैं – यही वास्तव में हमारी आत्मा है और जब कि हम देख रहे हैं कि सम्पूर्ण जड़पदार्थ – जिसे तुम सूक्ष्म जड़ अथवा मन, चाहे जिस नाम से पुकारो – परिवर्तनशील है और जब कि सम्पूर्ण स्थूल जड या बाह्य-जगत् भी परिवर्तनशील है, तो यह अपरिवर्तनीय वस्तु (आत्मा) कदापि जड़पदार्थ नहीं हो सकती, अतएव वह चेतनस्वभाव, अविनाशी और अपरिवर्तनशील है।

इसके बाद एक दूसरा प्रश्न उठता है। यह प्रश्न बहिर्जगत्-सम्बन्धी पुराने

सृष्टिरचनावादों (Design Theories) से भिन्न है। इस संसार को देखकर इसकी सृष्टि की, किसने जड़पदार्थ बनाया, आदि प्रश्नों से जिस सृष्टिरचनावाद की उत्पत्ति होती है, मैं उसकी बात नहीं कहता। मनुष्य की भीतरी प्रकृति से सत्य को जानना यही मुख्य बात है। आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में जिस तरह प्रश्न उठा था, यहां भी ठीक उसी तरह प्रश्न उठ रहा है। यदि यह ध्रुव सत्य माना जाए कि प्रत्येक मनुष्य में शरीर और मन से पृथक् एक अपरिवर्तनीय आत्मा विद्यमान है, तो यह भी मानना पड़ता है कि इन आत्माओं के भीतर धारणा, भाव और सहानुभूति की एकता विद्यमान है। अन्यथा हमारी आत्मा तुम्हारी आत्मा पर कैसे प्रभाव डाल सकती है ? परन्तु आत्माओं के बीच में रहनेवाली वह कौन-सी वस्तु है जिसके भीतर से एक आत्मा दूसरी आत्मा पर कार्य कर सकती है ? वह माध्यम कहां है, जिसके द्वारा वह क्रियाशील होती है। मैं तुम्हारी आत्मा के बारे में किस प्रकार कुछ भी अनुभव कर सकता हूं ? वह कौन-सी वस्तु है, जो हमारी और तुम्हारी आत्मा में संलग्न है ? अतः यहां एक दूसरी आत्मा के मानने की दार्शनिक आवश्यकता प्रतीत होती है; क्योंकि वह आत्मा सम्पूर्ण भिन्न-भिन्न आत्माओं और जड़ वस्तुओं के भीतर से अपना कार्य करती है, वह संसार की असंख्य आत्माओं में ओतप्रोत भाव से विद्यमान रहती है; उसी की सहायता से दूसरी आत्माओं में जीवनीशक्ति का संचार होता है, एक आत्मा दूसरी आत्मा को प्यार करती है, एक-दूसरे से सहानुभूति रखती है, या एक-दूसरे के लिए कार्य करती है। इसी सर्वव्यापी आत्मा को परमात्मा कहते हैं। वह सम्पूर्ण संसार का प्रभु है, ईश्वर है; और जब कि आत्मा जडपदार्थ से नहीं बनी, जब कि वह चेतनस्वरूप है, तो वह जड़ के नियमों का अनुसरण नहीं कर सकती – उसका विचार जड़ के नियमानुसार नहीं किया जा सकता। अतएव वह अजेय, अजन्मा, अविनाशी तथा अपरिणामी है।

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
> न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।
> नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।
>
> –गीता 2। 23-24।।

– "इस आत्मा को न आग जला सकती है, न कोई शस्त्र इसे छेद सकता है, न वायु इसे सुखा सकती है, न पानी गीला कर सकता है, यह आत्मा नित्य, सर्वगत, कूटस्थ और सनातन है।" गीता और वेदान्त के अनुसार जीवात्मा विभु है, कपिल के मत में यह सर्वव्यापी है। यह सच है कि भारत में ऐसे अनेक सम्प्रदाय हैं जिनके मतानुसार यह जीवात्मा अणु है; किन्तु उनका यह भी मत है कि आत्मा का यथार्थ स्वरूप विभु है, केवल व्यक्त अवस्था में ही वह अणु है।

इसके बाद एक दूसरे विषय की ओर ध्यान देना चाहिए। बहुत सम्भव है, यह तुम्हें आश्चर्यजनक प्रतीत हो, परन्तु यह तत्त्व भी विशेष रूप से भारतीय है और हमारे सभी सम्प्रदायों में वह सामान्य रूप से विद्यमान है। इसीलिए मैं तुमसे इस तत्त्व की ओर ध्यान देने और उसे याद रखने का अनुरोध करता हूं, कारण, यह सभी भारतीय विषयो की बुनियाद है। पाश्चात्य देशों में जर्मन और अंग्रेज विद्वानों द्वारा प्रचारित भौतिक विकासवाद का सिद्धान्त तुम लोगों ने सुना होगा। इस मत के अनुसार वास्तव में सभी प्राणियों के शरीर अभिन्न हैं। जो भेद हम देखते है वे एक ही शृंखला की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियां मात्र हैं, और क्षुद्रतम कीट से लेकर श्रेष्ठतम साधु तक सभी वास्तव में एक हैं, एक ही दूसरे में परिणत हो रहा है, तथा इसी तरह चलते हुए क्रमशः उन्नत होकर जीव पूर्णत्व प्राप्त कर रहे हैं। यह सिद्धान्त परिणामवाद के नाम से हमारे शास्त्रों में भी विद्यमान है। योगी पतंजलि कहते हैं, 'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्।' –(पातंजल योगसूत्र 4।2।।) – "एक जाति, एक श्रेणी दूसरी जाति, दूसरी श्रेणी में परिणत होती है।'' 'परिणाम' का अर्थ है एक वस्तु का दूसरी वस्तु में परिवर्तित होना। परन्तु यहा यूरोपवालों से हमारा मतभेद कहां पर होता है ? पतंजलि कहते हैं, 'प्रकृत्यापूरात्' – प्रकृति के आपूरण से। यूरोपीय कहते हैं कि प्रतिद्वन्द्विता, प्राकृतिक और यौननिर्वाचन आदि ही एक प्राणी को दूसरे प्राणी का शरीर ग्रहण करने के लिए बाध्य करते हैं। परन्तु हमारे शास्त्रों में इस 'जात्यन्तरपरिणाम' का जो कारण बतलाया गया है, उसे कहते हुए यही कहना पडता है कि यहांवालों ने यूरोपीयों से और भी अच्छा विश्लेषण किया है – इन्होंने वहां वालों से और भी गहरे पहुचंने की कोशिश की है। ये कहते हैं, 'प्रकृत्यापूरात्' – प्रकृति के आपूरण से। इसका क्या अर्थ है ? हम यह मानते हैं कि जीवाणु क्रमशः उन्नत होते हुए बुद्ध बन जाता है। किन्तु साथ ही हमारी यह भी दृढ धारणा है कि किसी यन्त्र में यदि किसी न किसी तरह की शक्ति यथोचित मात्रा में न भर दी जाए तो उस यंत्र से तदनुरूप कार्य सम्भव नहीं हो सकता। उस शक्ति का विकास चाहे जिस किसी रूप में हो, पर शक्तिसमष्टि की मात्रा सदा एक ही रहती है। यदि तुम्हें एक प्रान्त में शक्ति का विकास देखना है तो दूसरे प्रान्त में उसका प्रयोग करना होगा – वह शक्ति किसी दूसरे आकार में प्रकाशित भले ही हो, परन्तु उसका परिणाम एक होना ही चाहिए। अतएव बुद्ध यदि परिणाम का एक प्रान्त हो तो दूसरे प्रान्त का जीवाणु अवश्य ही बुद्ध के सदृश होगा। यदि बुद्ध क्रम-विकसित परिणत जीवाणु हो तो वह जीवाणु भी क्रमसंकुचित (अव्यक्त) बुद्ध ही है। यदि यह ब्रह्माण्ड अनन्त-शक्ति का व्यक्त रूप हो तो जब इस ब्रह्माण्ड में प्रलय की अवस्था होती है, तब भी दूसरे किसी आकार में उसी अनन्त-शक्ति की विद्यमानता

स्वीकारनी पड़ेगी। इससे अन्यथा कुछ भी नहीं हो सकता। अतएव यह निश्चित है कि हर आत्मा अनन्त है। हमारे पैरों तले रेंगते रहनेवाले क्षुद्र कीट से लेकर महत्तम और उच्चतम साधु तक सब में वह अनन्त-शक्ति, अनन्त-पवित्रता और सभी गुण अनन्त परिमाण में मौजूद हैं। भेद केवल अभिव्यक्ति की न्यूनाधिक मात्रा में ही है। कीट में उस महाशक्ति का थोड़ा ही विकास पाया जाता है, तुममें उससे भी अधिक, और किसी दूसरे देवोत्पम पुरुष में तुमसे भी कुछ अधिक शक्ति का विकास हुआ है; भेद बस, इतना ही है, परन्तु है सभी में वही एक शक्ति। पतंजलि कहते हैं, 'ततः क्षेत्रिकवत्' –(पातंजल योगसूत्र 4।3।।) – 'किसान जिस तरह अपने खेत में पानी भरता है।' किसी जलाशय से वह अपने खेत का एक कोना काटकर पानी ला रहा है। जल के वेग से खेत के बह जाने के भय से वह नाली का मुंह बन्द रखता है। जब पानी की जरूरत पड़ती है, तब वह बांध खोल देता है, और पानी अपनी ही शक्ति उसमें भर जाता है। पानी आने से वेग को बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह जलाशय के जल में पहले ही से विद्यमान है। इसी तरह हममें से प्रत्येक के पीछे अनन्त-शक्ति, अनन्त-पवित्रता, अनन्त-सत्ता, अनन्त-वीर्य, अनन्त-आनन्द का भण्डार परिपूर्ण है, केवल यह द्वार – यही देहरूपी बांध या द्वार – हमारे वास्तविक रूप के पूर्ण विकास में बाधा पहुंचाता है।

इस देह का संगठन जितना ही उन्नत होता जाता है, जितना ही तमोगुण राजोगुण में और रजोगुण सत्त्वगुण में परिणत होता है, यह शक्ति और शुद्धता उतनी ही प्रकट होती रहती है; और इसीलिए भोजन-पान के सम्बन्ध में हम इतना सावधान रहते हैं। यह सम्भव है कि हम लोग मूलतत्त्व भूल गये हों, जैसे हम अपनी विवाहप्रथा के सम्बन्ध में कह सकते हैं। यह विषय यद्यपि यहां अप्रासंगिक है, फिर भी हम दृष्टान्त के तौर पर यहां इसका जिक्र कर सकते हैं। यदि कोई दूसरा अवसर मिलेगा तो मैं इन विषयों पर विशेष रूप से चर्चा करूंगा, परन्तु इस समय मैं तुमसे इतना ही कहता हूं कि जिन मूल भावों से हमारी विवाहप्रथा का प्रचलन हुआ है, उनको ग्रहण करने से ही यथार्थ सभ्यता का संचार हो सकता है, किसी दूसरे उपाय से कदापि नहीं। यदि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को जिस किसी पुरुष या स्त्री को पति अथवा पत्नी के रूप में ग्रहण करने की स्वाधीनता दे दी जाए, यदि व्यक्तिगत सुख, पार्शव प्रकृति की परितृप्ति, समाज में बिना किसी बाधा के संचारित होती रहे, तो उसका फल अवश्य ही अशुभ होगा। उससे दुष्ट प्रकृति और असुर स्वभाव की सन्तान उत्पन्न होगी। सभी देशों में एक ओर मनुष्य इस तरह की पशुप्रकृति की सन्तान उत्पन्न कर रहे हैं, दूसरी ओर इनके दमन के लिए पुलिस की संख्या बढ़ा रहे हैं। इस तरह की सामाजिक व्याधि के

प्रतिकार की चेष्टा में कोई फल नहीं होता, बल्कि समाज में इन दोषों की उत्पत्ति को कैसे रोका जाए, सन्तानों की सृष्टि किस उपाय में हो, तब तक तुम्हारे विवाह का प्रभाव समाज के सभी मनुष्यों पर अवश्य ही पड़ेगा; अतएव तुम्हें किस तरह विवाह करना चाहिए, किस तरह का नहीं, इस पर तुम्हें आदेश देने का अधिकार समाज को है। भारतीय विवाहप्रथा के पीछे इसी तरह के ऊंचे भाव हैं। जन्मपत्रों में वर-कन्या के जो जाति, गण आदि लिखे रहते हैं, अब भी उन्हीं के अनुसार हिन्दू समाज में विवाह होते हैं और प्रसंग के अनुसार मैं यह भी कहना चाहता हूं कि मनु के मत में कामोद्भूत -पुत्र आर्य नहीं है। गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यंत जिस सन्तान के संस्कार वैदिक विधि के अनुसार हों, वही वास्तव में आर्य है। आजकल सभी देशों में ऐसी आर्य सन्तान बहुत कम पैदा होती है; और इसी का फल है कि कलियुग नाम की दोषराशि की उत्पत्ति हो रही है। हम प्राचीन महान् आदर्शों को भूल गये हैं। यह सच है कि हम लोग इस समय इन भावों को पूर्ण रूप से कार्य में परिणत नहीं कर सकते; यह भी सम्पूर्ण सत्य है कि हम लोगों ने इन सब महान् भावों में से कुछ को हास्यास्पद बना डाला है। यह बिलकुल सच है और शोक का विषय है कि आजकल प्राचीनकाल के से पिता-माता नहीं हैं, समाज भी अब पहले जैसा शिक्षित नहीं है और प्राचीन समाज में जिस तरह समाज के सभी लोगों के प्रति प्रेम रहता था, अब वैसा नहीं रहता; किन्तु व्यावहारिक रूप में दोषों के आ जाने पर भी वह मूलतत्त्व बडे ही महत्त्व का है; और यदि उसका कार्यान्वित होना सदोष है, यदि इसके लिए कोई खास तरीका असफल हुआ है, तो उसी मूलतत्त्व को लेकर ऐसी चेष्टा करनी चाहिए, जिससे वह अच्छी तरह काम में आ सके। मूलतत्त्व के नष्ट करने की चेष्टा क्यों ? भोजन-सम्बन्धी समस्या के लिए भी यही बात है। वह तत्त्व भी जिस तरह काम में लाया जा रहा है, वह निःसन्देह बहुत ही खराब है; किन्तु इसमें उस तत्त्व का कोई दोष नहीं। वह सनातन है, वह सदा ही रहेगा, ऐसा पुनः प्रयत्न करो जिससे वह तत्त्व ठीक-ठीक भाव से काम में लाया जा सके।

भारत में हमारे सभी सम्प्रदायों को आत्मा-सम्बन्धी इस तत्त्व पर विश्वास करना पड़ता है। केवल द्वैतवादी कहते हैं जैसा हम आगे विचार करेंगे, असत् कर्मों से वह संकुचित हो जाती है, उसकी सम्पूर्ण शक्ति और स्वभाव संकोच को प्राप्त हो जाते हैं, फिर सत्कर्म करने से उस स्वभाव का विकास होता है; और अद्वैतवादी कहते हैं, आत्मा का न कभी संकोच होता है, न विकास, इस तरह होने की प्रतीति मात्र होती है। द्वैतवादी और अद्वैतवादियों में बस इतना ही भेद है; परन्तु यह बात सभी मानते हैं कि हमारी आत्मा में पहले ही से सम्पूर्ण शक्ति विद्यमान है, ऐसा नहीं कि कुछ बाहर

से आत्मा में आए या कोई चीज इसमें आसमान से टपक पड़े। ध्यान देने योग्य बात है कि तुम्हारे वेद प्रेरित (inspired) नहीं हैं, ऐसे नहीं कि वे बाहर से भीतर जा रहे हैं, किन्तु अन्तःस्फुरित (expired) हैं, अर्थात् भीतर से बाहर आ रहे हैं – वे सनातन नियम हैं जिनकी अवस्थिति हर आत्मा में है। चींटी से लेकर देवता तक सब की आत्मा में वेद अवस्थित हैं। चींटी को केवल विकसित होकर ऋषिशरीर प्राप्त करना है; तभी उसके भीतर वेद अर्थात् सनातन तत्त्व प्रकाशित होगा। इस महान् भाव को समझने की आवश्यकता है कि हमारी शक्ति पहले ही से हमारे भीतर मौजूद है – मुक्ति पहले ही से हममें है। उसके लिए इतना कह सकते हो कि वह संकुचित हो गयी है, अथवा माया के आवरण से आवृत हो गयी है, परन्तु इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता। पहले ही से वह वहीं मौजूद है, यह तुम्हें समझ लेना होगा। इस पर तुम्हें विश्वास करना होगा – विश्वास करना होगा कि बुद्ध के भीतर जो शक्ति है, वह एक छोटे से छोटे मनुष्य में भी है। यह हिन्दुओं का आत्मतत्त्व है।

परन्तु यहीं बौद्धों के साथ महाविरोध खड़ा हो जाता है। वे देह का विश्लेषण करके उसे एक जड़स्रोत मात्र कहते हैं और उसी तरह मन का विश्लेषण करके उसे भी एक दूसरा जड़प्रवाह बतलाते हैं। आत्मा के सम्बन्ध में वे कहते हैं, यह अनावश्यक है और उसके अस्तित्त्व की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं। किसी द्रव्य और उससे संलग्न गुणराशि की कल्पना का क्या काम ? हम लोग शुद्ध गुण ही मानते हैं। जहां सिर्फ एक कारण मान लेने पर सब विषयों की व्याख्या हो जाती है, वहां दो कारण मानना युक्तिसंगत नहीं है। इसी तरह बौद्धों के साथ विवाद छिड़ा, और जो मत द्रव्यविशेष का अस्तित्व मानते थे, उनका खण्डन करके बौद्धों ने उनको धूल में मिला दिया। जो द्रव्य और गुण दोनों का अस्तित्व मानते हैं, जो कहते हैं – 'तुममें एक अलग आत्मा है, हममें एक अलग, प्रत्येक के शरीर और मन से अलग एक-एक आत्मा है, प्रत्येक का एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व है' – उनकी तर्कपद्धति में पहले ही से कुछ त्रुटि थी।

यहां तक तो द्वैतवाद का मत ठीक है, हम पहले ही देख चुके हैं कि यह शरीर है, यह सूक्ष्म मन है, यह आत्मा है और सब आत्माओं में है वह परमात्मा। यहां मुश्किल इतनी ही है कि आत्मा और परमात्मा दोनों ही द्रव्य बतलाये जा रहे हैं और देह-मन आदि तथाकथित द्रव्य उनसे गुणवत् संलग्न हैं, ऐसा स्वीकार किया जा रहा है। अब बात यह है कि किसी ने कभी जिस द्रव्य को नहीं देखा, उसके सम्बन्ध में वह कभी विचार नहीं कर सकता। अतः वे कहते हैं, ऐसी दशा में इस तरह के द्रव्य के मानने की जरूरत क्या है ? तो फिर क्षणिक विज्ञानवादी क्यों नहीं हो जाते और क्यों नहीं कहते कि मानसिक तरंगों के सिवा और किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं ?

– उसमे से कोई एक दूसरी से मिली हुई नहीं, वे आपस में मिलकर एक वस्तु नहीं हुई, समुद्र की तरंगों की तरह वे एक दूसरी के पीछे-पीछे चली आ रही हैं, वे कभी भी सम्पूर्ण नहीं, वे कभी एक अखण्ड इकाई नहीं बनातीं। मनुष्य बस इसी तरह की तरग परम्परा है – जब एक तरंग चली जाती है, तब दूसरी तरंग पैदा कर जाती है, ऐसा ही चलता रहता है और इन्हीं तरंगों की निवृत्ति को निर्वाण कहते है। तुम देखते हो, इसके सामने द्वैतवाद मूक है; यह असम्भव है कि वह इसके विरुद्ध कोई युक्ति दे सके, और द्वैतवाद का ईश्वर भी यहां नहीं टिक सकता। जो सर्वव्यापी है तथा व्यक्तिविशेष है, बिना हाथों के संसार की सृष्टि करता है – उसके लिए बौद्ध कहते है, इस तरह की कल्पना बच्चों की जैसी है और यदि ईश्वर इस तरह का है तो वे उस ईश्वर के साथ विरोध करने को तैयार हैं, उसकी उपासना करने की अभिलाषी नहीं। यह संसार दु:ख से परिपूर्ण है; यदि यह ईश्वर का काम हो तो बौद्ध कहते है, हम इस तरह के ईश्वर के साथ लडने को तैयार हैं, और दूसरे, इस तरह के ईश्वर का अस्तित्व अयौक्तिक और असम्भव है। सृष्टिरचनावाद (Design Theory) की त्रुटियों पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है, क्योकि क्षणिक विज्ञानवादियों ने उनके सम्पूर्ण युक्तिजाल का खण्डन कर डाला है। अतएव वैयक्तिक ईश्वर नहीं टिक सकता।

सत्य, एकमात्र सत्य अद्वैतवादियो का लक्ष्य है। 'सत्यमेव जयते नानृतम्। सत्येन पन्था विततो देवयान:। –(मुण्डकोपनिषद् 3।1।6।।) – "सत्य ही की विजय होती है, मिथ्या की कभी विजय नहीं मिलती, सत्य से ही देवयानमार्ग की प्राप्ति होती है।" सत्य की पताका सभी उडाया करते है, किन्तु यह केवल दुर्बलो को पददलित करने के लिए। तुम अपने ईश्वर विषयक द्वैतवादात्मक विचार लेकर किसी बेचारे प्रतिमापूजक के साथ विवाद करने जा रहे हो; सोच रहे हो, तुम बडे युक्तिवादी हो, उसे अनयास ही परास्त कर सकते हो; परन्तु यदि वह उल्टे तुम्हारे ही वैयक्तिक ईश्वर को उडा दे – उसे काल्पनिक कहे, तो फिर तुम्हारी क्या दशा हो ? तब तुम धर्म की दुहाई देने लगते हो, अपने प्रतिद्वन्द्वी को नास्तिक नाम से पुकारकर चिल्ल-पों मचाने लगते हो, और यह तो दुर्बल मनुष्यों का सदा ही नारा रहा है – जो मुझे परास्त करेगा वह घोर नास्तिक है। यदि युक्तिवादी होना चाहते हो तो आदि से अन्त तक युक्तिवादी ही बने रहो, और अगर न रह सको तो तुम अपने लिए जितनी स्वाधीनता चाहते हो, उतनी ही दूसरे को भी क्यों नहीं देते ? तुम इस तरह के ईश्वर का अस्तित्व कैसे प्रमाणित करोगे ? दूसरी ओर, वह प्राय: अप्रमाणित किया जा सकता है। ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे रंचमात्र प्रमाण नहीं, बल्कि नास्तित्व के सम्बन्ध में कुछ अति प्रबल प्रमाण हैं भी। तुम्हारा ईश्वर, उसके गुण, द्रव्यस्वरूप असंख्य जीवात्मा, हर जीवात्मा का एक व्यष्टिभाव, इन सब को

लेकर तुम उसका अस्तित्व कैसे प्रमाणित कर सकते हो ? तुम व्यक्ति हो किस विषय में ? देह के सम्बन्ध में तुम व्यक्ति ही नहीं, क्योंकि इस समय प्राचीन बौद्धों की अपेक्षा तुम्हें और अच्छी तरह मालूम है कि जो जड़राशि कभी सूर्य में रही होगी, वही तुममें आ गयी है, और वही तुम्हारे भीतर से निकलकर वनस्पतियों में चली जा सकती है। इस तरह तुम्हारा व्यक्तित्व कहां रह जाता है ? तुम्हारे भीतर आज रात एक तरह का विचार है तो कल सुबह दूसरी तरह का। तुम उसी रीति से अब विचार नहीं करते जिस रीति से बचपन में करते थे; कोई व्यक्ति अपनी युवावस्था में जिस ढंग से विचार करता था, वैसे वृद्धावस्था में नहीं करता। तो फिर तुम्हारा व्यक्तित्व कहां रह जाता है ? यह मत कहो कि ज्ञान में ही तुम्हारा व्यक्तित्व है – ज्ञान अंहकार मात्र है और यह तुम्हारे यथार्थ अस्तित्व के एक बहुत छोटे अंश में व्याप्त है। जब मैं तुमसे बातचीत करता हूं, तब मेरी सभी इन्द्रियां काम करती रहती हैं, परन्तु उनके सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं जान सकता। यदि वस्तु की सत्ता का प्रमाण ज्ञान ही हो तो कहना पड़ेगा कि उनका (इन्द्रियों का) अस्तित्व नहीं है, क्योंकि मुझे उनके अस्तित्व का ज्ञान नहीं रहता। तो अब तुम अपने वैयक्तित्व ईश्वर-सम्बन्धी सिद्धान्तों को लेकर कहां रह जाते हो ? इस तरह का ईश्वर को तुम कैसे प्रमाणित कर सकते हो ?

फिर और बौद्ध खड़े होकर यह घोषणा करेंगे कि यह केवल अयौक्तिक ही नहीं, वरन् अनैतिक भी है, क्योंकि वह मनुष्य को कापुरुष बन जाना और बाहर से सहायता लेने की प्रार्थना करना सिखलाता है – इस तरह कोई भी तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता। यह जो ब्रह्माण्ड है इसका निर्माण मनुष्य ने ही किया है। तो फिर बाहर क्यों एक काल्पनिक व्यक्तिविशेष पर विश्वास करते हो जिसे न कभी किसी ने देखा, न जिसका कभी अनुभव किया अथवा जिससे न कभी किसी को कोई सहायता मिली ? क्यों फिर अपने को कापुरुष बना रहे हो और अपनी सन्तानों को सिखलाते हो कि कुत्ते की तरह हो जाना मनुष्य की सर्वोच्च अवस्था है और चूंकि हम कमजोर, अपवित्र और संसार में अत्यन्त हेय और अधम हैं, इसलिए इस काल्पनिक सत्ता के सामने घुटने टेककर बैठ जाना चाहिए ? दूसरी ओर, बौद्ध तुमसे कहेंगे, तुम अपने को इस तरह कहकर केवल झूठ ही नहीं कहते, किन्तु तुम अपनी सन्तानों के लिए घोर पाप का संचय करते हो; क्योंकि, स्मरण रहे, यह संसार एक प्रकार का सम्मोहन है, मनुष्य जैसा सोचते हैं, वैसे ही हो जाते हैं। अपने सम्बन्ध में तुम जैसा कहोगे, वैसे ही बन जाओगे। भगवान बुद्ध की पहली बात यह है – 'तुमने अपने सम्बन्ध में जो कुछ सोचा है, तुम वही हुए हो; भविष्य में जो कुछ सोचोगे वैसे ही होगे, या जब तक तुम किसी दूसरे की, जो यहां नहीं रहता, स्वर्ग में रहता है, सहायता नहीं पाते, तब तक कुछ नहीं कर सकते। इस तरह

सोचने से उसका फल यह होगा कि तुम प्रतिदिन अधिकाधिक कमजोर होते जाओगे। 'हम महा अपवित्र हैं हे प्रभो, हमें प्रवित्र करो' — इसका परिणाम होगा कि तुम अपने को हर प्रकार के पापों के लिए विवश कर दोगे। बौद्ध कहते हैं, हर समाज में जिन पापों को देखते हो उसमें नब्बे प्रतिशत बुराइयां इसी वैयक्तिक ईश्वर की धारणा के कारण उत्पन्न हुई हैं, मनुष्यजीवन का, अद्भुत मनुष्यजीवन का, एकमात्र उद्देश्य एवं लक्ष्य अपने को कुत्ते की तरह बना डालना — यह मनुष्य की एक भयानक धारणा है। बौद्ध वैष्णवों से कहते हैं, यदि तुम्हारा आदर्श, तुम्हारे जीवन का लक्ष्य और उद्देश्य भगवान के वैकुण्ठ नामक स्थान में जाकर अनन्तकाल तक हाथ जोडकर उनके सामने खडा रहना ही है तो इससे आत्म-हत्या कर डालना अधिक अच्छा है। बौद्ध यहां तक कह सकते हैं, कि इस भाव से बचने के लिए ही वे निर्वाण या विनाश की चेष्टा कर रहे हैं। मैं तुम लोगों के सामने ठीक बौद्धों की ही तरह ये बातें कह रहा हूं; क्योंकि आजकल लोग कहा करते हैं कि अद्वैतवाद से लोगों में अनैतिकता घुस जाती है। इसलिए दूसरे पक्ष के लोगों का जो कुछ कहना है, वही मैं तुमसे कहने की चेष्टा कर रहा हूं। हमें दोनों पक्षों पर निर्भीक भाव से विचार करना है।

एक वैयक्तिक ईश्वर ने संसार की सृष्टि की — इसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता। यह हमने सर्वप्रथम समझ लिया। क्या एक बालक भी आजकल इस बात पर विश्वास कर सकता है ? चूंकि एक कुम्भकार ने घट का निर्माण किया, अतएव एक ईश्वर ने इस जगत् की सृष्टि की ! यदि ऐसा ही हो तो ईश्वर भी तुम्हारा एक कुम्भकार ही हुआ ! और यदि कोई तुमसे कहे कि सिर और हाथों के न रहने पर भी वह काम करता है, तो तुम उसे पागलखाने मे रखने की ठानोगे। तुम्हारे ईश्वर ने — इस संसार के सृष्टि-कर्ता वैयक्तिक ईश्वर ने— जिसके पास तुम जीवन भर चिल्ला रहे हो, क्या कभी तुम्हें कोई सहायता दी ? आधुनिक विज्ञान तुम लोगों के सामने यह एक और प्रश्न पेश करके उसके उत्तर के लिए चुनौती दे रहा है। वे प्रमाणित कर देंगे कि इस तरह की जो सहायता तुम्हें मिली है, उसे तुम अपनी ही चेष्टा से प्राप्त कर सकते थे। इस तरह के रुदन वे वृथा शक्तिक्षय करने की तुम्हारे लिए कोई आवश्यकता नहीं थी, इस तरह न रोकर तुम अपने उद्देश्य अनायास ही प्राप्त कर सकते थे; और भी, हम लोग पहले देख चुके हैं कि इस तरह के वैयक्तिक ईश्वर की धारणा से ही अत्याचार और पुरोहितप्रपंच का आविर्भाव हुआ। जहां यह धारणा विद्यमान थी, वहां अत्याचार और पुरोहितप्रपंच प्रचलित थे और बौद्धों का कथन है कि जब तक वह मिथ्या भाव जड़ समेत नष्ट नहीं होता, तब तक यह अत्याचार बन्द नहीं हो सकता। जब तक मनुष्य सोचता है कि किसी दूसरे अलौकिक पुरुष के सामने उसे विनीत भाव से रहना होगा, तब तक पुरोहित का अस्तित्व अवश्य

रहेगा; वे विशेष अधिकार या दावे पेश करेंगे, ऐसी चेष्टा करेंगे जिससे मनुष्य उनके सामने सिर झुकाए; और बेचारे असहाय व्यक्ति मध्यस्थता करने के लिए पुरोहितों के प्रार्थी बने रहेंगे। तुम लोग ब्राह्मणों को निर्मूल कर सकते हो, परन्तु इस बात पर ध्यान रखो कि जो लोग ऐसा करेंगे, वे ही उनके स्थान पर अपना अधिकार जमाएंगे, और वे फिर ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक अत्याचारी बन जाएंगे। क्योंकि ब्राह्मणों में फिर भी कुछ उदारता है, परन्तु ये स्वयंसिद्ध ब्राह्मण सदा से ही बडे दुराचारी हुआ करते हैं। भिक्षुक को यदि कुछ धन मिल जाए तो वह सम्पूर्ण संसार को एक तिनके के बराबर समझता हैं अतएव जब तक इस वैयक्तिक ईश्वर की धारणा बनी रहेगी, तब तक ये सब पुरोहित भी रहेगे और समाज में किसी तरह की उच्च नैतिकता की आशा ही की नहीं जा सकेगी। पुरोहितप्रपंच और अत्याचार सदा एक साथ रहेंगे। क्यों लोगों ने इस वैयक्तिक ईश्वर की कल्पना की? कारण इसका यह है कि प्राचीन-समय में कुछ बलवान मनुष्यों ने साधारण मनुष्यों को अपने वश में लाकर उनसे कहा था, तुम्हें हमारा आदेश मानकर चलना होगा, नहीं तो हम तुम्हारा नाश कर डालेंगे। यही इसका अर्थ और इति है। इसका कोई दूसरा कारण नहीं – 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' – एक ऐसा पुरुष है, जो हाथ में सदा ही वज्र लिये रहता है और जो उसकी आज्ञा का उल्लंघन करता है, उसका वह तत्काल विनाश कर डालता है।

इसके बाद बौद्ध कहते हैं, तुम्हारा यह कथन पूर्णतया युक्तिसम्मत है कि सब कुछ कर्मवाद का फल है। तुम लोग असंख्य जीवात्माओं के सम्बन्ध में विश्वास करते हो और तुम्हारे मत में इस जीवात्मा का न जन्म है, न मृत्यु। यहां तक तो तुम्हारी बात बिलकुल युक्तिपूर्ण रही, इसमें कोई सन्देह नहीं। कारण के रहने ही से कार्य होगा; वर्तमान समय में जो कुछ घटित हो रहा है, वह अतीत कारण का कार्य है, फिर वही वर्तमान भविष्य में दूसरा फल उत्पन्न करेगा। हिन्दू कहते हैं, कर्म जड़ है, चैतन्य नहीं; अतएव कर्म के फल का लाभ पाने के लिए किसी तरह का चैतन्य चाहिए। इस पर बौद्ध कहते हैं, वृक्ष से फल प्राप्त करने के लिए क्या किसी तरह के चेतन की जरूरत पड़ती है ? यदि बीज बोकर पौधे को पानी से सींचा जाए तो उसके फल लगने में तो किसी तरह के चैतन्य की आवश्यकता नहीं होती। तुम कह सकते हो, ऐसे काम कुछ आदिचैतन्य की शक्ति से हुआ करते हैं, किन्तु जब कि जीवात्मा ही चैतन्य है तो अन्य चैतन्य मानने की क्या आवश्यकता है ? जैन लोग कहते ही हैं – यदि बौद्ध जीवात्मा के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते, जैन जीवात्मा पर विश्वास करते हैं, परन्तु ईश्वर को नहीं मानते। अब कहो, तुम्हारी युक्ति और तुम्हारी नैतिकता की भित्ति कहां रह गयी ? जब तुम अद्वैतवाद की आलोचना करते हो और डरते हो कि अद्वैतवाद से

अनैतिकता की सृष्टि होगी तो तुम्हें चाहिए कि द्वैतवादी सम्प्रदायों ने भारत में क्या किया, इसे भी थोडा सा पढकर देखो। यदि बीस हजार अद्वैतवादी बदमाश होंगे तो बीस हजार द्वैतवादी बदमाश भी होंगे। साधारणत: यह कहा जा सकता है कि द्वैतवादी बदमाशों ही की संख्या अधिक होगी, क्योंकि अद्वैतवाद समझने के लिए उनकी अपेक्षा कुछ अधिक बुद्धिसम्पन्न मनुष्यों की आवश्यकता होती है; और उन्हें भय दिखलाकर उनसे सहज ही कोई काम निकाल लेना जरा मुश्किल भी है। तो हिन्दुओ, अब तुम्हारे लिए रह क्या जाता है ? बौद्धों के वारों से बचने के लिए कोई उपाय नहीं है। तुम वेदों के वाक्य उद्धृत कर सकते हो, परन्तु बौद्ध तो वेद मानते नहीं। वे कहेंगे, "हमारे त्रिपिटक कुछ और कहते हैं, वे अनादि और अनन्त हैं – यहां तक कि वे बुद्ध के लिखे भी नहीं, क्योंकि बुद्ध स्वयं कहते हैं कि हम उनकी आवृत्तिमात्र करते है, किन्तु है वे सनातन।'' बौद्ध यह भी कहते हैं, "तुम्हारे वेद मिथ्या है, हमारे त्रिपिटक ही सच्चे वेद है; तुम्हारे वेद ब्राह्मण पुरोहितों द्वारा कल्पित हैं – उन्हें दूर करो।'' अब तुम कैसे बच सकते हो ?

बाहर निकलने का उपाय यह है। बौद्धों से जो दार्शनिक विरोध है, वह केवल द्रव्य और गुण को एक दूसरे से भिन्न मानने के कारण है। परन्तु अद्वैतवादी कहते है – "नहीं, वे परस्पर भिन्न नहीं हैं – द्रव्य और गुण में कोई भिन्नता नहीं है। तुम्हें 'सर्प-रज्जु-भ्रम' वाला प्राचीन दृष्टान्त स्मरण होगा। जब तुम सर्प देखते हो, तब तुम्हे रज्जु बिलकुल ही नहीं दीख पडती, उस समय रज्जु का अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है। द्रव्य और गुण के रूप में किसी वस्तु के अलग-अलग हिस्से करना दार्शनिकों के मस्तिष्क में एक दार्शनिक व्यापार मात्र है; क्योकि द्रव्य और गुण के नामों से वास्तव में किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं है। यदि तुम एक साधारण मनुष्य हो तो तुम केवल गुणों को देखोगे, और यदि तुम कोई बडे योगी हो तो तुम द्रव्य का ही अस्तित्व देखोगे; परन्तु दोनों को एक ही समय में तुम कदापि नहीं देख सकते। अतएव, हे बौद्ध, द्रव्य और गुण को लेकर तुम जो विवाद कर रहे हो, सच तो यह है कि वह बेबुनियाद है। परन्तु, यदि द्रव्य गुणरहित हैं तो केवल एक ही द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि तुम आत्मा से गुणों को हटा लो और यह सिद्ध करो कि गुणों का अस्तित्व मन में ही है, आत्मा पर उसका आरोप मात्र किया गया है, तो दो आत्मा भी नहीं रह जातीं, क्योंकि एक आत्मा से दूसरी आत्मा की विशेषता गुणों ही की बदौलत सिद्ध होती है। तुम्हें कैसे मालूम होता है कि एक आत्मा दूसरी आत्मा से पृथक् है ? – कुछ भेदात्मक लिंगों, कुछ गुणों के कारण; और जहां गुणों की सत्ता नहीं है, वहां कैसे भेद रह सकता है ? अत: आत्मा दो नहीं, आत्मा 'एक' ही है, और तुम्हारा परमात्मा अनावश्यक

है, वह आत्मा ही है। इसी एक आत्मा को परमात्मा कहते हैं, इसे जीवात्मा और दूसरे नामों से भी पुकारते हैं; और हे सांख्य तथा अपर द्वैतवादियो, तुम लोग कहते रहते हो – आत्मा सर्वव्यापी विभु है, इस पर तुम लोग किस तरह अनेक आत्माओं का अस्तित्व स्वीकार करते हो ? असीम क्या कभी दो हो सकते हैं ? एक होना ही सम्भव है। एक ही असीम आत्मा है, और सब उसी की अभिव्यक्तियां हैं। इसके उत्तर में बौद्ध मौन हैं, परन्तु अद्वैतवादी चुप नहीं रह जाते।

दुर्बल मतों की तरह केवल दूसरे मतों की समालोचना करके ही अद्वैतपक्ष निरस्त नहीं होता। अद्वैतवादी तभी उन मतों की समालोचना करते हैं, जब वे उसके बहुत निकट आ जाते हैं और उसके खण्डन की चेष्टा करते हैं। वह सिर्फ इतना ही करता है कि दूसरे मतों का निराकरण कर अपने सिद्धान्त को स्थापित करता है। एकमात्र अद्वैतवादी ही ऐसा है जो दूसरे मतों का खण्डन तो करता है, परन्तु दूसरों की तरह उसके खण्डन का आधार शास्त्रों की दुहाई देना नहीं है। अद्वैतवादियों की युक्ति इस प्रकार है : वे कहते हैं, तुम संसार को एक अविराम गतिप्रवाह मात्र कहते हो; ठीक है, व्यष्टि में सब गतिशील हैं भी, तुममें भी गति है और मेज में भी गति है, गति सर्वत्र है। इसलिए इसका नाम संसार है, इसलिए इसका नाम जगत् है – अविराम गति।[1] यदि यही है तो हमारे संसार में व्यक्तित्व के नाम से कुछ भी नहीं रह जाता; कारण व्यक्तित्व के नाम से ऐसा कुछ सूचित होता है, जो अपरिवर्तनशील है। परिवर्तनशील व्यक्तित्व हो ही नहीं सकता, यह स्वविरोधी वाक्य है। इसलिए हमारे इस क्षुद्र जगत् में व्यक्तित्व के नाम से कुछ भी नहीं रह जाता। विचार, भाव, मन, शरीर, जीव-जन्तु और वनस्पति – इनका सदा ही परिवर्तन होता रहता है। अस्तु। अब सम्पुर्ण विश्व को एक समष्टि की इकाई के रूप में ग्रहण करो। क्या यह परिवर्तित या गतिशील हो सकती है ? कदापि नहीं। किसी अल्प गतिशील या सम्पर्णू गतिहीन वस्तु से तुलना करने पर ही गति का निश्चय होता है। अतः समष्टि के रूप में विश्व गति और परिणाम से रहित है। यहां मालूम हो जाता है कि जब तुम अपने को सम्पूर्ण विश्व से अभिन्न समझोगे, जब 'मैं ही विश्व-ब्रह्माण्ड हूं' यह अनुभव होगा, तभी – केवल तभी, तुम्हारे यथार्थ व्यक्तित्व का विकास होगा। यही कारण है कि अद्वैतवादी कहते हैं, जब तक द्वैत है, तब तक भय से छूटने का कोई उपाय नहीं है। जब कोई दूसरी वस्तु दिखलाई नहीं पड़ती, किसी भिन्न भाव का अनुभव नहीं होता, जब केवल एक ही सत्ता रह जाती है, तभी भय दूर होता है, तभी मनुष्य मृत्यु के पार जा सकता

1. 'संसार' में सृ धातु है जिसका अर्थ 'सरकना' या 'गति' होता है और 'जगत्' में गम् धातु है जिसका अर्थ 'जाना' होता है।

है। और तभी संसारबोध लुप्त हो जाता है। अद्वैतवाद हमें यह शिक्षा देता है कि मनुष्य का यथार्थ व्यक्तित्व है समष्टि-ज्ञान में, व्यष्टि-ज्ञान में नहीं। जब तुम अपने को सम्पूर्ण समझोगे, तभी तुम अमर होगे। तभी तुम निर्भय और अमृतस्वरूप हो सकोगे, जब विश्व-ब्रह्माण्ड के साथ एक हो जाओगे, और तब, जिसे तुम परमात्मा कहते हो, जिसे सत्ता कहते हो, और जिसे पूर्ण कहते हो, वह विश्व-ब्रह्माण्ड से एक हो जाएगा। हम और हमारी तरह की मनोवृत्ति वाले लोग उस एक ही अखण्ड सत्ता को विविधतापूर्ण विश्व के रूप में देखते हैं। जो लोग कुछ और अच्छे कर्म करते हैं तथा उन सत्कर्मों के बल से जिनकी मनोवृत्तियां कुछ और उत्तम हो जाती हैं, वे मृत्यु के पश्चात् इसी ब्रह्माण्ड में इन्द्रादि देवों का स्वर्गलोक देखते हैं। उनसे भी ऊंचे लोग इसमें ही ब्रह्मलोक देखते हैं; और जो लोग पूर्ण सिद्ध हो गये हैं, वे पृथिवी, स्वर्ग या कोई दूसरा लोक नहीं देखते; उनके लिए यह ब्रह्माण्ड अन्तर्हित हो जाता है, उसकी जगह एकमात्र ब्रह्म ही विराजमान रहता है।

क्या हम इस ब्रह्म को जान सकते हैं ? मैंने तुमसे पहले ही संहिता में उपलब्ध अनन्त के वर्णन के विषय में कहा है। यहां हमको उसका ठीक विपरीत पता मिलता है– यहां आन्तरिक अनन्त है। सहिता में बहिर्जगत् के अनन्त का वर्णन है। यहां चिन्तनजगत्, भावजगत् के अनन्त का वर्णन है। संहिता में अस्तिभावात्मक भाषा में अनन्त के वर्णन की चेष्टा हुई थी; यहां उस भाषा से काम नहीं निकला, अतः नास्ति-भावात्मक या 'नेति-नेति' की भाषा में वर्णन का प्रयत्न किया गया। यह विश्व-ब्रह्माण्ड है, माना कि यह ब्रह्म है। पर क्या हम इसे जान सकते हैं ? – नहीं, नहीं जान सकते। तुम्हें इस विषय को स्पष्ट रीति से समझना होगा। तुम्हारे मन में बार-बार इस सन्देह का आविर्भाव होगा कि यदि यह ब्रह्म है, तो किस तरह हम इसे जान सकते हैं। **'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।'** –(बृहदारण्यकोपनिषद् 2।4।14।।) – 'विज्ञाता को किस तरह जाना जाए ?' विज्ञाता को कैसे जान सकते हैं ? आंखें सब वस्तुओं को देखती हैं, पर क्या वे स्वयं को भी देख सकती हैं ? नहीं देख सकतीं। ज्ञान की क्रिया ही एक नीची अवस्था है। ऐ आर्यसन्तानो, तुम्हें यह विषय अच्छी तरह याद रखना चाहिए, क्योंकि इस तत्त्व में एक महान् तथ्य निहित है। तुम्हारे निकट पश्चिम के जो सारे प्रलोभन आया करते हैं, उनकी दार्शनिक बुनियाद एक यही है कि इन्द्रियज्ञान से बढ़कर दूसरा ज्ञान नहीं है; परन्तु पूर्व में हमारे वेदों में कहा गया है कि यह वस्तुज्ञान वस्तु की अपेक्षा नीचे दर्जे का है, क्योंकि ज्ञान का तात्पर्य सदा ससीम भाव से ही होता है। जब कभी तुम किसी वस्तु को जानना चाहते हो, तभी वह तुमहारे मन के द्वारा सीमाबद्ध हो जाती है। पूर्वकथित दृष्टान्त में जिस तरह सीप से मोती बनता है, उस पर विचार करो,

तभी तुम समझोगे कि ज्ञान का अर्थ सीमाबद्ध करना कैसे हुआ। जब तुम किसी वस्तु को जानते हो, तो उसे अपनी चेतना के घेरे में ले आते हो, उसको सम्पूर्ण भाव से जान नहीं पाते हो। यही बात समस्त ज्ञान के सम्बन्ध में है। यदि ज्ञान का अर्थ सीमाबद्ध करना ही हो तो क्या उस अनन्त के सम्बन्ध में भी तुम ऐसा कर सकते हो? जो सब ज्ञानों का उपादान (आधार) है, जिसे छोड़कर तुम किसी तरह का ज्ञान अर्जित नहीं कर सकते, जिसे कोई गुण नहीं है, जो सम्पूर्ण संसार और हम लोगों की आत्मा का साक्षीस्वरूप है, उसके सम्बन्ध में तुम वैसा कैसे जान सकते हो – उसे तुम कैसे सीमा में ला सकते हो ? उसे तुम कैसे जान सकते हो ? किस उपाय से उसे बांधोगे ? प्रत्येक वस्तु, यह सम्पूर्ण संसार-प्रपंच, उस अनन्त को जानने की वृथा चेष्टा मात्र है। मानो यह अनन्त आत्मा अपने मुखावलोकन की चेष्टा कर रही है और सर्वोच्च देवता से लेकर निम्नतम प्राणी तक सभी, मानो उसके मुख का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के दर्पण हैं। एक-एक करके एक-एक दर्पण में अपने मुख का प्रतिबिम्ब देखने की चेष्टा करके, उसे उपयुक्त न देख अन्त में मनुष्यदेह में आत्मा समझ पाती है, कि यह सब ससीम है, और अनन्त कभी सान्त के भीतर अपने को प्रकाशित नहीं कर सकता। उसी समय पीछे की ओर हटने की यात्रा शुरू होती है, और इसी को त्याग या वैराग्य कहते हैं। इन्द्रियों से पीछे हट जाओ, इन्द्रियों की ओर मत जाओ, यही वैराग्य का मूलमन्त्र है, यही सब तरह की नैतिकताओं और निःश्रेयस् का मूलमन्त्र है, क्योंकि तुम्हें स्मरण रखना चाहिए कि त्याग-तपस्या से ही संसार की सृष्टि हुई है; और जितना ही पीछे की ओर तुम जाओगे उतने ही तुम्हारे सामने भिन्न-भिन्न रूप, भिन्न-भिन्न देह क्रमशः अभिव्यक्त होते रहेंगे और एक-एक करके उनका त्याग होता जाएगा; अन्त में तुम वास्तव में जो कुछ हो, वही रह जाओगे। यही मोक्ष या मुक्ति है।

यह तत्त्व हमें समझ लेना चाहिए : 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' – 'विज्ञाता को कैसे जानोगे ?' ज्ञाता को कोई जान नहीं सकता, क्योंकि यदि वह समझ में आने योग्य होता, तो वह कभी ज्ञाता न रह जाता; और यदि तुम आइने में अपनी आंखों का बिम्ब देखो, तो तुम उन्हें अपनी आंखें नहीं कह सकते, वे कुछ और ही हैं, वे बिम्बमात्र हैं। अब बात यह है कि यदि यह आत्मा – यह अनन्त सर्वव्यापी पुरुष साक्षी मात्र हो, तो इससे क्या हुआ ? यह हमारी तरह न चल-फिर सकता है, न जीता है, न संसार का उपभोग ही कर सकता है। यह बात लोगों की समझ में नहीं आती कि जो साक्षीस्वरूप है, वह किसी तरह आनन्द का उपभोग कर सकता है। वे कहा करते हैं, "हे हिन्दुओ, तुम सब साक्षीस्वरूप हो, इस मत के कारण तुम लोग निष्क्रिय और अकर्मण्य हो गये हो।" उनकी इस बात का उत्तर यह है, 'जो साक्षीस्वरूप है, वही वास्तव में आनन्दोपभोग कर

सकता है।' अगर कहीं कुश्ती लड़ी जाती है तो आधिक आनन्द किन्हें मिलता है ? – जो लोग कुश्ती लड़ रहे हैं उन्हें या जो दर्शक हैं उन्हें ? इस जीवन में जितना ही तुम किसी विषय में साक्षीस्वरूप हो सकोगे उतना ही तुम्हें उससे अधिक आनन्द मिलता रहेगा। यथार्थ आनन्द यही है और इस युक्ति से तुम्हारे लिए अनन्त-आनन्द की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब तुम इस विश्व-ब्रह्माण्ड के साक्षीस्वरूप हो सको। तभी तुम मुक्त पुरुष हो सकोगे। जो साक्षीस्वरूप है, वही निष्काम भाव से स्वर्ग जाने की इच्छा न रख, निन्दास्तुति को समदृष्टि से देखता हुआ कार्य कर सकता है। जो साक्षीस्वरूप है, वही आनन्द पा सकता है, दूसरा नहीं। अद्वैतवाद के नैतिक भाग की विवेचना करते समय उसके दर्शनिक तथा नैतिक भाग के अन्तर्गत एक और विषय आ जाता है, वह मायावाद है। अद्वैतवाद के अन्तर्गत एक-एक विषय के समझने में ही वर्षों लग जाते हैं और व्याख्या करने में महीनों लग जाते हैं, इसलिए इसका मैं उल्लेख मात्र ही करूंगा। इस मायावाद को समझना सभी युगों में बडा कठिन रहा है। मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूं, मायावाद वास्तव में कोई वाद या मतविशेष नहीं है, वह देश, काल और निमित्त की समष्टि मात्र है – और इस देश-काल-निमित्त को आगे नाम-रूप में परिणत किया गया है। मान लो समुद्र में एक तरंग है। समुद्र से समुद्र की तरंगों का भेद सिर्फ नाम और रूप मे है, और इस नाम और रूप की तरंग से पृथक् कोई सत्ता भी नहीं है, नाम और रूप दोनों तरंग के साथ ही हैं। तरंगें विलीन हो जा सकती हैं; और तरंगों में जो नाम और रूप हैं, वे भी चाहे सदा के लिए विलीन हो जाएं, पर पानी पहले की तरह सम मात्रा में ही बना रहेगा। इस प्रकार यह माया ही तुममें और हममें, पशुओं में और मनुष्यों में, देवताओं में और मनुष्यों में भेदभाव पैदा करती है। सच तो यह है कि यह माया ही है जिसने आत्मा को मानो लाखों प्राणियो में बांध रखा है और उनकी परस्पर भिन्नता का बोध नाम और रूप से ही होता है। यदि उनका त्याग कर दिया जाए, नाम और रूप दूर कर दिये जाएं, तो वह सदा के लिए अन्तर्हित हो जाएगी, तब तुम वास्तव में जो कुछ हो, वही रह जाओगे। यही माया है; और फिर यह कोई सिद्धान्त भी नहीं है, केवल तथ्यों का कथन मात्र है।

जब कोई यथार्थवादी कहता है कि इस मेज का अस्तित्व है, तब उसके कहने का अभिप्राय होता है कि उस मेज की अपनी एक खास निरपेक्ष सत्ता है, उसका अस्तित्व संसार की किसी भी दूसरी वस्तु पर अवलम्बित नहीं, और यदि यह सम्पूर्ण विश्व नष्ट हो जाए तो भी वह ज्यों की त्योंही बनी रहेगी। कुछ थोडा-सा विचार करने पर ही तुम्हारी समझ में आ जाएगा कि ऐसा कभी हो नहीं सकता। इस इन्द्रियग्राह्य संसार की सभी चीजें एक दूसरी पर अवलम्बित हैं, वे एक दूसरी की अपेक्षा रखती हैं; वे सापेक्ष

और परस्पर सम्बन्धित हैं — एक का अस्तित्व दूसरे पर निर्भर है। हमारे वस्तुज्ञान के तीन सोपान हैं। पहला यह है कि प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है और एक दूसरी से अलग है; दूसरा यह कि सभी वस्तुओं में पारस्परिक सम्बन्ध है; और अन्तिम सोपान यह है कि वस्तु एक ही है, जिसे हम लोग अनेक रूपों में देख रहे हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में अज्ञ मनुष्य की पहली धारणा यह होती है कि वह इस ब्रह्माण्ड के बाहर कहीं रहता है, जिसका मतलब है कि उस समय का ईश्वरविषयक ज्ञान पूर्णतः मानवीय होता है, अर्थात् जो कुछ मनुष्य करते हैं, ईश्वर भी वही करता है, भेद केवल यही है कि ईश्वर के कार्य अधिक बड़े पैमाने पर तथा अधिक उच्च प्रकार के होते हैं। हम लोग पहले समझ चुके हैं कि ईश्वर-सम्बन्धी ऐसी धारणा थोड़े ही शब्दों में कैसे अयौक्तिक और उपर्याप्त प्रमाणित की जा सकती है। ईश्वर के सम्बन्ध में दूसरी धारणा यह है कि वह एक शक्ति है, और उसी की सर्वत्र अभिव्यक्तियां हैं। इसे वास्तव में हम सगुण ईश्वर कह सकते हैं, 'दुर्गासप्तशती' में इसी ईश्वर की बात कही गयी है। परन्तु इस पर ध्यान रहे कि यह ईश्वर केवल सम्पूर्ण कल्याणकारी गुणों का ही आधार नहीं है। ईश्वर और शैतान – दो देवता नहीं रह सकते, एक ही ईश्वर का अस्तित्व मानना पड़ेगा और हिम्मत बांधकर भला और बुरा उसी ईश्वर को मानना पड़ेगा, और यह युक्तिसम्मत सिद्धान्त मान लेने पर जो कुछ ठहरता है, उसे भी लेना होगा। हम 'दुर्गासप्तशती' में पढ़ते हैं, 'जो देवी सभी प्राणियों में शान्ति के रूप में अवस्थित है, उसे हम नमस्कार करते हैं। जो देवी सभी प्राणियों में शुद्धिरूपा होकर स्थित है, उसे हम नमस्कार करते हैं।'[2] उन्हें सर्वस्वरूप कहने से उसका फल चाहे जैसा हो, साथ ही उसे भी लेना होगा। हे गार्गि, सब कुछ आनन्द है, इस संसार में जो कुछ आनन्द देख रही हो, सब उसी आध्यात्मिक तत्त्व का अंश है।' इसकी सहायता से तुम प्रत्येक काम कर सकते हो। मेरे सामने के इस प्रकाश में चाहे तुम किसी गरीब को हजार रुपये गिन दो और चाहे कोई दूसरा इसी प्रकाश में तुम्हारा जाली हस्ताक्षर करे, प्रकाश दोनों ही के लिए बराबर है। यह हुआ ईश्वरज्ञान का दूसरा सोपान। तीसरा सोपान यह है कि ईश्वर न तो प्रकृति के बाहर ही है और न भीतर ही; बल्कि ईश्वर प्रकृति, आत्मा, विश्व – ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। दो वस्तुएं वास्तव में हैं ही नहीं, कुछ दार्शनिक शब्दों ने ही तुम्हें धोखा दिया है। तुम सोच रहे हो, तुम शरीर भी हो और आत्मा भी हो, और एक साथ ही तुम शरीर और आत्मा बन

2. या देवी सर्वभूतेषु शान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।
या देवी सर्वभूतेषु शुद्धिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।–दुर्गा सप्तशती, 5। 47-9; 5। 74-6।।

गये हो। यह कैसे हो सकता है ? मन ही मन इसकी जांच करो। यदि तुम लोगों में कोई योगी होगा तो वह अपने को चैतन्यस्वरूप जानता होगा, उसके लिए शरीर है ही नहीं। यदि तुम साधारण मनुष्य होगे तो तुम अपने को देह सोचोगे, उस समय चैतन्य के सम्पूर्ण ज्ञान का लोप हो जाएगा। मनुष्य के देह है, आत्मा है, और भी बहुत-सी चीजें हैं — इन सब दार्शनिक धाराओं के रहने के कारण तुम लोग सोचते होगे कि ये सब एक ही समय में मौजूद हैं, परन्तु ऐसा नहीं है। एक समय में एक वस्तु का अस्तित्व है। जब तुम जड वस्तु देख रहे हो, तब ईश्वर की चर्चा मत करो, क्योंकि तुम केवल कार्य ही देख रहे हो, उसका कारण तुम्हें नहीं दिखाई पडता; और जिस समय तुम कारण देखोगे उस समय कार्य का लोप हो जाएगा। तब यह संसार न जाने कहां चला जाता है, न जाने कौन इसका ग्रास कर लेता है !

'समाधि-अवस्था मे ज्ञानी के हृदय में अनिर्वचनीय, केवल आनन्दस्वरूप, उपमारहित, अपार, नित्यमुक्त, निष्क्रिय, असीम, आकाशतुल्य, अंशहीन, भेदरहित, पूर्णस्वरूप ऐसा ही ब्रह्म प्रकाशमान होता है।'

'समाधि-अवस्था में ज्ञानी के हृदय में ऐसा पूर्ण ब्रह्म प्रकाशमान होता है, जो प्रकृति की विकृति से रहित है, अचिंत्यस्वरूप है, समभाव होने पर भी जिसकी समता करनेवाला कोई नहीं है, जिसमे किसी तरह के परिणाम का सम्बन्ध नहीं है (जो अपरिमेय है), जो वेदवाक्यो द्वारा सिद्ध है और जो, हम जिसे अपनी सत्ता कहते हैं उसका सार है।'

'समाधि-अवस्था में ज्ञानी के हृदय में ऐसा पूर्ण ब्रह्म प्रकाशमान होता है, जो जरा और मृत्यु से रहित हैं, जो अद्वय और अतुलनीय है, जो महाप्रलयकालीन जलप्लावन में निमग्न उस समस्त विश्व के सदृश, निःस्तब्ध और शान्त है, जिसके ऊपर, नीचे, चारो तरफ जल ही जल है और जल की सतह पर तरंग की कौन कहे, एक छोटी-सी लहर भी नहीं है, जहां समस्त दर्शन आदि का अन्त हो गया है, मूर्खो तथा ज्ञानियों के सभी लडाई-झगडों और युद्धों का सदा के लिए अन्त हो गया है।'[3]

मनुष्य की ऐसी अवस्था भी होती है, और जब यह अवस्था आती है तब संसार

---

3. किमपि सततबोधं केवलानन्दरूपं निरुपममतिवेलं नित्यमुक्तं निरीहम्।
निरवधिगगनाभं निष्कलं निर्विकल्पं हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्णं समाधौ।।

प्रकृतिविकृतिशून्यं भावनातीतभावं समरसमसमानं मानसम्बन्धदूरम्।
निगमवचनसिद्धं नित्यमस्मत्प्रसिद्धं हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्णं समाधौ।।

अजरममरमस्ताभाववस्तुस्वरूपं स्तिमितसलिलराशिप्रख्यमाख्याविहीनम्।
शमितगुणविकारं शश्वतं शान्तमेकं हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्णं समाधौ।।

—विवेकचूडामणि 408-410

विलीन हो जाता है।

अब हमने देखा कि सत्यस्वरूप ब्रह्म अज्ञात और अज्ञेय है, परन्तु अज्ञेयवादियों की दृष्टि से नहीं। हम 'उसे' जान गये, यह कहना ही पाखण्डपूर्ण बात है; क्योंकि पहले ही से तुम वही (ब्रह्म) हो। हमने यह भी देखा है कि एक तरीके से ब्रह्म यह मेज नहीं है, फिर दूसरे तरीके से वह मेज है भी। नाम और रूप उठा लो, फिर जो सत्य वस्तु बची रहती है, वह वही है। वह प्रत्येक वस्तु के भीतर सत्यस्वरूप है।

'तुम्हीं स्त्री हो, पुरुष भी तुम्हीं हो, तुम कुमार, तुम्हीं कुमारी भी हो और तुम्हीं दण्ड का सहारा लिए हुए वृद्ध हो, विश्व में सर्वत्र तुम ही हो।'[4]

अद्वैतवाद का यही विषय है। इस सम्बन्ध में कुछ बातें और हैं। इस अद्वैतवाद से सभी वस्तुओं के मूलतत्त्व की व्याख्या मिल जाती है। हमने देखा है, तर्कशास्त्र और विज्ञान के आक्रमणों के विरोध में हम केवल इसी अद्वैतवाद को लेकर खडे हो सकते हैं। अन्त में सारे तर्कों को यहीं ठहरने की एक दृढ़ भूमि मिलती है। भारतीय वेदान्त अपने सिद्धान्त के पूर्ववर्ती सोपानों पर कभी दोषारोपण नहीं करते, बल्कि वे अपने सिद्धान्त पर ठहरकर, उन पर नजर डालते हुए उनका समर्थन करते हैं; वे जानते हैं, वे सत्य हैं, सिर्फ वे गलत ढंग से उपलब्ध हुए हैं – भ्रम के आधार पर उनका वर्णन किया गया है। वे भी वही सत्य हैं, अन्त इतना ही है कि वे माया के माध्यम से देखे गयें हैं, कुछ विकृत होने पर भी वे सत्य – केवल सत्य ही हैं। वह ईश्वर, जिसे अज्ञ प्रकृति के बाहर किसी स्थान में अवस्थित देखता है, वह ईश्वर जिसे अल्पज्ञ संसार का अन्तर्यामी देखता है, तथा वह ईश्वर जिसका अनुभव ज्ञानी आत्मस्वरूप या सम्पूर्ण संसार के स्वरूप में करता है – यह सब एक ही वस्तु है। एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न भावों से दृष्टिगोचर हो रही है, माया के विभिन्न शीशों के भीतर से दिखाई दे रही है, विभिन्न मनों से दिखाई दे रही है, और पृथक्-पृथक् मनों से दिखाई देने के कारण ही यह सब विभिन्नता है। केवल इतना ही नहीं, उनमें से एक भाव दूसरे में ले जाता है। विज्ञान और सामन्य ज्ञान में क्या भेद है ? रास्ते पर जब कभी कोई असाधारण घटना घट जाती है, तो पथिकों में से किसी से उसका कारण पूछो। दस आदमियों में से कम से कम नौ आदमी कहेंगे, यह घटना भूतों की करामात है। वे बाहर सदा भूत-प्रेतों के पीछे दौड़ते हैं; क्योंकि अज्ञान का स्वभाव ही है कार्य के बाहर कारण की खोज करना। एक पत्थर गिरने पर अज्ञ कहता है, भूत या शैतान का फेंका हुआ

---

4. त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।।
–श्वेताश्वतरोपनिषद् 4।3।।

पत्थर है। परन्तु वैज्ञानिक कहता है वह प्रकृति का नियम या गुरुत्वाकर्षण है।

विज्ञान और धर्म में सर्वत्र कौन-सा विरोध है ? प्रचलित धर्म जितने हैं, सभी बहिरागत व्याख्या द्वारा आच्छन्न हैं। सूर्य के अधिष्ठाता देवता, चन्द्र के अधिष्ठाता देवता – इस तरह के अनन्त देवता हैं; और जितनी घटनाएं हो रही हैं, सब कोई न कोई देवता या भूत ही कर रहा है। इसका सारांश यही है कि किसी विषय के कारण की खोज उसके बाहर की जाती है, और विज्ञान का अर्थ यह है कि किसी वस्तु के कारण की व्याख्या उसी प्रकृति से की जाती है। धीरे-धीरे विज्ञान ज्यों-ज्यों प्रगति कर रहा है, त्यों-त्यों वह प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या भूत-प्रेतों और देवदूतों के हाथ से छीनता जा रहा है; और चूंकि आध्यात्मिक क्षेत्र में अद्वैतवाद इसकी साधना कर चुका है। इसलिए यही सब से अधिक विज्ञानसम्मत धर्म है। इस जगत् को विश्व के बाहर के किसी ईश्वर ने नहीं बनाया, संसार के बाहर की किसी प्रतिभा ने इसकी सृष्टि नहीं की। यह आप ही आप सृष्ट हो रहा है, आप ही आप उसकी अभिव्यक्ति हो रही है, आप ही आप उसका प्रलय हो रहा है – एक ही अनन्त सत्ता ब्रह्म है। 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' – हे श्वेतकेतो, तुम वही हो।'

इस तरह तुम देख रहे हो, यही एकमात्र यही वैज्ञानिक धर्म बन सकता है, कोई दूसरा नहीं और इस अर्धशिक्षित वर्तमान भारत में आजकल प्रतिदिन विज्ञान की जो बकवास चल रही है, प्रतिदिन मैं जिस युक्तिवाद और विचारशीलता की दुहाई सुन रहा हूं, उससे मुझे आशा है तुम्हारे समस्त सम्प्रदाय अद्वैतवादी होंगे और बुद्ध के शब्दों में 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' संसार में इस अद्वैवताद का प्रचार करने का साहस करेंगे। यदि तुम ऐसा न कर सको, तो मैं तुम्हें डरपोक समझूंगा। यदि तुमने अपनी कायरता दूर नहीं की, यदि अपने भय को तुमने बहाना बना लिया, तो दूसरे को भी वैसी ही स्वाधीनता दो। बेचारे मूर्तिपूजक को बिलकुल उड़ा देने की चेष्टा न करो, उसे शैतान मत कहो। जो तुम्हारे साथ पूर्णतया सहमत न हो, उसी के पास अपना मत प्रचार करने के लिए न जाओ। पहले यह समझो कि तुम खद कायर हो और यदि तुम्हें समाज का भय है, यदि तुम्हें अपने ही प्राचीन अन्धविश्वासों का इतना भय है तो यह भी सोच लो कि जो लोग अज्ञ हैं, उन्हें अपने अन्धविश्वासों का और कितना अधिक भय और बन्धन होगा। अद्वैतवादियों की यही बात है। दूसरों पर दया करो। परमात्मा करे कल ही सम्पूर्ण संसार केवल मत में ही नहीं, अनुभूमि के सम्बन्ध में भी अद्वैतवादी हो जाए ! परन्तु यदि वैसा नहीं हो सकता तो, हमको जो अच्छा करते बने, वही करना चाहिए। अज्ञजनों का हाथ पकड़कर उनकी शक्ति के अनुसार उन्हें धीरे-धीरे आगे ले चलो, जितना वे आगे बढ़ सकते हैं; और समझो कि भारत में सभी

धर्मों का विकास क्रमोन्नति के नियमानुसार धीरे-धीरे हुआ है। बात ऐसी नहीं कि बुरे से भला हो रहा है, बल्कि भले से और भी भला हो रहा है।

अद्वैतवाद के नैतिक सम्बन्धों के विषय में कुछ और कहना आवश्यक है। हमारे लड़के आजकल नि:संकोच कहा करते हैं – यह उन लोगों ने किसी से सुना होगा, परमात्मा जाने किससे – कि अद्वैतवाद से लोग दुराचारी हो जाते हैं, क्योंकि अद्वैतवाद सिखलाता है कि हम सब एक हैं, सभी ईश्वर हैं, अतएव हमें अब सदाचार अपनाने की कोई आवश्यकता नहीं। इस बात के उत्तर में पहले तो यहां कहना है कि यह युक्ति पशु प्रकृति मनुष्य के मुख में शोभा देती है, कशाघात के बिना जिसके दमन करने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। यदि तुम ऐसे ही हो तो इस तरह कशाघात द्वारा शासित करने योग्य मनुष्य कहलाने की अपेक्षा आत्महत्या कर लेना कदाचित् तुम्हारे लिए श्रेयस्कर होगा। कशाघात बन्द होते ही तुम लोग असुर हो जाओगे ! यदि ऐसा ही हो तो इसी समय तुम्हारा, अन्त कर देना उचित होगा। तुम्हारे लिए दूसरा उपाय और कोई नहीं। इस तरह तो सदा ही तुम्हें कोड़े और डंडे के भय से चलना होगा और तुम्हारे उद्धार तथा निस्तार का रास्ता अब नहीं रह गया।

दूसरे अद्वैतवाद – केवल अद्वैतवाद – से ही नैतिकता की व्याख्या हो सकती है। प्रत्येक धर्म यही प्रचार कर रहा है कि सब नैतिक तत्त्वों का सार दूसरों की हितसाधना ही है। पर क्यों हम दूसरों का हित करें ? सब धर्म उपदेश देते हैं – नि:स्वार्थ होना चाहिए। पर क्यों हमें निस्वार्थ होना चाहिए ? कोई देवता ऐसा कह गये हैं ? वे देवता मेरे लिए मान्य नहीं हैं। शास्त्रों ने ऐसा कहा है ? शास्त्र कहते रहें, क्यों हम उसे मानें ? शास्त्र यदि ऐसा कहते हैं तो मेरे लिए उनका क्या महत्त्व है ? संसार के अधिकांश आदमियों की यही नीति है कि वे अपना ही भला देखते हैं – प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना हितसाधन करे, कोई न कोई सब से पीछे रहेगा। अत: किस कारण मैं नैतिक बनूं ? जब तक गीता में वर्णित इस सत्य को न जानोगे, तब तक तुम इसकी व्याख्या नहीं कर सकते : 'जो महात्मा अपनी आत्मा को सब भूतों में स्थित देखता है और आत्मा में सब भूतों को अवस्थित देखता है, वह इस तरह ईश्वर को सर्वत्र सम भाव से अवस्थित देखता हुआ आत्मा द्वारा आत्मा की हिंसा नहीं करता।'[5]

अद्वैतवाद की शिक्षा से तुम्हें यह ज्ञान होता है कि दूसरों की हिंसा करते हुए तुम अपनी ही हिंसा करते हो, क्योंकि वे सब तुम्हारे ही स्वरूप हैं। तुम्हें मालूम हो या न

---

5. सर्वभूतस्थामात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।। गीता 6। 29।।
सम पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।। गीता 13। 28।।

हो, सब हाथों से तुम्हीं कार्य कर रहे हो, सब पैरों से तुम्हीं चल रहे हो, राजा के रूप में तुम्हीं प्रासाद में सुख का भोग कर रहे हो, फिर तुम्हीं रास्ते के भिखारी के रूप में अपना दुःखमय जीवन बिता रहे हो। अज्ञ में भी तुम हो, विद्वान् में भी तुम हो, दुर्बल में भी तुम हो, सबल में भी तुम हो। इस तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर तुम्हें सब के प्रति सहानुभूति रखनी चाहिए। चूंकि दूसरे को कष्ट पहुंचाना अपने ही को कष्ट पहुंचाना है, इसलिए हमें कदापि दूसरों को कष्ट नहीं देना चाहिए। इसीलिए यदि मैं बिना भोजन के मर भी जाऊं तो भी मुझे इसकी चिन्ता नहीं, क्योकि जिस समय मैं भूखा मर रहा हूं उस समय मैं लाखों मुंह से भोजन भी कर रहा हूं। अतएव यह 'मैं', 'मेरा' – इन सब विषयों पर हमें ध्यान ही नहीं देना चाहिए, यह सम्पूर्ण संसार मेरा ही है, मैं ही एक दूसरी रीति से संसार के सम्पूर्ण आनन्द का भोग कर रहा हूं; और, मेरा या इस संसार का विनाश भी कौन कर सकता है ? इस तरह तुम देखते हो, अद्वैतवाद ही नैतिक तत्त्वों की एकमात्र व्याख्या है। अन्यान्य वाद तुम्हें नैतिकता की शिक्षा दे सकते हैं, परन्तु हम क्यों नीतिपरायण हों, इसका हेतुनिर्देश नहीं कर सकते। यह सब तो हुई व्याख्या की बात।

अद्वैतवाद की साधना में लाभ क्या है ? उससे शक्ति प्राप्त होती है। तुमने जगत् पर सम्मोहन का जो पर्दा डाल रखा है उसे हटा दो। मनुष्य को दुर्बल मत सोचो, उसे दुर्बल मत कहो। समझ लो कि एक दुर्बलता शब्द से ही सब पापों और सम्पूर्ण अशुभ कार्मो का निर्देश हो जाता है। सारे दोष पूर्ण कार्यों की मूल प्रेरक दुर्बलता ही है। दुर्बलता के कारण ही मनुष्य सभी स्वार्थो में प्रवृत्त होता है। दुर्बलता के कारण ही मनुष्य दूसरों को कष्ट पहुंचाता है; दुर्बलता के कारण ही मनुष्य अपना सच्चा स्वरूप प्रकाशित नहीं कर सकता। सब लोग जानें कि वे क्या हैं ? दिन-रात वे अपने स्वरूप – 'सोऽहम्' (मैं वही हूं) का जप करें। माता के स्तनपान के साथ 'सोऽहम्' – इस ओजमयी वाणी का पान करें। 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृहदारण्यकोपनिषद् 2।4।5।।) आदि। पहले इसका श्रवण करें। तत्पश्चात् इसका चिन्तन करें, और उसी चिन्तन, उसी मनन से ऐसे कार्य होंगे, जिन्हें संसार ने कभी देखा ही नहीं था। किस तरह यह काम में लाया जाए ? कोई-कोई कहते हैं – यह अद्वैतवाद कार्य में परिणत नहीं किया जा सकता, अर्थात् भौतिक धरातल पर उसी शक्ति का प्रकाश नहीं हुआ। इस कथन में आंशिक सत्य अवश्य है। वेद की उस वाणी का स्मरण करो :

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ओमित्येकाक्षरं परम्।
ओमित्येकाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।

–कठोपनिषद् 1।2।16।।

– "ॐ, यही ब्रह्म है। ॐ, यह परम सत्ता है ! जो इस ओंकार का रहस्य

जानते हैं, वे जो कुछ चाहते हैं, वही उन्हें मिलता है।''

अतएव पहले तुम ओंकार का रहस्य समझो। वह ओंकार तुम्हीं हो, इसका ज्ञान प्राप्त करो। इस 'तत्त्वमसि' महावाक्य का रहस्य समझो, तभी, केवल तभी, तुम जो कुछ चाहोगे, वह पाओगे। यदि भौतिक दृष्टि से बड़े होना चाहो तो विश्वास करो, तुम बड़े हो। मैं एक छोटा-सा बुलबुला हो सकता हूं, तुम पर्वताकार ऊंची तरंग हो सकते हो, परन्तु यह समझ रखो कि हम दोनों के लिए पृष्ठभूमि अनन्त समुद्र ही है। अनन्त ब्रह्म हमारी सब शक्ति और वीर्य का भण्डार है; और हम दोनों ही क्षुद्र हों या महान्, उससे अपनी इच्छा भर शक्तिसंग्रह कर सकते हैं। अतएव अपने पर विश्वास करो। अद्वैतवाद का यह रहस्य है कि पहले अपने पर विश्वास करो, फिर अन्य सब पर। संसार के इतिहास में देखोगे कि केवल वे ही राष्ट्र महान् एवं प्रबल हो सके हैं, जो आत्मविश्वास रखते हैं। प्रत्येक राष्ट्र के इतिहास में तुम देखोगे जिन व्यक्तियों ने अपने पर विश्वास किया वे ही महान् तथा सबल हो सके। यहां इस भारत में एक अंग्रेज आया था, वह एक साधारण क्लर्क था, रुपये-पैसे के अभाव से और दूसरे कारणों से भी उसने अपने सिर में गोली मारकर दो बार आत्महत्या करने की चेष्टा की, और जब वह उसमें असफल हुआ तब उसे विश्वास हो गया कि बड़े-बड़े काम करने के लिए वह पैदा हुआ है – वही लॉर्ड क्लाइव इस साम्राज्य का प्रतिष्ठाता बन गया! यदि वह पादरियों पर विश्वास करके घुटने टेककर 'हे प्रभु, मैं दुर्बल हूं दीन हूं,' ऐसा किया करता तो जानते हो उसे कहां हो उसे कहां जगह मिलती ? निःसन्देह उसे पागलखाने में रहना पड़ता। इस प्रकार की कुशिक्षाओं ने तुम्हें पागल बना डाला है। मैंने सारे संसार में देखा है, दीनता के उस उपदेश से, जो दौर्बल्य का पोषक है, बड़े अशुभ परिणाम हुए हैं – मनुष्य-जाति को उसने नष्ट कर डाला है। हमारी सन्तानों को जब ऐसी ही शिक्षा दी जाती है, तब इसमें क्या आश्चर्य यदि वे अन्त में अर्धविक्षिप्त हो जाते हैं !

यह अद्वैतवाद के व्यावहारिक पक्ष की शिक्षा है। अतएव अपने पर विश्वास रखो। यदि तुम्हें भौतिक ऐश्वर्य की आकांक्षा हो तो इस अद्वैतवाद को उस ओर कार्यान्वित करो, धन तुम्हारे पास आएगा। यदि विद्वान और बुद्धिमान होने की इच्छा है तो उसी ओर अद्वैतवाद का प्रयोग करो, तुम महामनीषी हो जाओगे; और यदि तुम मुक्तिलाभ करना चाहते हो तो आध्यात्मिक भूमि में इस अद्वैतवाद का प्रयोग करो, तुम परमानन्द-स्वरूप निर्वाण प्राप्त करोगे। इतनी ही भूल हुई थी कि आज तक इस अद्वैतवाद का प्रयोग आध्यात्मिकता की ओर ही हुआ था – बस। अब व्यावहारिक जीवन में उसके प्रयोग का समय आया है। अब उसे रहस्य मात्र या गोपनीय रखने

से काम नहीं चलेगा, अब वह हिमालय की गुफाओं और जंगलों में साधु-सन्यासियों ही के पास बंधा नहीं रहेगा – अब लोगों के दैनिक जीवन के कार्यों में उसका प्रयोग अवश्य होना चाहिए। राजप्रासाद में, साधु-सन्यासियों की गुहा में, गरीबों की कुटियों में सर्वत्र, यहां तक कि रास्ते के भिखारी द्वारा भी वह कार्यान्वित होगा। अतएव चाहे तुम स्त्री हो, चाहे शूद्र, अथवा चाहे और ही कुछ हो, तुम्हारे लिए भय का अल्प मात्र भी कारण नहीं; कारण, श्रीकृष्ण कहते हैं, यह धर्म इतना महान् है कि इसका अल्प मात्र अनुष्ठान करने से भी महाकल्याण की प्राप्ति होती है।[6]

अतएव हे आर्यसन्तानो, आलसी होकर बैठे मत रहो – जाओ, उठो और जब तक इस चरम लक्ष्य तक न पहुंच जाओ तब तक मत रुको। अब अद्वैतवाद का व्यावहारिक क्षेत्र में प्रयोग करने का समय आ गया है। उसे अब स्वर्ग से मर्त्य में ले आना होगा। इस समय विधाता का विधान यही है। हमारे प्राचीनकाल के पूर्वजों की वाणी से हमें निर्देश मिल रहा है कि इस अद्वैतवाद को स्वर्ग से पृथिवी पर लो आओ। तुम्हारे उस प्राचीन शास्त्र का उपदेश सम्पूर्ण संसार में इस प्रकार व्याप्त हो जाए, कि समाज के हर मनुष्य की वह साधारण सम्पत्ति हो जाए, हमारी नस-नस में, रुधिर के हर कण में उसका प्रवाह हो जाए।

तुम्हें सुनकर आश्चर्य होगा कि हम लोगों से कहीं बढ़कर अमेरिकनों ने वेदान्तों को अपने व्यावहारिक जीवन में चरितार्थ कर लिया है। मैं न्यूयार्क के समुद्रतट पर खड़ा-खड़ा देखा करता था – भिन्न-भिन्न देशों से लोग बसने के लिए अमेरिका आ रहे हैं। उन्हें देखकर मुझे यह मालूम होता था, मानो उनका हृदय झुलस गया है, वे पैरों तले कुचले गये हैं, उनकी आशा मुरझा गयी है, किसी से निगाह मिलाने की उनमें हिम्मत नहीं है, कपड़ों की एक पोटली मात्र उनका सर्वस्व है और वे कपड़े भी फटे हुए हैं, पुलिस का आदमी देखते ही वे भय से दूसरी ओर के फुटपाथ पर चलने की कोशिश करते हैं; और फिर छह ही महीने में उन्हें देखो, वे साफ कपड़े पहने हुए सिर उठाकर सीधे चल रहे हैं और डटकर लोगों की नजर से नजर मिला रहे हैं। ऐसा अद्भुत परिवर्तन किसने किया ? सोचो वह आदमी जिस आरमेनिया या किसी दूसरी जगह से आ रहा है, वहां कोई उसे कुछ समझते नहीं थे; सभी उसे पीस डालने की चेष्टा करते थे। वहां सभी उससे कहते थे – "तू गुलाम होकर पैदा हुआ है, गुलाम ही रहेगा।'' वहां उसके जरा भी हिलने-डुलने की चेष्टा करने पर वह कुचल डाला जाता था। चारों ओर की सभी वस्तुएं मानो उससे कहती थीं – "गुलाम, तू गुलाम है; जो कुछ है, तू वही बना रह; निराशा के जिस अन्धेरे में पैदा हुआ था, उसी में जीवन

6. स्वलपमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो अर्यात्।। –गीता 2। 40।।

भर पड़ा रह।'' हवा भी मानो गूंजकर उससे कहती थी – 'तेरे लिए कोई आशा नहीं; गुलाम होकर चिरकाल तू नैराश्य के अन्धकार में पड़ा रह।'' वहां बलवानों ने पीसकर उसकी जान निकाल ली थी; और ज्योंही वह जहाज से उतरकर न्यूयार्क के रास्तों पर चलने लगा, उसने देखा कि अच्छे कपड़े पहने हुए किसी भले आदमी ने उससे हाथ मिलाया। एक तो फटे कपड़े पहने हुए था और दूसरा अच्छे-अच्छे कपड़ों में सुसज्ज था। पर इससे कोई अन्तर नहीं पड़ा; और कुछ आगे बढ़कर भोजनालय में जाकर देखा – सभ्यमण्डली जिस मेज के चारों ओर बैठी भोजन कर रही थी, उसी मेज के एक ओर उससे भी बैठने के लिए कहा गया। वह चारों ओर घूमने लगा – देखा, यह एक नया जीवन है। उसने देखा, ऐसी जगह भी है, जहां और चार आदमियों में वह भी एक आदमी गिना जा रहा है। कभी मौका मिला तो वाशिंगटन जाकर संयुक्तराज्य के राष्ट्रपति से हाथ मिला आया; वहां उसने देखा, दूर के गांवों से मैले कपडे पहने हुए किसान आकर राष्ट्रपति से हाथ मिला रहे हैं। तब उससे माया का पर्दा दूर हो गया। वह ब्रह्म ही है – मायावश इस तरह दुर्बलता तथा दासता के सम्मोह में पड़ा हुआ था। अब उसने फिर से जागकर देखा – मनुष्यों के संसार में वह भी एक मनुष्य है। हमारे इस देश में, इस वेदान्त की जन्मभूमि में हमारे जनसाधारण को शत-शत वर्षों से सम्मोहित बनाकर इस तरह की हीन अवस्था में डाल दिया गया है। उनके स्पर्श में अपवित्रता समायी है, उनके साथ बैठने से छूत समा जाती है। उनसे कहा जा रहा है, निराशा के अन्धकार में तुम्हारा जन्म हुआ है, सदा तुम इसी अन्धेरे में पड़े रहो। और इसका परिणाम यह हुआ कि वे लगातार डूबते चले जा रहे हैं, गहरे अन्धेरे से और गहरे अन्धेरे में डूबते चले जा रहे हैं। अन्त में मनुष्य जितनी निकृष्ट अवस्था तक पहुंच सकता है, वहां तक वे पहुंच चुके हैं। क्योंकि, ऐसा देश कहां है, जहां मनुष्य को जानवरों के साथ एक ही जगह पर सोना पड़ता हो ? इसके लिए किसी दूसरे पर दोषारोपण न करो – अज्ञ मनुष्य जो भूल किया करते हैं, वही भूल तुम मत करो। कार्य-करण दोनों यहीं विद्यमान हैं। दोष वास्तव में हमारा ही है। हिम्मत बांधकर खड़े हो जाओ – अपने ही सिर सब दोष ले लो। दूसरे पर दोष न मढ़ो। तुम जो कष्ट भोग रहे हो उसके एकमात्र कारण तुम्हीं हो।

अतः लाहौर के युवको, निश्चयपूर्वक समझो इस आनुवंशिक तथा राष्ट्रीय महापाप के लिए हमीं लोग उत्तरदायी हैं। बिना इसे दूर किये हमारे लिए कोई दूसरा उपाय नहीं है। तुम चाहे हजारों समितियां गढ़ लो, चाहे बीस हजार राजनीतिक सम्मेलन करो, चाहे पचास हजार संस्थाएं स्थापित करो, इसका कोई फल नहीं होगा, जब तक तुम्हारे भीतर वह सहानुभूति वह प्रेम नहीं आएगा, जब तक तुम्हारे भीतर वह हृदय नहीं आएगा, जो

सब के लिए सोचता है। जब तक फिर से भारत को बुद्ध का हृदय प्राप्त नहीं होता और भगवान कृष्ण की वाणी व्यावहारिक जीवन में परिणत नहीं की जाती, तब तक हमारे लिए कोई आशा नहीं। तुम लोग यूरोपियनों और उनकी सभा-समितियों का अनुकरण कर रहे हो, परन्तु उनके हृदय के भावों का तुमने क्या अनुकरण किया है ? मैं तुमसे एक आंखों देखा किस्सा कहूंगा। यहां के यूरोपियनों का एक दल कुछ बर्मी लोगों को लेकर लन्दन गया, बाद में पता चला कि वे यूरेशियन थे। वहां उन्होंने उन लोगों की एक प्रदर्शनी खोलकर खूब धनोपार्जन किया। अन्त में सब धन आपस में बांटकर उन्होंने उन लोगों को यूरोप के किसी दूसरे देश में ले जाकर छोड़ दिया। ये गरीब बेचारे यूरोप की किसी भाषा का एक शब्द भी नहीं जानते थे। लेकिन आस्ट्रिया के अंग्रेज वैदेशिक प्रतिनिधि ने इन्हें लन्दन भेज दिया। वे लोग लन्दन में भी किसी को नहीं जानते थे, अतएव वहां जाकर भी निराश्रय अवस्था में पड़ गये। परन्तु एक अंग्रेज महिला को इसकी सूचना मिली। वे इन बर्मी विदेशियों को अपने घर ले गयीं तथा अपने कपड़े, अपने बिछौने तथा जो कुछ आवश्यक हुआ, सब देकर उनकी सेवा करने लगीं और समाचारपत्रों में उन्होंने इनका हाल प्रकाशित कर दिया। देखो, उसका फल कैसा हुआ ! उसके दूसरे ही दिन मानो सारा राष्ट्र सचेत हो गया। चारों ओर से उनकी सहायता के लिए रुपये आने लगे। अन्त में वे बर्मा वापस भेज दिये गये। उनकी राजनीतिक और दूसरी जितनी सभा-समितियां हैं वे ऐसी ही सहानुभूति पर प्रतिष्ठित हैं, कम से कम अपने लिए उनकी दृढ़ नींव प्रेम पर आधारित है। वे सम्पूर्ण संसार को चाहे प्यार न कर सकें, बर्मी चाहे उनके शत्रु भले ही हों, परन्तु इतना तो निश्चय ही है कि अपनी जाति के लिए उनका प्रेम अगाध है और अपने द्वार पर आये हुए विदेशियों के साथ भी वे सत्य, न्याय और दया का व्यवहार करते हैं। पश्चिमी देशों के सभी स्थानों में उन्होंने किस तरह मेरा आतिथ्य-सत्कार और खातिरदारी की थी, इसका यदि मैं तुमसे उल्लेख न करूं तो यह मेरी अकृतज्ञता होगी। यहां वह हृदय कहां है, जिसकी बुनियाद पर इस जाति की दीवार उठायी जाएगी ? हम चार आदमी मिलकर एक छोटी-सी सम्मिलित पूंजी की कम्पनी खोलते हैं। कुछ दिनों के अन्दर ही हम लोग आपस में एक दूसरे को पट्टी पढ़ाना शुरू कर देते हैं, और अन्त में सब कारोबार नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। तुम लोग अंग्रेजों के अनुकरण की बात कहते हो और उनकी तरह विशाल राष्ट्र का संगठन करना चाहते हो, परन्तु तुम्हारे पास वह नींव कहां है ? हमारी नींव बालू की है, इसीलिए उस पर जो घर उठाया जाता है, वह थोड़े ही दिनों में ढहकर ध्वस्त हो जाता है।

अतः, हे लाहौर के युवको, फिर अद्वैत की वही प्रबल पताका फहराओ, क्योंकि और किसी आधार पर तुम्हारे भीतर वैसा अपूर्व प्रेम नहीं पैदा हो सकता। जब तक तुम लोग

उसी एक भगवान को सर्वत्र एक ही भाव से अवस्थित नहीं देखते, तब तक तुम्हारे भीतर वह प्रेम पैदा नहीं हो सकता – उसी प्रेम की पताका फहराओ। उठो, जागो, जब तक लक्ष्य पर नहीं पहुंचते तब तक मत रुको। उठो, एक बार उठो, क्योंकि त्याग के बिना कुछ हो नहीं सकता। दूसरे की यदि सहायता करना चाहते हो, तो तुम्हें अपने अहंभाव को छोड़ना होगा। ईसाइयों की भाषा में कहता हूं – तुम ईश्वर और शैतान की सेवा एक साथ ही नहीं कर सकते। चाहिए वैराग्य। तुम्हारे पूर्वजों ने बड़े-बड़े कार्य करने के लिए संसार का त्याग किया था। वर्तमान समय में ऐसे अनेक मनुष्य हैं, जिन्होंने अपनी ही मुक्ति के लिए संसार का त्याग किया है। तुम सब कुछ दूर फेंको – यहां तक कि अपनी मुक्ति का विचार भी दूर रखो – जाओ, दूसरों की सहायता करो। तुम सदा बड़ी-बड़ी साहसिक बातें करते हो, परन्तु अब तुम्हारे सामने यह व्यावहारिक वेदान्त रखा गया है। तुम अपने इस तुच्छ जीवन की बलि देने के लिए तैयार हो जाओ। यदि यह जाति बची रहे तो तुम्हारे और हमारे जैसे हजारों आदमियों के भूखों मरने से भी क्या हानि होगी ? यह जाति डूब रही है। लाखों प्राणियों का शाप हमारे सिर पर है, सद ही अजस्र जलधारवाली नदी के समीप रहने पर भी तृष्णा के समय पीने के लिए हमने जिन्हें नाबदान का पानी दिया, उन अगणित लाखों मनुष्यों का, जिनके सामने भोजन के भण्डार रहते हुए भी जिन्हें हमने भूखों मार डाला, जिन्हें हमने अद्वैतवाद का तत्त्व सुनाया और जिनसे हमने तीव्र घृणा की, जिनके विरोध में हमने लोकाचार का आविष्कार किया, जिनसे जबानी तो यह कहा कि सब बराबर हैं, सब वही एक ब्रह्म हैं, परन्तु इस उक्ति को काम में लाने का तिलमात्र भी प्रयत्न नहीं किया। 'मन में रखने ही से काम हो जाएगा, परन्तु व्यावहारिक संसार में अद्वैतवाद को घसीटना? – हरे ! हरे ! !' अपने चरित्र का यह दाग मिटा दो। उठो, जागो, यदि यह क्षुद्र जीवन चला भी जाए तो क्या हानि है ? सभी मरेंगे – साधु या असाधु, धनी या दरिद्र – सभी मरेंगे। चिरकाल तक किसी का शरीर नहीं रहेगा। अतएव उठो, जागो और सम्पूर्ण रूप से निष्टकपट हो जाओ। भारत में घोर कपट समा गया है। चाहिए चरित्र, चाहिए इस तरह की दृढ़ता और चरित्र का बल जिससे मनुष्य आजीवन दृढ़व्रत बन सके। 'नीतिनिपुण मनुष्य चाहे निन्दा करें चाहे स्तुति, लक्ष्मी आए या चली जाए, मृत्यु आज ही हो चाहे शताब्दी के पश्चात्, जो धीर हैं वे न्यायमार्ग से एक पग भी नहीं हिलते।'[7] उठो, जागो, समय बीता जा रहा है और व्यर्थ के वितण्डावाद में हमारी सम्पूर्ण शक्ति का क्षय होता जा रहा है। उठो, जागो,

---

7. निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।
—नीतिशतकम् 74।।

छोटे-छोटे विषयों और मत-मतान्तरों को लेकर व्यर्थ का विवाद मत करो। तुम्हारे सामने सब से महान् कार्य पड़ा हुआ है – लाखों आदमी डूब रहे हैं, उनका उद्धार करो। इस बात पर अच्छी तरह ध्यान दो कि मुसलमान जब भारत में पहले-पहल आये थे, तब भारत में कितने अधिक हिन्दू रहते थे। आज उनकी संख्या कितनी घट गयी है इसका कोई प्रतिकार हुए बिना यह दिन-दिन और घटती ही जाएगी; अन्ततः वे पूर्णतः विलुप्त हो जाएंगे। हिन्दू जाति लुप्त हो जाए तो होने दो, लेकिन साथ ही – उनके सैकड़ों दोश रहने पर भी, संसार के सम्मुख उनके सैकड़ों विकृत चित्र उपस्थित करने पर भी – अब तक वे जिन-जिन महान् भावों के प्रतिनिधिस्वरूप हैं, वे भाव भी लुप्त हो जाएंगे; और उनके लोप के साथ-साथ सारे अध्यात्मज्ञान का शिरोभूषण अपूर्व अद्वैततत्त्व भी लुप्त हो जाएगा। अतएव उठो, जागो, संसार की आध्यात्मिकता की रक्षा के लिए हाथ बढ़ाओ; और पहले अपने देश के कल्याण के लिए इस तत्त्व को काम में लाओ। हमें आध्यात्मिकता की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी इस भौतिक संसार में अद्वैतवाद को थोड़ा कार्य में परिणत करने की। पहले रोटी और तब धर्म चाहिए। गरीब बेचारे भूखों मर रहे हैं और हम उन्हें आवश्यकता से अधिक धर्मोपदेश दे रहे हैं। मत-मतान्तरों से पेट नहीं भरता। हमारे दो दोष बड़े ही प्रबल हैं : पहला दोष हमारी दुर्बलता है और दूसरा है, घृणा करना, हृदयहीनता। तुम लाखों मत-मतान्तरों की बात कह सकते हो, करोड़ों सम्प्रदाय संगठित कर सकते हो, परन्तु जब तक उनके दुःख का अपने हृदय में अनुभव नहीं करते, वैदिक उपदेशों के अनुसार जब तक स्वयं नहीं समझते कि वे तुम्हारे ही शरीर के अंश हैं, जब तक तुम और वे – धनी और दरिद्र, साधु और असाधु सभी – उसी एक अनन्त पूर्ण के, जिसे तुम ब्रह्म कहते हो, अंश नहीं हो जाते, तब तक कुछ नहीं होगा।

सज्जनो, मैंने तुम्हारे सामने अद्वैतवाद के कुछ प्रधान भावों को व्यक्त करने की चेष्टा की और अब इसे काम में लाने का समय आ गया है। केवल इसे देश में नहीं, सब जगह। आधुनिक विज्ञान के लोहे के मुद्गरों की चोट खाकर द्वैतवादात्मक धर्मों की मजबूत दीवारें चूर-चूर हो रही हैं। ऐसा नहीं कि द्वैतवादी सम्प्रदाय केवल यहीं शास्त्रों का अर्थ खींच-खींचकर कुछ का कुछ कर रहे हैं। (खींचातानी की हद हो गयी है – कहां तक खींचातानी हो – श्लोक कोई रबर तो हैं नहीं।) ऐसा नहीं कि केवल यहीं ये द्वैतवादी आत्मरक्षा के लिए अन्धेरे के किसी कोने में छिपने की चेष्टा कर रहे हैं; नहीं, यूरोप और अमेरिका में तो यह प्रयत्न और भी ज्यादा है; और वहां भी भारत के इस अद्वैतवाद का कुछ अंश जाना चाहिए। वह वहां पहुंच भी गया है। वहां दिन-दिन उसका प्रचार बढ़ाना चाहिए। पश्चिमी सभ्यता की इससे रक्षा होगी। कारण, पश्चिमी देखों में पहले का भाव उठ गया है और एक नया ढोंग – कांचन की

पूजा के रूप में शैतान की पूजा-प्रवर्तित हुआ है। इस आधुनिक धर्म अर्थात् पारस्परिक प्रतियोगिता और कांचन की पूजा की अपेक्षा तो पहले के अपरिमार्जित धर्म की राह अच्छी थी। कोई भी राष्ट्र हो, चाहे वह कितना ही प्रबल क्यों न हो, ऐसी बुनियाद पर कभी नहीं टिक सकता; और संसार का इतिहास हमसे कह रहा है, जिन किन्हीं लोगों ने ऐसी बुनियाद पर अपने समाज की प्रतिष्ठा की, वे विनष्ट हो गये। भारत में कांचनपूजा की यह तरंग न आ सके, इसकी ओर पहले ही से नजर रखनी होगी। अतएव सब में यह अद्वैतवाद प्रचारित करो, जिससे धर्म आधुनिक विज्ञान के प्रबल आघातों से भी अक्षत बना रहे। केवल इतना ही नहीं, तुम्हें दूसरों की भी सहायता करनी होगी – तुम्हारे विचार यूरोप और अमेरिका के सहायक होंगे; परन्तु सब से पहले तुम्हें याद दिलाता हूं कि व्यावहारिक कार्य की आवश्यकता है; और उसका प्रथमांश यह है कि घोर से घोरतम दारिद्र्य और अज्ञानतिमिर में डूबे हुए साधारण लाखों भारतीयों की उन्नतिसाधना के लिए उनके समीप जाओ और उनको अपने हाथ का सहारा दो; और भगवान कृष्ण की यह वाणी याद रखो :

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।।

–गीता 5। 19।।

– 'जिनका मन इस साम्य भाव में अवस्थित है, उन्होंने इस जीवन में ही संसार पर विजय प्राप्त कर ली है। चूंकि ब्रह्म निर्दोष और सब के लिए सम है, इसलिए वे ब्रह्म में अवस्थित हैं।'

वेदान्त – (2)
(खेतड़ी में दिया हुआ भाषण)

स्वामी विवेकानन्दजी ने खेतडी में 20 दिसम्बर, 1897 को लगभग डेढ़ घंटे तक अपना व्याख्यान दिया। उस व्याख्यान को सुनने के लिए महिलाएं एवं सज्जन-पुरुषों का विशाल जनसमुदाय उपस्थित था। इस सभा का सभापतित्व वहां के राजा साहब ने किया था। खेतडी में स्वामीजी द्वारा दिये गये व्याख्यान का सम्पूर्ण वर्णन, व्याख्यान देने के समय वहां पर शीघ्रलिपि लेखक न होने के कारण उपलब्ध न हो सका। वहां पर मौजूद स्वामी के चेला ने जो कुछ अंश लिख लिया था उसी अंश का हिन्दी अनुवाद यहां दिया जा रहा है।

स्वामीजी का भाषण

यूनानी और आर्य, प्राचीनकाल की ये दो जातियां, भिन्न-भिन्न वातावरणों और परिस्थितियों में पडीं। प्रकृति मे जो कुछ सुन्दर था, जो कुछ मधुर था, जो कुछ लोभनीय था, उन्हीं के मध्य स्थापित होकर स्फूर्तिप्रद जलवायु में विचरण करते हुए यूनानी जाति ने, एवं चारों ओर सब प्रकार के महिमामय प्राकृतिक दृश्यो के मध्य अवस्थित होकर तथा अधिक शारीरिक परिश्रम के अनुकूल जलवायु न पाकर हिन्दू-जाति ने, दो प्रकार की विभिन्न तथा विशिष्ट सभ्यताओ के आदर्शो का विकास किया। यूनानी लोग बाह्य प्रकृति के अनन्त की एवं आर्य लोग आभ्यन्तरिक प्रकृति के अनन्त की खोज में दत्तचित्त हुए। यूनानी लोग बृहत ब्रह्माण्ड की खोज में व्यस्त हुए और आर्य लोग क्षुद्र-ब्रह्माण्ड या सूक्ष्म-जगत् के तत्त्वानुसंधान में मग्न हुए। संसार की सभ्यता मे दोनो को ही अपना अपना निर्दिष्ट अंशविशेष समपन्न करना पडा था। आवश्यक नहीं है कि इनमें से एक को दूसरे से कुछ उधार लेना है। लेकिन परस्पर तुलनात्मक अध्ययन से दोनों लाभान्वित होगे। आर्यो की प्रकृति विश्लेषणप्रिय थी। गणित और व्याकरण में आर्यो को अद्भुत उपलब्धियां प्राप्त हुई और मन के विश्लेषण मे वे चरम सीमा को पहुंच गये। हमें पाइथागोरस, साक्रेटिस, प्लेटो एवं मिस्र के नव्य

प्लेटोवादियों के विचारों में भारतीय विचार की झलक दीख पड़ती है।

इसके पश्चात् स्वामीजी ने यूरोप पर भारतीय विचारों के प्रभाव की विस्तृत समीक्षा करके दिखाया कि विभिन्न युगों में स्पेन, जर्मनी एवं अन्यान्य यूरोपीय देशों के ऊपर इन विचारों की कैसे छाप पड़ी थी। भारतीय राजकुमार दाराशिकोह ने उपनिषद् का अनुवाद फारसी में किया। शॉपेनहॉवर नामक जर्मन दार्शनिक उसका लैटिन अनुवाद देखकर उसकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। उसके दर्शन में उपनिषदों का प्रचुर प्रभाव देखा जाता है। इसके बाद ही काण्ट के दर्शनग्रन्थों में भी उपनिषदों के भावों के चिन्ह देखे जाते हैं। यूरोप में साधारणतया तुलनात्मक भाषाविज्ञान की अभिरुचि के कारण ही विद्वान् लोग संस्कृत के अध्ययन की ओर आकृष्ट होते हैं। परन्तु अध्यापक डॉयसन जैसे व्यक्ति भी हैं जो केवल दार्शनिक ज्ञान के लिए ही दर्शनों का अध्ययन करते हैं। स्वामीजी ने आशा प्रकट की कि भविष्य में यूरोप में संस्कृत के पठन-पाठन में और अधिक दिलचस्पी ली जाएगी। इसके बाद स्वामीजी ने दिखलाया कि पूर्वकाल में 'हिन्दू' शब्द सार्थक था, और वह सिन्धुनदी के इस पार बसनेवालों के लिए प्रयुक्त होता था, किन्तु इस समय वह सर्वथा निरार्थक है, क्योंकि इस समय सिन्धुनदी के इस पार नाना धर्मावलम्बनी बहुत-सी जातियां बसती हैं।

इसके बाद स्वामीजी ने वेदों के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से प्रकाश डाला। उन्होंने कहा – 'वेद किसी व्यक्तिविशेष के वाक्य नहीं हैं पहले कतिपय विचारों का शनैः शनैः विकास हुआ, अन्ततः उन्हें ग्रन्थ का रूप दिया गया, और वह ग्रन्थ प्रमाण बन गया। स्वामीजी ने कहा – अनेक धर्म इसी भांति ग्रन्थबद्ध हुए हैं। ग्रन्थों का प्रभाव भी असीम प्रतीत होता है। हिन्दुओं के ग्रन्थ वेद हैं जिन पर अभी हजारों वर्षों तक हिन्दुओं को निर्भर रहना होगा। लेकिन उन्हें वेदों के सम्बन्ध में अपने विचार बदलने होंगे और उन्हें नये सिरे से दृढ़ चट्टान की नींव पर स्थापित करना होगा। वेदों का वाङ्मय विशाल है, किन्तु वेदों का नब्बे प्रतिशल अंश इस समय उपलब्ध नहीं है। विशेष-विशेष परिवार में एक-एक वेदांश थे। उन परिवारों का लोप हो जाने से वे वेदांश भी लुप्त हो गये, किन्तु जो इस समय भी मिलते हैं, वे भी इस जैसे कमरे में समा नहीं सकते। ये वेद अत्यन्त प्राचीन तथा अतिसरल भाषा में लिखे गये हैं। वेदों का व्याकरण भी इतना अस्पष्ट है कि बहुतों के विचार में वेदों के कई अंशों का कोई अर्थ ही नहीं निकलता।

इसके बाद स्वामीजी ने वेद के दो भागों – कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड – की विस्तृत समीक्षा की। कर्मकाण्ड से संहिता और ब्राह्मण का बोध होता है। ब्राह्मणों में

यज्ञ आदि का वर्णन है। संहिता अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, जगती प्रभृति छन्दों में रचित गेय पद हैं। साधारणतः उनमें इन्द्र, वरुण अथवा अन्य किसी देवता की स्तुति है। इस पर प्रश्न यह उठा, ये देवता कौन थे? इसके सम्बन्ध में अनेक मत निर्धारित हुए, किन्तु अन्यान्य मतों द्वारा वे मत खण्डित कर दिये गये। ऐसा बहुत दिनों तक चलता रहा।

इसके बाद स्वामीजी ने उपासनाप्रणाली सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं की चर्चा की। बेबिलोन के प्राचीन निवासियों की आत्मा के सम्बन्ध में यह धारणा थी कि वह केवल एक प्रतिरूप देह (double) मात्र है, उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता और वह देह मूल देह से अपना सम्बन्ध कदापि विच्छिन्न नहीं कर सकती। इस 'प्रतिरूप' देह को भी मूल देह की भांति क्षुधा, तृष्णा, मनोवृत्ति आदि के विकार होते हैं, ऐसा उनका विश्वास था; साथ ही यह भी विश्वास था कि मृत मूल देह पर किसी प्रकार का आघात करने से 'प्रतिरूप' देह भी आहत होगी। मूल देह के नष्ट होने पर प्रतिरूप देह भी नष्ट हो जाएगी। इसलिए मृत शरीर की रक्षा करने की प्रथा आरम्भ हुई। इसी से ममी, समाधि, मन्दिर, कब्र आदि की उत्पत्ति हुई। मिस्र और बेबिलोन के निवासी एवं यहूदियों की विचारधारा इससे अधिक अग्रसर न हो सकी, वे आत्मतत्त्व तक नहीं पहुंच सके।

प्रो० मैक्समूलर का कहना है कि ऋग्वेद में पितरपूजा का सामान्य चिन्ह भी नहीं दिखाई पडता। ममी आंख फाड़े हुए हम लोगों की ओर देख रहे हैं, ऐसा बीभत्स और भयावह दृश्य भी वेदों में नहीं मिलता। देवता मनुष्यो के प्रति मित्रभाव रखते हैं? उपास्य और उपासक का सम्बन्ध सहज और सौम्य है। उसमें किसी प्रकार की म्लानता का भाव नहीं हैं, उनमें सहज आनन्द और सरल हास्य का अभाव नहीं हैं। स्वामीजी ने कहा, वेदों की चर्चा करते समय मानो मैं देवताओं की हास्यध्वनि स्पष्ट सुनता हूं। वैदिक ऋषिगण अपने सम्पूर्ण भाव भाषा में भले ही न प्रकट कर सके हों, किन्तु वे संस्कृति और सहृदयता के आगार थे। हम लोग उनकी तुलना में जंगली हैं।

इसके बाद स्वामीजी ने अपने कथन की पुष्टि में अनेक वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया। 'जिस स्थान पर पितृगण निवास करते हैं, उसको उसी स्थान पर ले जाओ – जहां कोई दुःख-शोक नहीं है।' इत्यादि। इसी भांति इस देश में इस धारणा का आविर्भाव हुआ कि जितनी जल्दी शव जला दिया जाएगा, उतना ही अच्छा है। उनको क्रमशः ज्ञात हो गया कि स्थूल देह के अतिरिक्त एक सूक्ष्म देह है, वह सूक्ष्म देह स्थूल देह के त्याग के पश्चात् एक ऐसे स्थान में पहुंच जाती है, जहां केवल आनन्द है, दुःख का नामोनिशान भी नहीं है। सेमेटिक धर्म में भय और कष्ट के भाव प्रचुर हैं। उनकी यह धरणा थी कि यदि मनुष्य ने ईश्वर का दर्शन कर लिया तो वह मर

जाएगा। किन्तु ऋग्वेद का भाव यह है कि ईश्वर के साक्षात्कार के पश्चात् ही मनुष्य का यथार्थ जीवन आरम्भ होता है।

अब यह प्रश्न उठा, ये देवता कौन थे ? इन्द्र समय-समय पर मनुष्यों की सहायता करते हैं। कभी-कभी वे अत्यधिक सोम का पान भी करते हैं। स्थान-स्थान पर उनके लिए सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी प्रभृति विशेषणों का भी प्रयोग हुआ है। वरुण के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की नाना धारणाएं हैं। देवों के चरित्र-सम्बन्धी ये सब वर्णनात्मक मन्त्र कहीं-कहीं बहुत ही अपूर्व हैं और उनकी भाषा भी अत्यन्त उदात्त है। इसके पश्चात् स्वामीजी ने प्रलयवर्णनात्मक विख्यात नासदीय सूक्त – जिसमे अन्धकार का अन्धकार से आवृत होना वर्णित है – सुनाया और कहा, जिन लोगों ने इन सब महान् भावों का इस प्रकार की कविता में वर्णन किया है, वे ही यदि असभ्य और असंस्कृत थे तो फिर हमें अपने को क्या कहना चाहिए ? इन ऋषियों की अथवा उनके देवता इन्द्र, वरुण आदि की किसी प्रकार की समालोचना करने या उनके बारे में कोई निर्णय देने में मैं अक्षम हूं। मानो क्रमागत दृश्य पर दृश्य बदलता चला जा रहा है और सब के पीछे 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' की यवनिका है। इन देवताओं का वर्णन बड़ा ही रहस्यमय, अपूर्व और अति सुन्दर है। वह बिलकुल अगम्य प्रतीत होता है – पर्दा इतना सूक्ष्म है कि मानो स्पर्श मात्र से ही फट जाएगा और मृगमरीचिका की भांति लुप्त हो जाएगा।

आगे चलकर स्वामीजी ने कहा – "मुझे एक बात बहुत सम्भव और स्पष्ट मालूम होती है और वह यह है कि यूनानियों की भांति आर्य लोग भी संसार की समस्या हल करने के लिए पहले बाह्य प्रकृति की ओर उन्मुख हुए – सुन्दर रमणीय बाह्य प्रकृति भी प्रलोभित करके धीरे-धीरे बाह्य-जगत् में ले गयी। किन्तु भारत की यही विशेषता है कि जिस वस्तु में कुछ उदात्तता नहीं होती उसका यहां कुछ मूल्य ही नहीं होता। मृत्यु के पश्चात् क्या होता है, इसकी यथार्थ तात्त्विक विवेचना साधारणतः यूनानियों के मन में उठी ही नहीं। किन्तु भारत में आरम्भ से ही यह प्रश्न बार-बार पूछा जा रहा है – 'मैं कौन हूं ? मृत्यु के पश्चात् मेरी क्या अवस्था होगी ?' यूनानियों के मत में मनुष्य मरकर स्वर्ग जाता है। स्वर्ग जाने का क्या अर्थ है ? सब कुछ के बाहर जाना; भीतर कुछ नहीं है। सब कुछ केवल बाहर है। उनका लक्ष्य केवल बाहर की ओर था, केवल इतना ही नहीं, मानो वे स्वयं भी अपने आपे से बाहर थे; और उन्होंने सोचा, जिस समय वे एक ऐसे स्थान में जा पहुंचेंगे जो बहुत कुछ इसी संसार की भांति है, किन्तु जहां इस संसार के दुःख-क्लेश का सर्वथा अभाव है, तभी उन्हें ईप्सित सभी वस्तुएं प्राप्त हो जाएंगी और वे तृप्त हो जाएंगे। उनकी धर्म-सम्बन्धी

भावना इसके और ऊपर नहीं उठ सकी। किन्तु हिन्दुओं का मन इतने से तृप्त नहीं हुआ। उनके विचार में स्वर्ग भी स्थूल जगत् के अन्तर्गत है। हिन्दुओं का मत है कि जो कुछ संयोगोत्पन्न है उसका विनाश अवश्यम्भावी है। उन्होंने बाह्य प्रकृति से पूछा, 'आत्मा क्या है, इसे क्या तुम जानती हो ?' उत्तर मिला, 'नहीं।' प्रश्न हुआ, 'क्या कोई ईश्वर है ?' प्रकृति ने उत्तर दिया, 'मैं नहीं जानती।' तब वे प्रकृति से विमुख हो गये और समझने लगे कि बाह्य प्रकृति कितनी ही महान् और भव्य क्यों न हो, वह देश-काल की सीमा से आबद्ध है। तब उन्हें एक अन्य वाणी सुनाई देने लगी – नये उदात्त भावों की धारणा उनके मन में उदित हुई यह वाणी थी, 'नेति, नेति' – 'यह नहीं, यह नहीं' – उस समय विभिन्न देवगण एक हो गये; सूर्य, चन्द्र, तारा, इतना ही क्यों, समग्र ब्रह्माण्ड एक हो गया – उस समय इस नूतन आदर्श पर उनके धर्म का आध्यात्मिक आधार प्रतिष्ठित हुआ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।

—कठोपनिषद् 3। 1।।

– "वहां सूर्य प्रकाशित नहीं होता, न चन्द्र, न तारा, न विद्युत, फिर इस भौतिक अग्नि का तो कहना ही क्या! उसके प्रकाशमान होने से सब कुछ प्रकाशित होता है, उसके प्रकाश से ही सब चीजे प्रकाशित हैं।'' उसी सीमाबद्ध, अपरिपक्व व्यक्तिविशेष, सब के पाप-पुण्यों का विचार करनेवाले क्षुद्र ईश्वर की धारणा शेष नहीं रही, अब बाहर का अन्वेषण समाप्त हुआ, अपने भीतर अन्वेषण आरम्भ हुआ। इस भांति उपनिषद् भारत के बाईबिल हो गये। इन उपनिषदों का यह विशाल साहित्य है; और भारत में जो विभिन्न मतवाद प्रचलित हैं, सभी उपनिषदों की भित्ति पर प्रतिष्ठित हुए।

इसके बाद स्वामीजी ने द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत मतों का वर्णन करके उनके सिद्धान्तों का निम्नलिखित कथन से समन्वय किया। उन्होंने कहा : इनमें मानो एक-एक सोपान है – एक सोपान पर चढ़ने के बाद परवर्ती सोपान पर चढ़ना होता है, सब के अन्त में अद्वैतवाद की स्वाभविक परिणति है, और अन्तिम सोपान है 'तत्त्वमसि'। उन्होंने बताया कि प्राचीन भाष्यकार, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य आदि भी उपनिषद् को ही एकमात्र प्रमाण मानते थे, तथापि सभी इस भ्रम में पड़े थे कि उपनिषद् एक ही मत की शिक्षा देते हैं। सब ने गलतियां की हैं। शंकराचार्य इस भ्रम में पड़े थे कि सब उपनिषदों में केवल अद्वैतवाद की शिक्षा है, दूसरा कुछ है ही नहीं। इसलिए जिस स्थान पर स्पष्ट द्वैतभावात्मक श्लोक मिलते हैं उन्होंने अपने मत की पुष्टि के लिए खींच-तानकर उनका विकृत अर्थ किया। रामानुजाचार्य

और मध्वाचार्य ने भी शुद्ध अद्वैतभाव-प्रतिवादक वेदांशों की द्वैतपरक व्याख्या करके वैसी ही भूल की है। यह सर्वथा सत्य है कि उपनिषद् एक तत्त्व की शिक्षा देते हैं, किन्तु इस तत्त्व में सोपानारोहण की भांति शिक्षा दी गयी है। इसके बाद स्वामीजी ने कहा कि यह खेद की बात है कि वर्तमान भारत में धर्म का मूलतत्त्व नहीं रह गया है, सिर्फ थोड़े बाह्य अनुष्ठान मात्र शेष बचे हैं। भारतवासी इस समय न तो हिन्दू ही हैं, और न वेदान्ती ही। वे केवल छुआछूत मत के पोषक हैं। रसोईघर ही उनके मन्दिर हैं और रसोई की हंड़िया और बर्तन ही उनके देवता हैं। इस स्थिति का अन्त होना ही चाहिए; और जितना शीघ्र इसका अन्त हो, उतना ही हमारे धर्म के लिए अच्छा है। उपनिषद् अपनी महिमा में उद्‌भासित हों और साथ ही विभिन्न सम्प्रदायों में चल रहे विवाद की इति भी हो जाए।

शरीर स्वस्थ न होने से इतना ही बोलकर स्वामीजी थक गये। अत: उन्होंने आध घंटे विश्राम किया। उनके व्याख्यान का शेषांश सुनने के लिए श्रोतागण इस बीच धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते रहे। स्वामीजी बाहर आये और उन्होंने फिर आधे घंटे तक भाषण किया। उन्होंने समझाया कि बहुत्व में एकत्व की खोज को ही ज्ञान कहते हैं और किसी विज्ञान का चरम उत्कर्ष तक माना जाता है, जब सारे अनेकत्व में इस एकत्व का अनुसंधान पूरा हो जाता है। यह नियम भौतिक विज्ञान तथा आध्यात्मिक विज्ञान दोनों पर समान रूप से लागू होता है।

वेदान्त दर्शन – (1)

(25 मार्च, सन् 1896 ई० को हॉर्वर्ड विश्वविद्यालय की स्नातक दर्शन परिषद् में दिया गया भाषण)

वेदान्त के अन्तर्गत सभी दार्शनिक सम्प्रदाय आते हैं। वेदान्त की कई प्रगतिशील व्याख्याएं हुई हैं। जिनमें कुछ द्वैतवादी व्याख्याएं तो कुछ अद्वैतवादी व्याख्याएं हैं। किसी वेद के अन्त को ही 'वेदान्त' कहा जाता है। वेद हिन्दुओं के आदि धर्मग्रंथ हैं।[1] कभी-कभी पाश्चायत्य देशों में 'वेद' को केवल ऋचाएं और कर्मकाण्ड ही समझा जाता है। किन्तु अब इनको अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता, और भारत में साधारणतः वेद शब्द से वेदान्त ही समझा जाता है। यहां के टीकाकार जब धर्मग्रन्थों के कुछ उद्धृत करना चाहते हैं तो साधारणतः वे वेदान्त से ही उद्धृत करते हैं। ये लोग वेदान्त को श्रुति[2] कहते हैं। ऐसी बात नहीं है, कि जो ग्रन्थ वेदान्त के नाम से विख्यात हैं, उनकी रचना वैदिक कर्मकाण्ड के बाद हुई। ईशोपनिषद् जो यजुर्वेद का चालीसवां आध्याय है, वेदों के प्राचीनतम अंशों में से एक है। ऐसे

---

1. वेद दो अंशों में विभक्त है–कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड के अन्तर्गत ब्राह्मणो के प्रख्यात मन्त्र तथा अनुष्ठान आते हैं। जिन ग्रंथों में अनुष्ठानादि से भिन्न आध्यात्मिक विषयों का विवरण है, उन्हें उपनिषद् कहते हैं। उपनिषद् ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत हैं। सभी उपनिषदों की रचना वेदों से पृथक् हुई हो, ऐसा नहीं है। कुछ उपनिषद् तो ब्राह्मणों के अन्तर्गत हैं। कम से कम एक उपनिषद् तो संहिता भाग या ऋचाओं के ही अन्तर्गत है। कभी-कभी उपनिषद् शब्द उन ग्रन्थों के लिए भी प्रयुक्त होता है, जो वेद के अन्तर्गत नहीं है, जैसे गीता। किन्तु साधारणतः उपनिषद् शब्द का प्रयोग वेदों के मध्य विकीर्ण दार्शनिक प्रकरणों के लिए ही होता है। इन दार्शनिक प्रकरणों का संकलन हुआ है और उसे वेदान्त कहते हैं।
2. 'श्रुति' का अर्थ है 'जो सुना हुला है।' यद्यपि श्रुति के अन्तर्गत समस्त वैदिक साहित्य आ जाता है, फिर भी टीकाकार श्रुति शब्द का मुख्यतः उपनिषदों के लिए ही प्रयोग करते हैं।

भी उपनिषद् हैं, जो ब्राह्मणों के अंश हैं। अन्य उपनिषद्[3] न तो ब्राह्मणों के, न वेद के अन्य भागों के ही अन्तर्गत हैं। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए, कि वे वेद के अन्य भागों से पूर्णतः स्वतंत्र हैं। यह तो हम जानते हैं कि वेद के अनेक भाग सर्वथा अप्राप्य हैं तथा अनेक ब्राह्मण भी नष्ट हो चुके हैं। अतः यह सम्भव है कि जो उपनिषद् अब स्वतंत्र ग्रन्थ जैसे प्रतीत होते हैं, वे ब्राह्मणों के अन्तर्गत रहे हों। ऐसे ब्राह्मण-ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं, मात्र उपनिषद् अवशिष्ट हैं। इन उपनिषदों को आरण्यक भी कहते हैं।

व्यावहारिक रूप में वेदान्त ही हिन्दुओं का धर्मग्रन्थ है। जितने भी आस्तिक दर्शन हैं, सभी इसी को अपना आधार मानते हैं। यदि उनके उद्देश्य के अनुकूल होता है, तो बौद्ध तथा जैन भी वेदान्त को प्रमाण मानकर उससे एक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि भारत के सभी आस्तिक दर्शन वेदों पर आधारित हैं, फिर भी उनके नाम भिन्न-भिन्न हैं। अन्तिम दर्शन, जो व्यास का है, पूर्व प्रतिपादित दर्शनों की अपेक्षा वैदिक विचारों पर अधिक आधारित है। इसमें सांख्य और न्याय जैसे प्राचीन दर्शनों का वेदान्त के साथ यथासम्भव सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। इसलिए इसे विशेष रूप से वेदान्त कहा जाता है। आधुनिक भारतीयों के अनुसार व्यास-सूत्र ही वेदान्त दर्शन का आधार माना जाता है। विभिन्न भाष्यकारों ने व्यास के सूत्रों की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की है। सामान्यतः अभी भारत में तीन प्रकार के व्याख्याकार हैं।[4] उनकी व्याख्याओं से तीन दार्शनिक पद्धतियों एवं सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई है – द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत। अधिकांश भारतीय द्वैत एवं विशिष्टाद्वैत के अनुयायी

---

3. उपनिषदों की संख्या 108 मानी जाती है। निश्चित रूप से इनका समय निर्धारण नहीं किया जा सकता। किन्तु यह तो निश्चित है कि वे बौद्ध मत से प्राचीन हैं। यह ठीक है कि कुछ गौण उपनिषदों में ऐसे निर्देश हैं, जिनसे उनके अर्वाचीन होने का संकेत मिलता है। किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि वे उपनिषद् अर्वाचीन हैं। संस्कृत साहित्य के प्राचीन मूल ग्रन्थों को सम्प्रदायवादी अपने-अपने मतों की उत्कृष्टता स्थापित करने के लिए परिवर्तित करते रहे हैं।

4. व्याख्याएं कई प्रकार की होती हैं–भाष्य, टीका, टिप्पणी, चूर्णिका आदि। भाष्य को छोड़ अन्य सभी में मूल ग्रन्थ या उसके कठिन शब्दों की व्याख्या की जाती है। भाष्य सही अर्थ में व्याख्या नहीं है। इसमें मूल ग्रन्थ के आधार पर एक विचार-पद्धति का स्पष्टीकरण किया जाता है। भाष्य का उद्देश्य शब्दों की व्याख्या नहीं, वरन् किसी विचार-पद्धति का प्रतिपादन करना होता है। भाष्यकार मूल ग्रन्थों को प्रमाण मानकर अपनी विचार-पद्धति को स्पष्ट करता है।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

हैं। अद्वैतवादियों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। मैं इन तीन सम्प्रदायों की विचार-पद्धतियों की चर्चा तुम्हारे सम्मुख करना चाहता हूं। इसके पहले कि मैं ऐसा करूं, मैं तुमको यह बतला देना चाहता हूं कि इन तीनों वेदान्त दर्शनों की मनोवैज्ञानिक पद्धति सांख्य की मनोवैज्ञानिक पद्धति के समान ही है। सांख्य दर्शन का मनोविज्ञान न्याय एवं वैशषिक दर्शनों के मनोविज्ञानों के सदृश है। इनके मनोविज्ञानों में केवल गौण विषयों में भेद पाया जाता है।

सभी वेदान्ती तीन बातों में एक मत है। ये सभी ईश्वर को, वेदों के श्रुत रूप को तथा सृष्टि-चक्र को मानते हैं। वेदों की चर्चा तो हम कर चुके हैं। सृष्टि सम्बन्धी मत इस प्रकार है। समस्त विश्व का जड़पदार्थ आकाश नामक मूल जड-सत्ता से उद्भूत हुआ है। गुरुत्वाकर्षण, आकर्षण या विकर्षण, जीवन आदि जितनी शक्तियां हैं, वे सभी आदि शक्ति प्राण से उद्भूत हुई है। आकाश पर प्राण का प्रभाव पडने से विश्व का सर्जन या प्रक्षेपण[5] होता है। सृष्टि के प्रारम्भ में आकाश स्थिर तथा अव्यक्त रहता है। बाद में प्राण ज्यों-ज्यों अधिकाधिक क्रियाशील होता है, त्यों-त्यों अधिकाधिक स्थूल पदार्थ उत्पन्न होते जाते हैं, यथा पेड, पौधे, पशु, मनुष्य, नक्षत्र आदि। कालान्तर में सृष्टि की प्रगति समाप्त हो जाती है और प्रलय प्रारम्भ होता है। सभी पदार्थ सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपों को प्राप्त करते हुए मूलभूत आकाश एवं प्राण में परिवर्तित हो जाते हैं। तब नया सृष्टि-चक्र प्रारम्भ होता है। आकाश एवं प्राण के परे भी एक सत्ता है,

---

वेदान्त की अनेक व्याख्याएं हुई है। इसके विचारों की अन्तिम अभिव्यक्ति व्यास के दार्शनिक सूत्रों में हुई है। वेदान्त मत का प्रामाणिक ग्रन्थ उत्तर-मीमांसा हैं। उत्तर मीमांसा हिन्दू धर्मशास्त्र का सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है। कट्टर विरोधी धर्म-सम्प्रदायों ने भी विवश होकर व्यास की उक्तियों को अपनी विचार-पद्धति के साथ मिलाने का प्रयत्न किया है। अति प्राचीनकाल में ही वेदान्त के व्याख्याकार तीन प्रसिद्ध हिन्दू सम्प्रदायों में विभक्त हो गये। इन सम्प्रदायों के नाम द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत हैं। अति प्राचीन व्याख्याएं तो शायद लुप्त हो गयी हैं, किन्तु अर्वाचीन काल में बौद्ध-धर्म के उत्थान के बाद शंकर, रामानुज तथा मध्व ने उनका पुनरुद्धार किया है। शंकर ने अद्वैत को, रामानुज ने विशिष्टाद्वैत को तथा मध्व ने द्वैत को पुनः संस्थापित किया है। भारतीय सम्प्रदायों के पारस्परिक भेद का कारण उनकी विचार-पद्धति है। कर्मानुष्ठान के बारे में उनमें कम भेद हैं, क्योंकि उनके धर्मशास्त्र का आधार एक ही है।

5. अंग्रेजी भाषा का 'क्रियेशन' (creation) तथा संस्कृत का प्रक्षेपण (projection) समानार्थक शब्द हैं। भारत का कोई भी मत पाश्चात्य देशों के उस सृष्टिवाद को नहीं मानता, जिसके अनुसार असत् से सत् की उत्पत्ति मानी जाती है। हम सृष्टि से जो अर्थ समझते हैं, वह उसी का प्रक्षेपण है, जो पहले ही विद्यमान था।

जिसे महत् कहते हैं। महत् आकाश एवं प्राण का निर्माण नहीं करता, स्वयं उनका रूप धारण कर लेता है।

अब मैं मन, आत्मा और ईश्वर के सम्बन्ध में चर्चा करूंगा। सर्वमान्य सांख्य दर्शन के अनुसार चाक्षुष-प्रत्यक्ष के लिए चक्षु जैसे उपकरणों की आवश्यकता होती है। इन उपकरणों के पीछे चाक्षुष स्नायु-तंतु तथा उसके स्नायु-केन्द्र – दर्शनेन्द्रिय हैं। ये बाह्य उपकरण नहीं हैं, फिर भी इनके बिना आंखें देख नहीं सकती। प्रत्यक्ष के लिए अन्य उपकरण की भी आवश्यकता होती है। इन्द्रिय के साथ मन का संयोग भी आवश्यक है। फिर बुद्धि से भी संवेदना का संयोग आवश्यक है, क्योंकि मन की वह शक्ति जिससे रूप निर्धारण करने वाली प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, बुद्धि ही है। बुद्धि के कारण जब प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, तब साथ ही साथ बाह्य-जगत् तथा अहंकार प्रतिभासित हो उठते हैं; और तब इच्छा उत्पन्न होती है। मन के स्वरूप का वर्णन यहीं पूरा नहीं होता। जैसे प्रकाश के आनुक्रमिक संवेगों से रचित चित्र को सम्पूर्ण बनाने के लिए उसका किसी स्थिर आधार पर संघटित होना आवश्यक है, उसी प्रकार मन के लिए यह आवश्यक है कि उसके सभी प्रत्यय सम्मिलित हों और शरीर एवं मन से अपेक्षाकृत अधिक स्थिर सत्ता पर उनका प्रक्षेपण हो। ऐसी स्थिर सत्ता को पुरुष या आत्मा कहते हैं।

सांख्य दर्शन के अनुसार मन की प्रतिक्रियात्मक शक्ति, जिसे बुद्धि की संज्ञा दी जाती है, महत् से उद्भूत होती है। ऐसा कहा जा सकता है कि बुद्धि महत का परिवर्तित रूप है या उसकी अभिव्यक्ति है। महत् स्पंदनशील बुद्धि में परिवर्तित होता है। बुद्धि का एक अंश इन्द्रियों में तथा दूसरा अंश तन्मात्राओं में परिवर्तित होता है। इन सबके संयोग से विश्व का निर्माण होता है। सांख्य के अनुसार महत् के परे भी सत् की एक अवस्था है, जिसे अव्यक्त कहते हैं। इस अवस्था में मन का अस्तित्व नहीं रहता, केवल इसके कारण विद्यमान रहते हैं। सत् की इस अवस्था को प्रकृति भी कहते हैं। प्रकृति से पुरुष सतत भिन्न होता है। सांख्य के अनुसार पुरुष ही आत्मा है, जो निर्गुण तथा सर्वव्यापी होता है। पुरुष कर्ता नहीं, द्रष्टा मात्र है। पुरुष का स्वरूप समझाने के लिए स्फटिक का उदाहरण दिया जाता है स्फटिक स्वयं बिना रंग का होता है, किन्तु यदि किसी प्रकार का रंग उसके समीप रखा जाता है तो वह उसी प्रकार के रंग में रंगा दिखाई पड़ता है। वेदान्ती सांख्य की आत्मा एवं जगत् सम्बन्ध मतों को नहीं मानते। सांख्य के अनुसार पुरुष एवं प्रकृति के बीच बड़ा पार्थक्य है। इस पार्थक्य को दूर करना आवश्यक है। सांख्य इसे दूर करना चाहता है, पर सफल नहीं होता। जब पुरुष वास्तव में रंगहीन है, तो उस पर प्रकृति का रंग कैसे चढ़ सकता है ? इसलिए वेदान्ती मौलिक

स्तर पर ही यह मानते हैं कि पुरुष और प्रकृति अभिन्न हैं।[6] द्वैतवादी भी यह स्वीकार करते हैं कि आत्मन् या ईश्वर संसार का केवल निमित्त कारण ही नहीं, उपादान कारण भी है। किन्तु यथार्थ में वे ऐसा केवल कहते हैं। उनके कहने का अभिप्राय दूसरा होता है, क्योंकि उनके विचारों से जो सही परिणाम निकलते हैं, उनको वे स्वीकार नहीं करना चाहते। वे कहते हैं कि विश्व में तीन प्रकार की सत्ताएं हैं – ईश्वर, आत्मा और प्रकृति। प्रकृति और आत्मा मानो ईश्वर का शरीर हैं। इस कारण यह कहा जा सकता है कि ईश्वर और प्रकृति अभिन्न हैं। किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से तो प्रकृति और आत्माओं में भिन्नता रह ही जाती है। सृष्टि-चक्र के प्रारम्भ होने पर वे व्यक्त रूप धारण कर लेती हैं और सूक्ष्मावस्था में ही रहती हैं। अद्वैत वेदान्ती आत्मा की इस व्याख्या को नहीं मानते और इनके मत का समर्थन तो प्राय: सभी उपनिषदों में पाया जाता है। उपनिषदों के आधार पर ही वे अपने दर्शन का प्रतिपादन करते हैं। सभी उपनिषदो का विषय एक है, उद्देश्य एक है – निम्नलिखित विचार को स्थापित करना: 'मिट्टी के एक टुकडे के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेने से हम संसार की सभी मिट्टी के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार अवश्य ऐसा कोई तत्त्व है, जिसको जान लेने से हम संसार की सभी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर ले सकते हैं। वह तत्त्व क्या है ? –(छान्दोग्योपनिपद्।।6।1।4।।) अद्वैतवादी समस्त विश्व को एक सामान्य रूप देना चाहते हैं, विश्व के एकमात्र तत्त्व को बतलाना चाहते हैं। उनका मूल सिद्धान्त यह है कि सारा विश्व एक है और एक ही सत् नाना रूपों में प्रतिभासित होता है। उनके अनुसार सांख्य की प्रकृति का अस्तित्व तो है, परन्तु प्रकृति ईश्वर से अभिन्न है। विश्व, मनुष्य, जीवात्मा तथा जितनी भी अन्य सत्ताएं हैं, सभी सत् के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। मन तथा महत् उसी सत् के व्यक्त रूप हैं। इस मत के विरोध में कहा जा सकता है कि यह तो सर्वेश्वरवाद (pantheism) है। यह भी प्रश्न उठ सकता है कि अपरिवर्तनशील सत् (विदान्ती सत् को ऐसा ही मानते हैं, क्योंकि जो निरपेक्ष है, वह अपरिवर्तनशील है।) परिवर्तनशील तथा नाशवान में कैसे परिवर्तित हो सकता है ? इस समस्या के समाधान में (अद्वैत) वेदान्ती विवर्तवाद के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते

---

6. वेदान्त और सांख्य में परस्पर विरोध बहुत कम है। वेदान्त की ईश्वर-कल्पना सांख्य की पुरुष-कल्पना से निकली है। सभी दर्शन सांख्य के मनोविज्ञान को मानते हैं। वेदान्त और सांख्य दोनों ही शाश्वत पुरुष को मानते हैं। भेद केवल इतना है कि सांख्य अनेक पुरुषों को मानता है। सांख्य के अनुसार विश्व के अस्तित्व के लिए किसी अन्य सत्ता की आवश्यकता नहीं है। वेदान्त के अनुसार आत्मा एक है, जो अनेक जैसी प्रतिभासित होती है। इस एक विचार को छोड़कर वेदान्त के अन्य विचार तो प्राय: सांख्य पर ही आधारित हैं।

हैं। सांख्य मतानुयायियों तथा द्वैतवादियों के अनुसार समस्त विश्व प्रकृति से उद्भूत हुआ है। कुछ अद्वैतवादियों तथा कुछ द्वैतवादियों के अनुसार सारा विश्व ईश्वर से उत्पन्न हुआ है। किन्तु शंकराचार्य के अनुयायियों के अनुसार (सही अर्थ में ये ही अद्वैतवादी हैं) समस्त विश्व ब्रह्म का प्रातिभासिक रूप है। ब्रह्म विश्व का वास्तविक नहीं, केवल आभासी उपादान कारण है, इस सम्बन्ध में रज्जु और सर्प का प्रसिद्ध उदाहरण दिया जाता है। रज्जु सर्प जैसी आभासित होती है, वह वास्तव में सर्प नहीं है। उसका सर्प में परिवर्तन नहीं होता। इसी तरह सारा विश्व वास्तव में सत् है। सत् का परिवर्तन नहीं होता। हम इसमें जितने भी परिवर्तन पाते हैं, सभी आभास मात्र हैं। ये परिवर्तन देश, काल तथा निमित्त के कारण होते हैं; मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त की दृष्टि से नाम-रूप के कारण होते हैं। नाम और रूप के द्वारा ही एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद किया जाता है। अतः नाम और रूप ही उन वस्तुओं के भेद के कारण हैं। वास्तव में दोनों वस्तुएं एक हैं। (अद्वैत) वेदान्तियों के अनुसार सत् और जगत् (phenomenon) परस्पर भिन्न सत्ताएं नहीं हैं। रज्जु का सर्प जैसा दिखना भ्रमात्मक है। भ्रम के समाप्त होने पर सर्प का दिखना भी समाप्त हो जाता है। अज्ञानवश व्यक्ति जगत् को देखता है, ब्रह्म को नहीं। जब उसे ब्रह्म का ज्ञान होता है, तब उसके लिए जगत् नहीं होता। अज्ञान, जिसे माया कहते हैं, जगत् का कारण है, क्योंकि इसी के कारण निरपेक्ष अपरिवर्तनशील सत् व्यक्त जगत् के रूप में प्रतिभासित होता है। माया शून्य या असत् नहीं है। यह सत् भी नहीं है, क्योंकि निरपेक्ष अपरिवर्तनशील तत्त्व ही एक मात्र सत् है। पारमार्थिक दृष्टि से तो माया को असत् कहा जाना चाहिए, किन्तु इसे असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तब तो इसके कारण जगत् का प्रतिभासित होना भी सम्भव नहीं हो सकता। अतः यह न तो सत् है, न असत् है। वेदान्त में इसे अनिर्वचनीय कहते हैं। यही जगत् का यथार्थ कारण है। ब्रह्म उपादान कारण है और माया नाम-रूप का कारण है। ब्रह्म नाना रूपों में परिवर्तित जैसा प्रतिभासित होता है। इस प्रकार अद्वैतियों के लिए जीवात्मा का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। उनके अनुसार माया ही जीवात्मा के अस्तित्व का कारण है। पारमार्थिक दृष्टि से उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार सत्ता यदि केवल एक है, तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि मैं पृथक् सत्ता हूं और तुम एक पृथक् सत्ता हो ? यथार्थ में हम लोग सभी एक हैं। हमारी द्वैत दृष्टि भी सभी अनिष्ट का कारण है। तभी मैं यह समझता हूं कि मैं संसार से पृथक् हूं, तभी पहले भय उत्पन्न ोता है, और तब दुःख का अनुभव होता है। जहां व्यक्ति दूसरे से सुनता है, दूसरे ो देखता है, वह अल्प है। जहां व्यक्ति दूसरे को देखता नहीं, दूसरे को सुनता नहीं,

वह भूमा है; वह ब्रह्म है। भूमा में परम सुख है, अल्प में नहीं ? –(छान्दोग्योपनिषद्।। 7। 23-4। 1।।)

अद्वैत-दर्शन के अनुसार परम तत्त्व के विघटन से सांसारिक नाम-रूपों के प्रतिभासित होने के कारण मनुष्य का पारमार्थिक स्वरूप छिप जाता है। पर उसमें वास्तविक परिवर्तन कदापि नहीं होता। निम्न से निम्न कीट में तथा उच्च से उच्च मनुष्य में एक ही आध्यात्मिक तत्त्व विद्यमान है। कीट निम्न कोटि का इसलिए है कि उसके देवत्व पर मायाजनित अध्यास अधिक रहता है। जिस पदार्थ में इस तरह का अध्यास सबसे कम रहता है, वह सबसे ऊंची कोटि का होता है। सभी वस्तुओं के पीछे उसी देवत्व का अस्तित्व है, और इसी से नैतिकता का आधार प्रस्तुत होता है। दूसरों को कष्ट नहीं देना चाहिए। हर व्यक्ति को अभिन्न समझकर उसके साथ प्रेम करना चाहिए, क्योंकि समस्त विश्व मौलिक स्तर पर एक है। दूसरे को कष्ट देना अपने आप को कष्ट देना है। दूसरे के साथ प्रेम करना अपने आपसे प्रेम करना है। इसी से अद्वैत नैतिकता का वह सिद्धान्त उद्‌भुत होता है, जिसका समाहार एक आत्मोत्सर्ग शब्द में किया गया है। अद्वैतवादियों के अनुसार जीवात्मा ही दुःखों का कारण है। व्यक्ति-सीमित जीवात्मा के कारण मैं अपने को अन्य वस्तुओं से भिन्न समझता हूं। अतः यही घृणा, ईर्ष्या, दुःख, संघर्ष आदि अनिष्टों का कारण है। इसके परिहार से सभी संघर्ष, सभी दुःख समाप्त हो जाते हैं। अतः इसका परिहार आवश्यक है। निम्न से निम्न सत्ताओं के लिए भी हमें अपने जीवन का उत्सर्ग करने को तत्पर रहना चाहिए। मनुष्य जब एक लघु कीट के लिए अपने जीवन तक का उत्सर्ग करने को तत्पर हो जाता है, तो वह पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है। अद्वैतवादियों के अनुसार पूर्णत्व ही जीवन का अभीष्ट है। मनुष्य जब उत्सर्ग के योग्य हो जाता है, तो उसके अज्ञान का आवरण दूर हो जाता है और वह अपने को पहचान लेता है। जीवन-काल में ही उसे यह अनुभव हो जाता है कि उसमें और संसार में कोई अन्तर नहीं है। कुछ समय के लिए तो ऐसे व्यक्ति के लिए जगत् का नाश हो जाता है और वह समझ लेता है कि उसका वास्तविक स्वरूप क्या है। किन्तु जब तक उसके वर्तमान शरीर का कर्म अवशिष्ट रहता है, तब तक उसे जीवन धारण करते रहना पड़ता है। ऐसी स्थिति में अविद्या का आवरण तो नष्ट हो चुका रहता है, पर शरीर को कुछ अवधि के लिए रहना पड़ता है। इसे वेदान्ती जीवन्मुक्ति कहते हैं। मनुष्य मरीचिका को देखकर कुछ समय के लिए भ्रम में अवश्य पड़ जाता है, किन्तु एक दिन मरीचिका विलीन हो जाती है। बाद में मरीचिका के सम्मुख आने पर भी मनुष्य भ्रम में नहीं पडता। मरीचिका जब पहली बार घटित होती हैं, मनुष्य सत्य और मिथ्या में भेद नहीं

कर सकता। किन्तु जब वह एक बार नष्ट हो जाती है, तब नेत्रादि इन्द्रियों के वर्तमान रहने के कारण मनुष्य उसे देखता तो है, पर उसके कारण भ्रम में नहीं पड़ता। अब तो उसे मरीचिका तथा वास्तविक जगत् के भेद का ज्ञान प्राप्त रहता है। इसीलिए वह मरीचिका के कारण भ्रम में नहीं पड़ता। इस प्रकार अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार व्यक्ति जब अपने-आपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो उसके लिए संसार का मानो लोप हो जाता है। संसार का फिर से प्रत्यक्ष तो होता है, किन्तु अब वह दुःखमय नहीं रह जाता। जो संसार पहले दुख:मय कारागार था, अब वह सच्चिदानन्द हो जाता है। अद्वैत के अनुसार सच्चिदानन्द की अवस्था को प्राप्त करना ही जीवन का अभीष्ट है।

वेदान्त दर्शन – (2)

मनुष्य न तो जन्म लेता है, न मरता है अर्थात् स्वर्ग जाता है ऐसा वेदान्त का कहना है। पुनर्जन्म जन्म को केवल कल्पना मात्र माना गया। क्योंकि इसका सम्बन्ध आत्मा से है। जन्म और मृत्यु ये प्राकृतिक परिवर्तन हैं। प्रमाद के वशीभूत होकर इस परिवर्तन के लिए पुस्तक का उदाहरण अति उपयुक्त है क्योंकि पुस्तक को जब खोला जाता है तो परिवर्तन पुस्तक में ही होता है न कि उसके खोलनेवाले में। इस परिवर्तन को मनुष्य अपने में ही घटने वाला परिर्वतन समझ रहा है।

पुर्नजन्म प्रकृति का क्रम-विकास तथा अन्तःस्थित परमात्मा की अभिव्यक्ति है।

वेदान्त कहता है कि हर जीवन अतीत का प्रतिफलस्वरूप है, और जब हम सम्पूर्ण अतीत पर दृष्टि डाल सकने में सक्षम हो सकेंगे, तब हम मुक्त हो जायेंगे। मुक्त होने की इच्छा बचपन में ही धार्मिक प्रवृत्ति का रूप धारण कर लेती है; और कुछ वर्ष का समय मानो मानव की आंखों में सत्य को स्पष्ट कर देता है। यह जीवन छोडने के बाद जब मनुष्य दूसरे जन्म की प्रतीक्षा में रहता है, तब भी वह प्रपंचमय जगत् के अन्तर्गत ही है।

आत्मा का हम इन शब्दों में वर्णन करते हैं : इसे न तलवार काट सकती है, न भाला छेद सकता है; न आग जला सकती है, न पानी घुला सकता है; यह अविनाशी और सर्वव्यापी है। अतएव इसके लिए रोना क्यों ?

यदि यह अत्यन्त पतित रही है, तो कालक्रम से उन्नत बन जायगी। मूल सिद्धान्त यह है कि शाश्वत मुक्ति पर सबका अधिकार है। उसे सभी अवश्य प्राप्त करेंगे। मोक्ष की इच्छा से प्रेरित होकर हमें प्रयत्न करना पड़ता है। मोक्ष की इच्छा को छोड़कर अन्य सभी इच्छाएं भ्रमात्मक हैं। वेदान्ती कहता है कि हर शुभ कार्य इस मुक्ति की ही अभिव्यक्ति है।

मैं यह नहीं मानता कि एक ऐसा भी समय आयेगा, जब संसार से समस्त अशुभ लुप्त हो जायगा। यह कैसे हो सकता है ? यह प्रवाह तो चलता ही रहेगा। जलराशि एक छोर से निकलती रहती है, पर दूसरे छोर से जलसमूह आता भी रहता है।

वेदान्त कहता है कि तुम पवित्र और पूर्ण हो। एक अवस्था ऐसी भी है, जो कि

पाप और पुण्य से परे है, और वही तुम्हारा प्रकृत स्वरूप है। वह अवस्था पुण्य से भी ऊंची है। पुण्य में भी भेद-ज्ञान है, किन्तु पाप से कम।

हमारे यहां पाप विषयक कोई सिद्धान्त नहीं। हम तो उसे अज्ञान कहते हैं।

जहां तक नीतिशास्त्र, अन्य लोगों के प्रति व्यवहार आदि का सम्बन्ध है – यह सब प्रपंचमय जगत् के अन्तर्गत है। सत्य तो यह है कि परमात्मा में अज्ञान जैसी किसी वस्तु के आरोप करने की बात सोची ही नहीं जा सकती। उसके सम्बन्ध में हम कहते हैं कि वह सत्-चित् आनन्दस्वरूप है। उस अतीन्द्रिय, निरपेक्ष सत्ता को विचार और वाणी द्वारा व्यक्त करने का हमारा हर प्रयत्न उसे इन्द्रियग्राह्य और सापेक्ष बना देगा, और इस तरह उसके वास्तविक स्वरूप को नष्ट कर देगा।

एक बात हमें ध्यान में रखनी होगी, और वह यह कि इन्द्रियग्राह्य जगत् में 'मैं ब्रह्म हूं।' इस प्रकार का कथन नहीं किया जा सकता। यदि तुम इस नाम-रूपमय जगत् में आबद्ध हो और साथ ही अपने को ब्रह्म होने का भी दावा करो, तो तुम्हें अनाचार करने से कौन रोक सकता है ? अतएव तुम्हारे ब्रह्म होने की बात इन्द्रियातीत जगत् के विषय में ही लागू हो सकती है। यदि मैं ब्रह्म हूं, तो इन्द्रियवृत्तियों से मैं परे हूं और पाप कर ही नहीं सकता। निश्चय ही, नैतिकता मनुष्य का चरम लक्ष्य नहीं है, वह तो मोक्ष-प्राप्ति का साधन मात्र है। वेदान्त कहता है कि इस ब्रह्म-तत्त्व की अनुभूति का एक मार्ग 'योग' है। योग अपने आन्तरिक मुक्तस्वभाव की अनुभूति से होता है, और इस अनुभूति के सामने सभी वस्तुएं पराभूत हो जाती हैं। नैतिकता और आचार सभी अपने सम्यक् स्थान में विन्यस्त हो जायेंगे।

अद्वैत-दर्शन के विरोध में जितनी भी आलोचनाएं की गयी हैं, उन सबका सारांश यह है कि उससे इन्द्रिय-सुखों के भोग में बाधा पहुंचती है। हम हर्षपूर्वक इस बात को स्वीकार करते हैं।

वेदान्त दर्शन परम निराशावाद को लेकर प्रारम्भ होता है और उसकी समाप्ति होती है यथार्थ आशावाद में। हम ऐंद्रिक आशावाद को अस्वीकार करते हैं, परन्तु, इन्द्रियातीत आत्मानुभूति पर आधारित सच्चे आशावाद को स्वीकार करते हैं। यथार्थ सुख इन्द्रियों में नहीं, इन्द्रियों से परे है, और हर व्यक्ति में वह विद्यमान है। संसार में हम जो तथाकथित आशावाद देखते हैं, वह हमें इन्द्रियपरायण बनाकर विनाश की ओर ले जाता है।

हमारे दर्शन में निषेध (नेति-नेति) का बहुत बड़ा महत्त्व है। निषेधीकरण में वास्तविक आत्मा का अस्तित्व-बोध निहित है। ऐंद्रिक जगत् को अस्वीकार करने के दृष्टिकोण से वेदान्त निराशावादी है, पर इन्द्रियातीत सच्चे जगत् को स्वीकार करने

के दृष्टिकोण से वह आशावादी है।

यद्यपि वेदान्त कहता है कि बुद्धि से भी परे कोई वस्तु है, तो भी वह मनुष्य की तर्क-शक्ति को उचित मान्यता प्रदान करता है – उसकी अवहेलना नहीं करता; क्योंकि उस वस्तु की प्राप्ति का मार्ग बुद्धि से होकर ही जाता है।

समस्त पुराने अंधविश्वासों को भगा देने के लिए तर्क-बुद्धि की आवश्यकता है; और अन्त में जो बचा रहता है, वही वेदान्त है। संस्कृत में एक सुन्दर कविता है, जिसमें एक साधु पुरुष अपने आप से कहता है, 'मेरे मित्र, तू क्यों रोता है ! तेरे लिए न भय है, न मृत्यु। तू क्यों रोता है ? तेरे लिए कोई दुःख-कष्ट नहीं है, क्योंकि तू तो इस अनन्त-नीलाकाश की भांति स्वभावतः अपरिवर्तनशील है। नील-गगन के सामने रंग-बिरंगे बादल आते हैं, क्षण भर खेल करते हैं, और फिर चले जाते हैं, पर आकाश ज्यों का त्यों ही रहता है। तुझे भी केवल अज्ञानरूपी बादलों को भगा देना है।'

हमें केवल द्वार खोलकर रास्ता साफ कर देना है। पानी अपने आप वेग से आकर भर जायगा, क्योंकि वह वहां पहले ही से विद्यमान है।

मानव मन का अधिकांश चेतन एवं कुछ अंश अचेतन होता है, और उसके लिए चेतन से परे चले जाना सम्भव है। यथार्थ मनुष्य बन जाने पर ही हम तर्क-बुद्धि से अतीत हो सकते हैं। 'उच्चतर' और 'निम्नतर' शब्दों का प्रयोग हम केवल प्रपंचमय जगत् में ही कर सकते हैं। इसका अतीन्द्रिय जगत् के विषय में प्रयोग करना सहज ही विरोधाभास है, क्योंकि वहां विभेद नहीं है। इस प्रपंचमय जगत् में मनुष्य-योनि उच्चतम है। वेदान्ती कहता है कि मानव देवता से भी ऊंचा है। समस्त देवताओं को एक न एक दिन मरना ही होगा, और पुनः मनुष्य-जन्म लेना होगा – केवल मनुष्य शरीर में ही वे पूर्णत्व लाभ कर सकेंगे।

यह सत्य है कि हम एक विचार-प्रणाली की – एक मत या वाद की – सृष्टि करते हैं, किन्तु हमें यह मानना पड़ेगा कि वह पूर्ण नहीं है, क्योंकि सत्य सभी प्रणालियों से परे की चीज है। हम अपने उस मत की अन्य मतों से तुलना करने को तैयार हैं, और यह सिद्ध भी कर सकते हैं कि वही एकमात्र युक्तिसंगत मत हो सकता है; पर वह पूर्ण नहीं है, क्योंकि युक्ति स्वयं अपूर्ण है। तो भी, वही एकमात्र युक्तिसंगत विचार-प्रणाली है, जिसकी धारणा मानव मन कर सकता है।

यह कुछ अंशों में सत्य है कि किसी भी मत के परिपुष्ट होने के लिए उसका प्रचार होना चाहिए। किसी भी मत का उतना प्रचार नहीं हुआ, जितना कि वेदान्त का। अभी भी शिक्षा व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा ही होती है। बहुत-सा पढ़ लेने से ही 'मनुष्य' का निर्माण नहीं होता। जितने भी यथार्थ मनुष्य हो चुके हैं, वे सब व्यक्तिगत

सम्पर्क द्वारा ही बने थे। यह सत्य है कि ऐसे यथार्थ मनुष्य बहुत कम संख्या में हैं, पर उनकी संख्या बढ़ेगी। तो भी, यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि एक ऐसा भी दिन आयेगा, जब हम सबके सब दार्शनिक बन जायेंगे। हमारा इस बात में विश्वास नहीं कि कभी ऐसा समय आयेगा, जब केवल सुख ही सुख रहेगा और दुःख का सर्वथा अभाव हो जायगा।

हमारे जीवन में कुछ क्षण ऐसे आते हैं, जब हमें परमानन्द की झलक मिल जाती है, और उस समय हम न कुछ लेना चाहते हैं, न देना – उस महदानन्द की अनुभूति की अवस्था में हम उस आनन्द को छोड़ और कुछ भी अनुभव नहीं करते। पर ये क्षण लुप्त हो जाते हैं और पुनः हम विश्व के प्रपंच को अपने सामने चलते-फिरते देखते हैं। हम जानते हैं कि यह सब सभी वस्तुओं के आधारस्वरूप ईश्वर पर चित्रित रंग-बिरंगी पच्चीकारी मात्र है।

वेदान्त शिक्षा देता है कि निर्वाण-लाभ यहीं और अभी हो सकता है, उसके लिए हमें मृत्यु की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। निर्वाण का अर्थ है, आत्म-साक्षात्कार कर लेना; और यदि एक बार भी, वह चाहे क्षण भर के लिए ही क्यों न हो, हमें यह अवस्था प्राप्त हो गयी, तो फिर कभी भी हम व्यक्तित्व की भ्रांति से विमोहित न हो सकेंगे। हमारे चक्षु हैं, अतः हम प्रतीयमान वस्तु को ही देखते हैं, पर हमने इसके वास्तविक स्वरूप को जान लिया है और हमें सदैव यह ज्ञान रहता है कि वह है क्या; हमने उसके वास्तविक स्वरूप को जान लिया है। यह वह आवरण है, जिसने अपरिणामी आत्मा को ढक रखा है। आवरण खुल जाता है और तब हम इसके पीछे अवस्थित आत्मा को देख पाते हैं। सभी परिवर्तन या परिणाम आवरण में ही होते हैं। साधु-पुरुष में यह आवरण इतना महीन होता है कि उसमें आत्मा की हमें स्पष्ट झलक दिखायी पड़ती है; पर पापी में यह आवरण इतना मोटा होता है कि हम इस सत्य में संशय करने लग जाते हैं कि पानी के पीछे भी वही आत्मा है जो साधु-पुरुष के पीछे विद्यमान है। जब सम्पूर्ण आवरण हट जाता है, तब हम देखने लगते हैं, कि वास्तव में आवरण का अस्तित्व किसी काल में नहीं था – हम सदैव आत्मा ही थे, अन्य कुछ भी नहीं; यहां तक कि आवरण की बात ही भूल जाते हैं।

जीवन में इस विभेद के दो चरण हैं : पहला तो यह कि जो मनुष्य आत्मज्ञानी है, उस पर किसी भी बात का प्रभाव नहीं पड़ता और दूसरे, ऐसा ही मनुष्य संसार का हित कर सकता है। केवल वही मनुष्य परोपकार का वास्तविक उद्देश्य समझ सकता है, क्योंकि वह जानता है कि ब्रह्म-व्यतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। इस उद्देश्य को हम अहंवादिता नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा होने से तो उसमें भेद-ज्ञान आ जायगा।

यही एकमात्र नि.स्वार्थपरता है। इस अवस्था में व्यक्ति का बोध नहीं होता, सर्वगत आत्मा का बोध होता है। प्रेम और सहानुभूति का हर कार्य इसी सर्वव्यापी तत्त्व की पुष्टि करता है। 'मै नहीं, तू।' दार्शनिक ढंग से इसे यों कह सकते हैं कि दूसरों की सहायता इसलिए करो कि तुम उसमे और वह तुममे है। केवल सच्चा वेदान्ती ही बिना किसी दु.ख या हिचकिचाहट के दूसरे के लिए अपना जीवन दे सकता है, क्योकि वह जानता है कि वह अमर है। जब तक संसार मे एक कीडा भी जीवित है, तब तक वह जीता है; जब तक खानेवाला एक भी मुंह है तब तक वह खाता है। अत: वह दूसरों का हित करता जाता है; और शरीर-रक्षा के इन आधुनिक विचारो की तनिक भी परवाह नहीं करता। जब मनुष्य इस त्याग की अवस्था मे आरूढ हो जाता है, तब वह नैतिक संघर्ष के-समस्त वस्तुओं के परे चला जाता है। तब, वह महापंडित, गाय, कुत्ते और घृणित से घृणित पदार्थो में विद्वान, गाय, कुत्ता या घृणित पदार्थ नहीं देखता, किन्तु सर्वभूतो मे उसी देवत्व का प्रकाश देखता है। केवल वही सुखी है; और जिसने इस एकत्व का अनुभव कर लिया है, उसने इस जीवन मे ही संसार पर विजय प्राप्त कर ली है। परमात्मा पवित्र है; अत. ऐसा व्यक्ति परमात्मा में अवस्थित कहा जाता है। ईसामसीह ने कहा है, 'मैं अब्राहम[1] के भी पहले से हूं।' इसका अर्थ यह है कि ईसा और उनकी तरह के अन्य लोग मुक्त आत्माएं हैं। ईसा ने पूर्व कर्मो से बाध्य होकर मनुष्य-शरीर ग्रहण नहीं किया, किन्तु केवल मानव-जाति का हित करने के लिए उन्होने नर-देह धारण की। यह बात नहीं है कि मुक्त होने पर मनुष्य कर्म करना छोड दे और निर्जीव मिट्टी का ढेर बन जाय, प्रत्युत् वह अन्य लोगो की अपेक्षा अधिक कर्मशील होता है, क्योकि अन्य लोग तो केवल बाध्य होकर कर्म करते हैं, पर वह स्वतंत्र होकर।

यदि हम ईश्वर से अभिन्न हैं, तो क्या हमारा पृथक् व्यक्तितत्व नहीं है ? हां, है, और वह है ईश्वर। हमारा व्यक्तित्व ईश्वर ही है। अभी तुम अपना जो व्यक्तित्व देख रहे हो, वह तुम्हारा यथार्थ व्यक्तित्व नहीं – तुम यथार्थ व्यक्तित्व की ओर अग्रसर हो रहे हो। 'इंडिविजुअल्टी' (व्यक्तित्व) का अर्थ है जिसका 'डिवीजन' (विभाजन) न हो सके। तुम वर्तमान व्यक्तित्व को व्यक्तित्व कैसे कह सकते हो ? अभी तुम एक तरह से सोच रहे हो, घंटे भर बाद कुछ दूसरी तरह से चिन्ता करने लगते हो, और दो घंटे बाद कुछ तीसरी ही तरह से। व्यक्तित्व तो वह है, जो बदलता नहीं – वह समस्त वस्तुओ से परे है, अपरिणामी है। यदि वह वर्तमान स्थिति ही चिरकाल तक बनी रहे, तो यह बडी ही भयानक बात होगी; क्योंकि तब तो चोर या

1. यहूदियो का एक पूर्वपुरुष। 9-6

दुष्ट सदैव चोर या दुष्ट ही बना रहेगा। यदि किसी बच्चे की मृत्यु हो जाय, तो वह सदा बच्चा ही बना रहेगा। यथार्थ व्यक्तित्व वह है, जिसमें कभी भी परिवर्तन नहीं होता, और न होगा – और वह है अन्तःस्थित परमात्मा।

वेदान्त यह विशाल सागर है, जिसके वक्ष पर युद्ध-पोत और साधारण बेड़ा दोनों पास-पास रह सकते हैं। वेदान्त में यथार्थ योगी, मूर्तिपूजक, नास्तिक इन सभी के लिए पास-पास रहने को स्थान हैं। इतना ही नहीं, वेदान्त-सागर में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या पारसी सभी एक हैं – सभी उस सर्वशक्तिमान परमात्मा की सन्तान हैं।

क्या वेदान्त भावी युग का धर्म होगा ?
(सैन फ्रान्सिस्को में 8 अप्रैल, सन् 1900 ई० को दिया गया भाषण)

मेरा विश्वास है कि तुम लोगों को अब तक आधारभूत सिद्धान्तों का काफी परिचय मिल चुका है क्योंकि तुम सभी मेरे सभी भाषणों (व्याख्यानों) में उपस्थित रहे हो। प्राचीन धर्म दर्शन के रूप में 'वेदान्त' सम्पूर्ण विश्व में मेरे विचार से लोकप्रिय नहीं हुआ है। इसीलिए वेदान्त को आगामी युग का धर्म नहीं कहा जा सकता है।

मैं यह पहले ही बता दूं कि अधिकांश मानवता कभी इसे अपना धर्म मानेगी, इसका मैं अनुमान नहीं लगा पाता। क्या संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे एक समग्र राष्ट्र को वह कभी प्रभावित कर सकेगा ? शायद वह कर सके ! जो भी हो, आज की संध्या का प्रतिपाद्य विषय यही रहेगा।

वेदान्त क्या नहीं हैं, इससे आरम्भ कर, वेदान्त क्या है, इसका परिचय दूंगा। लेकिन यह याद रखो कि निरपेक्ष सिद्धान्तों पर जोर देने के साथ-साथ वेदान्त का किसी अन्य विचारधारा से विरोध नहीं है। हां, मौलिक सिद्धान्तों का जहां तक सम्बन्ध है, उसका किसी से समझौता या अपने सत्य पक्ष का त्याग सम्भव नहीं है।

तुम सबको मालूम है कि धर्म निर्माण के लिए कुछ उपादान आवश्यक होते हैं। इनमें ग्रन्थ का स्थान सर्वोपरि है। ग्रन्थ की शक्ति अद्‌भुत हैं कारण जो भी हों, ग्रन्थ मानवीय श्रद्धा के ध्रुव केन्द्र हैं। आज के जीवित धर्मों में ऐसा कोई भी नहीं है, जिसका अपना ग्रन्थ न हो। तर्कवाद और लम्बी-चौडी बातों के बावजूद मानवता ग्रन्थों से चिपकी हुई है। आपके देश में ही ग्रंथरहित धर्म के प्रचार का सारा प्रयास विफल हुआ है। भारत में सम्प्रदायों का आरम्भ तो सफलतापूर्वक हो जाता है, किन्तु कुछ ही वर्षों में वे इसलिए दिवंगत हो जाते हैं, कि उनके पीछे कोई ग्रन्थ नहीं होता। यही अन्य देशों में होता है।

एकत्ववादी (Unitarian) आन्दोलन के उत्थान और पतन के इतिहास को लो। वह तुम्हारे राष्ट्र के सर्वोच्च चिन्तन का प्रतीक है। मेथाडिस्ट (Mathodist),

बैप्टिस्ट (Bapist) और इतर ईसाई सम्प्रदायों की भांति उसका प्रचार क्यों नहीं हो सका ? कारण स्पष्ट है। उसका अपना कोई ग्रन्थ न था। ठीक विपरीत यहूदियों को देखो। मुट्ठी भर लोग, हर राष्ट्र से खदेड़े जाकर भी संघटित हैं, क्योंकि उनका अपना धर्मग्रन्थ है। पारसियों को लो, दुनिया भर में वे केवल एक लाख ही होंगे। जैन सम्प्रदाय के अनुयायी भारत में दस लाख ही रह गये हैं। क्या तुम जानते हो कि ये थोड़े से पारसी और जैनी केवल अपने धर्मग्रन्थें की बदौलत ही जीवित हैं ? आज जितने भी जीवित धर्म हैं, उनमें से प्रत्येक का अपना स्वतंत्र धर्मग्रन्थ है।

धर्म की दूसरी आवश्यकता है व्यक्तिविशेष के प्रति पूज्य भाव। यह विशिष्ट व्यक्ति विश्व के स्वामी या महान् उपदेशक के रूप में पूजा जाता है। मनुष्य के लिए किसी देहधारी मानव की उपासना करना अनिवार्य है। कोई अवतारी पुरुष, पैगम्बर या महान् नेता मानव को चाहिए ही। सारे धर्मों में आज यही बात दिखायी पड़ेगी। हिन्दू और ईसाई धर्मो के अवतार की मान्यता है। बौद्ध, इस्लाम, यहूदी आदि धर्मों में पैगम्बर को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। लेकिन लक्ष्य सबका समान है – उनकी पूजा-भावना किसी व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय पर केन्द्रित है।

धर्म की तीसरी आवश्यकता यह है कि सबल और आत्मविश्वासयुक्त होने के लिए उसे केवल अपने को ही सत्य मानना चाहिए। अन्यथा जन-समाज पर उसका प्रभाव नहीं के बराबर होगा।

उदारवादिता (Liberalism) मानव मन में धर्मान्धता को जगा नहीं पाती, स्वयं अपने को छोड़कर किसी अन्य के प्रति शत्रुता का भाव नहीं जगा सकती, अतः वह मर जाती है। इसीलिए उदारता को बार-बार पराभूत होना पड़ेगा। उसका प्रभाव भी इने-गिनों तक सीमित रहता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। उदारवादिता हमें स्वार्थरहित बनाने की चेष्टा करती है। लेकिन हम निःस्वार्थी नहीं होना चाहते। उससे कोई तात्कालिक लाभ नहीं होता। स्वार्थी बने रहने में ही हमारा अधिक हित है। जब हम गरीब या साधनहीन होते हैं, हम उदारता की हामी भरते हैं। धन और शक्ति-संचय के क्षण से ही हम अतीव अनुदार हो जाते हैं। गरीब जनतंत्रवादी होता है। धनी बनते ही वह सामन्त बन जाता है। मानव-स्वभाव की यही प्रवृति धर्मक्षेत्र में भी दिखायी पड़ती है।

किसी पैगम्बर का आविर्भाव होता है। वह अपने अनुयायियों को हर तरह के पुरस्कारों का वचन और अनुसरण न करनेवालों को चिरन्तन नरक की धमकी देता है; और इस प्रकार वह अपने पंथ का प्रचार करता है। वर्तमान सारे प्रचारशील धर्म घोर कट्टरपरपंथी हैं। कोई सम्प्रदाय अन्य सम्प्रदायों से जितनी घृणा करेगा, उतना ही

वह सफल होगा और अपने अनुयायियों की संख्या उत्तरोत्तर बढाता जाएगा। संसार के अधिकतर भागों मे भ्रमण करने के उपरान्त और विविध जातियों के मध्य रहने एवं विश्व की वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखते हुए मैं इसी निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि विश्वबन्धुत्व के सम्बन्ध में इतनी बातें होते रहने पर भी प्रस्तुत स्थिति चलती ही रहेगी।

वेदान्त इनमें से किसी पर भी विश्वास नहीं करता। उसकी सबसे मौलिक कठिनाई यही है कि किसी ग्रन्थ पर उसकी आस्था नहीं है। एक ग्रन्थ का दूसरे पर अधिकार उसे मान्य नहीं। कोई भी ग्रन्थ ईश्वर, जीव, परम तत्त्व आदि सम्बन्धी सभी सत्यों का आश्रय हो सकता है, इस दावे का वह प्रबल विरोध करता है। तुममें से जिन्होंने उपनिषद् पढे हैं, उन्हें मालूम होगा कि उनकी बार-बार यही घोषणा है – **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया** (इस आत्मा को प्रवचन से अथवा बुद्धि से प्राप्त नहीं किया जा सकता।)

दूसरे, वह व्यक्तिविशेष की आराधना को और भी अधिक अग्राह्य मानता है। तुममें से वेदान्त के विद्यार्थी – वेदान्त से आशय उपनिषद् हैं – जानते हैं कि केवल यही धर्म किसी व्यक्तिविशेष से चिपका नहीं है। कोई भी एक स्त्री या पुरुष वेदांतियों की आराधना का पात्र नहीं बन सका है। यह सम्भव भी नही। कोई मानव किसी पक्षी या कीट की अपेक्षा अधिक पूज्य नहीं होता। हम सब भाई हैं। अन्तर केवल परिमाण का है। जो क्षुद्र कीट है, बिलकुल वही मै भी हूं। इस प्रकार तुम देखते हो वेदान्त में, किसी व्यक्ति का हमारे आगे खडा होना, और हम सबका उसकी आराधना करना, उसका हमे घसीटते हुए आगे बढाना और हमारा उद्धार करना, इसकी सम्भावना ही नहीं है। वेदान्त आपको यह सब नही देता। कोई ग्रन्थ नहीं, पूजा के लिए कोई व्यक्ति नहीं, कुछ भी नहीं।

इससे भी अधिक कठिनता ईश्वर सम्बन्धी है। इस देश में तुम जनतंत्रवादी रहना चाहते हो ? वेदान्त जनतंत्रीय ईश्वर का ही उपदेश करता है।

तुम्हारी सरकार है, पर सरकार व्यक्ति-निरपेक्ष है। तुम्हारी कोई तानाशाही सरकार नहीं, फिर भी दुनिया के किसी भी राजतंत्र की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। शायद यह कोई भी नहीं समझ पाता कि यथार्थ-शक्ति, यथार्थ-जीवन एवं वास्तविक-बल अदृश्य, निरपेक्ष तथा शून्य-सत्ता में छिपे हैं। दूसरों से अलग मात्र व्यक्ति की हैसियत से तुम्हारी कोई सत्ता नहीं , लेकिन स्वशासित राष्ट्र की अवैयक्तिक इकाई के रूप में तुम अतीव बलशाली हो। शासन-व्यवस्था में सम्मिलित सदस्य-समूह के नाते तो महान् शक्तिशाली हो। किन्तु यथार्थतः यह शक्ति है-कहां ? प्रत्येक व्यक्ति ही वह शक्ति

है। कोई राजा नहीं। मैं सबको समान देखता हूं। किसी के सामने मुझे टोपी उतारना या सिर झुकाना नहीं पड़ा है। फिर भी हर व्यक्ति में अद्‌भुत शक्ति छिपी हुई है।

वेदान्त पूर्वरूपेण यही है। उसका ईश्वर, सर्वथा सबसे दूर, एक ऊंचे सिंहासन पर विराजने वाला महाराजा नहीं। ऐसे लोग भी हैं जो अपना ईश्वर उसी रूप में देखना चाहते हैं, जिससे सभी भयभीत हों ओर जिसको प्रसन्न रखा जाय। वे उसके सामने दीप जलाते हैं और नाक रगड़ते हैं। वे एक राजा से शासित होना चाहते हैं, और यहां की भांति स्वर्ग में भी शासित होने की बात पर विश्वास रखते हैं। कम से कम इस राष्ट्र से तो राजा मिट ही गया है। अब स्वर्ग का राजा है कहां ? केवल वहीं जहां लौकिक राजा है। इस देश में राजा प्रत्येक मनुष्य में निहित हो गया है। यहां तुम सब लोग राजा हो। यही वेदान्त का भी ध्येय है। तुम सब ईश्वर हो। केवल एक ईश्वर पर्याप्त नहीं। वेदान्त का अभिमत है, तुम सब ईश्वर हो।

इससे वेदान्त की कठिनाई और भी बढ़ जाती है। वह ईश्वर की पुरानी धारणा का प्रतिपादन करता ही नहीं। सुरलोक में रहकर हमारी अनुमति के बिना ही संसार की गतिविधि का आयोजन करनेवाले, अपनी लीला के लिए शून्य से हमारा सर्जन करनेवाले और निज परितोष के लिए हमें आपद्‌ग्रस्त करनेवाले ईश्वर की जगह वेदान्त सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक ईश्वर का निरूपण करता है। इस राष्ट्र से तो राजराजेश्वर की विदाई हो चुकी है। लेकिन वेदान्त से तो स्वर्ग का साम्राज्य सहस्रों वर्ष पूर्व ही लुप्त हो गया था।

भारत लौकिक परम भट्टारक का परित्याग नहीं कर सकता। इसी कारण वेदान्त भारत का धर्म नहीं हो सकता। जनतंत्र के कारण वेदान्त इस राष्ट्र का धर्म हो सकता है, परन्तु यह उसी हालत में सम्भव है जब तुम दिमाग में धुंधली विचारधाराओं एवं अन्धविश्वासोंवाले मनुष्य न बनकर उसे भली-भांति समझ सको और समझो, जब तुम सच्चे स्त्री-पुरुष बनो और जब तुम सच्चे अर्थों में आध्यात्मिक बनो, क्योंकि वेदान्त केवल अध्यात्म का ही विषय है।

स्वर्गस्थ ईश्वर की धारणा क्या है ? भौतिकवाद। ईश्वरीय अनन्त तत्त्व जो हम सब में समाविष्ट है, वेदान्त की धारणा है। बादलों के ऊपर विराजनेवाला ईश्वर ! इसकी निरी ईशतिरस्कारिता पर विचार करो। यह भौतिकवाद है, कोरा भौतिकवाद ! यदि शिशु ऐसा सोचें तो कोई बात नहीं। लेकिन परिपक्व बुद्धिवाले ऐसी बातों की शिक्षा देने लगें, तो यह अत्यधिक अरुचिकर है – यही उसका फल होता है। यह सब कुछ जड है, देह-भाव है, स्थूल भाव है, इन्द्रियगोचर विषय है। उसका प्रत्येक अंश मिट्टी है, कोरी मिट्टी है। यह भी कोई धर्म है ? अफ्रीका के मम्बो-फम्बो 'धर्म' की भांति यह

कोई धर्म नहीं है। ईश्वर आत्मा है और आत्मा एवं सत्य के द्वारा ही उसकी उपासना होनी चाहिए। क्या आत्मा मात्र स्वर्ग-निवासी है ? आत्मा है क्या ? हम सब आत्मा हैं। क्या कारण है कि हम इसकी अनुभूति नहीं करते ? कौन मुझसे तुम्हें अलग करता है ? देह और कुछ नहीं। देह को भूलो, और सब आत्मा ही है।

ये वे बातें हैं, जो वेदान्त से अपेक्षित नहीं हैं। कोई धर्मग्रन्थ नहीं। शेष मनुष्य जाति से पृथक् कोई मनुष्य नहीं, 'तुम कीट मात्र और हम जगदीश्वर' ऐसा कुछ नहीं। यदि तुम जगदीश्वर प्रभु हो तो मैं भी जगदीश्वर प्रभु हूं। अत: वेदान्त पाप नहीं मानता। भूलें जरूर हैं, लेकिन पाप नहीं। कालान्तर में सभी ठीक होनेवाला है। कोई शैतान नहीं – ऐसी कोई बकवास नहीं। वेदान्त के अनुसार जिस क्षण तुम अपने को या इतर जन को पापी समझते हो, वही पाप है। इसी से अन्य सब भूलों का या उनका जिन्हें बहुधा पाप की संज्ञा दी जाती है, सूत्रपात होता है। हमारे जीवन में अनेक भूलें हुई हैं। फिर भी आगे हम बढते ही रहे है। हमसे भूलें हुई, इसमें हमारा गौरव है ! बीते जीवन का सिंहावलोकन करो। यदि तुम्हारी आज की हालत अच्छी है, तो उसका श्रेय सफलताओं के साथ-साथ पिछली भूलों को भी मिलना चाहिए। सफलता भी गौरवशालिनी ! विफलता भी गौरवशालिनी ! बीते हुए की चिन्ता मत करो। आगे बढ़ो !

इस तरह तुम देखते हो कि वेदान्त पाप और पापी की स्थापना नहीं करता। वह (ईश्वर) एक ऐसी सत्ता है, जिससे हम कदापि आतंकित नहीं होंगे; क्योंकि वह हमारी अपनी आत्मा है। उसमे भीति जगानेवाले ईश्वर का आतंक नहीं। केवल एक ही सत्ता है, जिससे हमें डर नहीं है, वह ईश्वर है। तो क्या ईश्वर से डरनेवाला प्राणी ही यथार्थ में सबसे बडा अंधविश्वासी नहीं है ? निज छाया से कोई भयभीत भले ही हो उठे, किन्तु वह भी निज से संत्रस्त नहीं है। ईश्वर मानव की ही आत्मा है। वही एक ऐसी सत्ता है, जिससे तुम कदापि भयभीत नहीं हो सकते। ईश्वर का भय व्यक्ति के अन्तराल में घर कर जाय, वह उससे थर्रा उठे, ये सब बातें अनर्गल नहीं तो और क्या हैं ? ईश्वर की कृपा कहो कि हम सब पागलखाने में नहीं हैं ! यदि हममें से अधिकांश पागल न हो गये हों, तो हम 'ईश्वरभीति' जैसी धारणा का आविष्कार ही क्यों करें ? भगवान बुद्ध का कथन था कि न्यूनाधिक मात्रा में सारी मानवता विक्षिप्त है। लगता है कि यह पूर्णत: सत्य है।

कोई धर्मग्रन्थ नहीं, कोई व्यक्ति (अवतार) नहीं, कोई सगुण ईश्वर नहीं। इन सभी को जाना होगा। फिर इन्द्रियों को भी जाना होगा। हम इन्द्रियो के दास नहीं रह सकते। अभी हम नदी में ठंड से ठिठुरकर मरनेवालों की भांति, आबद्ध हैं। सो जाने की ऐसी बलवती ईप्सा द्वारा वे लोग आक्रान्त हैं कि जब उनके साथी उन्हें मृत्यु से

सजग कर जाग्रत करना चाहते हैं, तो वे कहते हैं, "जान जाय बला से। लेकिन नींद हराम न होने पाये।" हम इन्द्रिय-सुख की सस्ती वस्तु के शिकार हैं, भले ही उससे हमारा सर्वनाश ही क्यों न हो। हमने यह भुला दिया है कि जीवन में और अधिक महान् वस्तुएं हैं।

एक हिन्दू पौराणिक कथा है कि ईश्वर ने एक बार धरती पर शूकरावतार लिया। उनकी एक शूकरी भी थी। कालान्तर में उनके कई शूकर सन्तानें हुई। अपने परिवारवालों के बीच वे बड़े चैन से रहे। कीचड़ में लोटते हुए वे खूब मस्त थे। वे अपनी दिव्य महिमा एवं प्रभुता भूल बैठे। देवता बड़े चिन्तित हुए। वे धरती पर उतर आये और उनसे शूकर-शरीर त्याग कर देवलोक लौट चलने की विनती करने लगे। ईश्वर ने उनकी एक न सुनी और उन सबको दुत्कार दिया। वे बोले, "मैं बड़ा प्रसन्न हूं और इस रंग में भंग देखना नहीं चाहता हूं।" कोई चारा न देख देवताओं ने प्रभु का शूकर-शरीर नष्ट कर दिया। तत्क्षण ईश्वर की दिव्य भव्यता लौट आयी और वे बड़े विस्मित थे कि शूकर-स्थिति में वे प्रसन्न रहे कैसे !

मानवीय आचरण भी इसी प्रकार का है। जब कभी वे लोग निर्गुण ईश्वर की चर्चा सुनते हैं, तो उनकी प्रतिक्रिया होती है कि 'मेरे व्यक्तित्व का क्या होगा ? व्यक्तित्व लुप्त ही हो जायगा।' फिर कभी ऐसा विचार मन में उठे तो उस शूकर की दशा याद कर लेना और तब देखना कि तुममें से प्रत्येक की प्रसन्नता का पारावार कितना असीम है ! तुम अपनी वर्तमान स्थिति में कितने संतुष्ट हो। लेकिन जब तुम्हें यह अनुभव हो जायगा कि तुम यथार्थतः क्या हो, तो तुम यह देखकर तत्क्षण आश्चर्यचकित हो जाओगे कि इन्द्रिय-जीवन के परित्याग के प्रति तुम अनिच्छुक क्यों हो। तुम्हारे व्यक्तित्व में रहा ही क्या है ? वह शूकर-जीवन से कहीं बढ़कर है ? और क्या तुम इसी को छोड़ना नहीं चाहते ! प्रभु हमारा कल्याण करे !

वेदान्त की शिक्षा क्या है ? प्रथमतः, वेदान्त यह शिक्षा देता है कि सत्य-दर्शन के लिए तुम्हें अपने से भी बाहर जाने की जरूरत नहीं। सभी अतीत और सभी अनागत इसी वर्तमान में निहित हैं। कभी किसी ने अतीत को नहीं देखा। क्या तुममें से किसी ने अतीत को देखा है ? जब यह सोचते हो कि तुम अतीत को जानते हो, तो तुम केवल वर्तमान में ही अतीत की कल्पना करते हो। भविष्य को देखने के लिए तुम्हें इसे वर्तमान में उतार लाना पड़ेगा, जो वर्तमान यथार्थ सत्य है – शेष सब कल्पना है। वर्तमान ही सब कुछ है। केवल वही 'एक' है – एकमेवाद्वितीयम्। जो कुछ है, सब इसी में है। अनन्तकाल का एक क्षण दूसरे प्रत्येक क्षण की ही भांति अपने में पूर्ण और सबको समाहित कर लेनेवाला है। जो कुछ है, था और होगा, सब इसी

वर्तमान में है। इससे परे किसी कल्पना में कोई प्रवृत्त हो तो वह विफल मनोरथ होगा।

क्या इस पृथिवी से भिन्न स्वर्ग का चित्रण कोई धर्म कर सकता है ? और यह सब कला मात्र है, केवल इस कला का ज्ञान हमें धीरे-धीरे होता है। हम पंचेन्द्रियों के सहारे इस सृष्टि को निरखते हैं और उसे रंग-रूप-शब्द आदि से युक्त स्थूल ही पाते हैं। मान लो, विद्युत-चेतना का मुझमें स्फुरण हो जाय तो सब कुछ बदल जायगा। मान लो कि मेरी इन्द्रियां सूक्ष्मतर हो जायं, तो तुम बस बदले नजर आओगे। मैं ही बदल जाऊं तो तुम भी बदल जाओगे। यदि मैं इन्द्रियों की सीमा पार कर लूं, तो तुम सब आत्मरूप तथा ईश्वर-रूप दिखोगे। जगत् का दृश्य रूप सत्य नहीं है।

हम इसको शनैः शनैः समझ सकेंगे और तब हम देखेंगे कि स्वर्ग आदि सब कुछ यहीं है, इसी क्षण है और दिव्य सत्ता पर अध्यासों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह सत्ता सभी – लोकों एवं स्वर्गों से बढकर है। लोगों का विचार है कि यह संसार त्रुटिपूर्ण है और वे कल्पना करते है कि स्वर्ग कहीं अन्यत्र है। यह संसार बुरा नहीं है। तुम जानो तो यह साक्षात् ईश्वर है। इसका बोध भी दूभर है; और इस पर विश्वास करना और भी दुष्कर है। कल फांसी पर लटकाया जानेवाला हत्यारा भी ईश्वर है, पूर्ण ब्रह्म है। अवश्य ही यह विषय जटिल है, पर वह बोधगम्य हो सकता है।

इसीलिए वेदान्त का प्रतिपाद्य है 'विश्व का एकत्व', विश्वबन्धुत्व नहीं। मैं भी वैसा हूं, जैसा एक मनुष्य है, एक जानवर है – बुरा, भला या और कुछ भी। सब परिस्थितियो में यह एक ही देह, एक ही मन और एक ही आत्मा है। आत्मा का अन्त नहीं। कहीं कोई विनाश नहीं, देह का भी अन्त नहीं। मन भी मरता नहीं है। देह का अन्त हो कैसे ? एक पत्ती झड जाय तो क्या पेड का अन्त हो जायगा ? यह विराट् विश्व ही मेरी देह है। देखो, कैसी इसकी अविकल परम्परा है। सारे मन मेरे मन हैं। सबके पैरों से मै ही चलता हूं। सबके मुंह से मैं ही बोलता हूं। सबके शरीर में मेरा ही निवास है।

मैं इसका अनुभव क्यों नहीं कर पाता हूं ? इसका कारण है वही व्यक्तित्व भाव, वही शूकरपना। इस मन से तुम आबद्ध हो चुके हो और तुम यहीं रह सकते हो, वहां नहीं। अमरत्व है क्या ? कितने कम लोग यह उत्तर देंगे कि 'वह हमारा यह जीवन ही है !' बहुतेरों की धारणा है कि यह जीवन मरणशील है, प्राणहीन है – ईश्वर यहां नहीं है, स्वर्ग पहुंचने पर ही वे अमर होंगे। उनकी कल्पना है कि मृत्यु के बाद ही ईश्वर से उनका साक्षात्कार होगा। लेकिन, यदि वे इसी जीवन में और सभी उसका साक्षात्कार नहीं करते, तो मरने के बाद भी उसे नहीं देख पायेंगे। यद्यपि अमरता पर उनकी आस्था है, तो भी उन्हें यह अज्ञात है कि अमरता मरने और स्वर्ग जाने से नहीं,

बल्कि व्यक्तिवाद की इस शूकर-प्रवृत्ति और क्षुद्र देह-बन्धन से अपने को आबद्ध न करने पर ही प्राप्त होती है। निज को सबमें, सबको निज में जानने, समस्त मन से देखने की ही संज्ञा अमरता है। हमें दूसरों के शरीर में भी आत्मदर्शन अवश्य ही मिलेगा। सहानुभूति या समानुभूति है क्या ? क्या सहानुभूति की भी सीमा निर्दिष्ट है ? सम्भवतः एक ऐसा भी समय आयेगा, जब कि समस्त सृष्टि से मैं तादात्म्य अनुभव कर पाऊंगा।

इससे लाभ ? इस शूकर-देह का परित्याग करना कठिन है। अपनी छोटी-सी वासनामय देह के आनन्द के परित्याग से हमें पश्चात्ताप होता है। वेदान्त का लक्ष्य 'देह-भाव-त्याग' नहीं, 'देह-भाव-अतिक्रमण' है। तपश्चर्या आवश्यक नहीं – दो देहों का भी उपभोग भला – तीन का भी भला। एक से अधिक देहों में जीवनयापन करना अच्छा ! जब मैं निखिल सृष्टि से तादात्म्य का सुख लूट सकता हूं, तो सम्पूर्ण सृष्टि ही मेरा शरीर है।

बहुत से ऐसे हैं जो यह उपदेश सुनते ही संत्रस्त हो जाते हैं। उन्हें यह सुनना पसन्द नहीं कि वे क्षुद्र पशुदेहधारी नहीं, जिनका किसी निरंकुश भगवान ने सर्जन किया है। मेरा उनसे अनुरोध है, 'ऊपर उठो !' वे कहते हैं कि 'पाप में हमारा जन्म हुआ, किसी के अनुग्रह के बिना वे अपना उद्धार नहीं कर सकते।' मैं कहता हूं, "तुम दिव्य तेज-संभूत हो।" उनका जवाब है, "आप नास्तिक हैं, ऐसी बकवास करने का आप साहस कैसे करते हैं। एक अति दुःखी जीव परमेश्वर कैसे हो सकता है ? हम सभी पापी हैं।" तुम्हें विदित है, कभी-कभी में बेहद निराश हो जाता हूं। सैकड़ों स्त्री-पुरुष मुझसे कहते हैं कि यदि कोई भी नरक नहीं है, तो कोई धर्म कैसे हो सकता है ? यदि ये लोग खुशी-खुशी नरक जाते हैं, तो इन्हें कौन रोक सकता है !

तुम जिसका स्वप्न देखोगे, जो सोचोगे, उसी की सृष्टि करोगे। अगर यह नरक है, तो मरते ही तुम्हें नरक दिखेगा। अगर वह असत् और शैतान है, तो तुम्हें शैतान ही मिलेगा। अगर प्रेत है, तो प्रेत ही देखोगे। तुम जो कुछ सोचते हो, वही बनते भी हो। अगर तुम्हें सोचना हो तो अच्छे-ऊंचे विचार मन में लाओ। मान लिया कि तुम कमजोर क्षुद्र कीट हो। अपने को कमजोर घोषित करने से हम कमजोर बनेंगे, हमारी हालत बेहतर न होगी। कल्पना करो कि हमने प्रकाश बुझा दिया, खिड़कियां बन्द कर दीं और कमरे को अन्धकारपूर्ण कहने लगे ! इससे बढ़कर प्रलाप क्या होगा ! अपने को पापी कहने से मुझे क्या लाभ मिलता है ? यदि मैं अन्धेरे में हूं, तो रोशनी कर लूं। फिर सारी बला टली। फिर भी मानव स्वभाव कितना विचित्र है ! विश्व-मन को अपने जीवन का नित्य आधार जानकर भी लोग शैतान, अन्धेरा, झूठ आदि पर ही

ज्यादा सोचते हैं। तुम उन्हें सही बताओ, उन्हें विश्वास नहीं होता। उन्हें अन्धेरा ही ज्यादा पसन्द है।

यह वेदान्त की ओर से उठाया गया एक महान् प्रश्न है कि लोग इतने भयभीत क्यों हैं ? जवाब सीधा है कि उन्होंने अपने को असहाय और पराश्रित बना लिया है। हम इतने आलसी हैं कि अपने लिए स्वयं कुछ करना नहीं चाहते। हम अपना हर काम कराने के लिए किसी सगुण ईश्वर की, किसी त्राता की या किसी पैगम्बर की कामना करते हैं। एक बड़ा अमीर आदमी कभी पैदल नहीं चलता, हमेशा सवारी पर घूमता है। लेकिन कुछ वर्ष बाद वह पंगु बन जाता है, तो उसकी नींद खुलती है। वह महसूस करने लगता है कि उसके जीने का ढंग अन्ततः अच्छा न था। मेरे लिए दूसरा कोई नहीं चल सकता है। जब कभी किसी ने मेरे लिए किया, तो उससे नुकसान मेरा ही होता था। दूसरा कोई किसी का हर काम करने लगे तो उसके हाथ-पैर बेकार हो जायेंगे। जो कुछ भी हो, हम स्वयं करते हैं, वही हमें करना है। दूसरे की ओर से हुआ कोई काम कभी हमारा अपना नहीं हो सकता है ! मेरे व्याख्यानों से अध्यात्म के रहस्य तुम नहीं सीख पाओगे। तुम जो कुछ भी सीख सके हो, उसके लिए मैं चिनगारी मात्र हूं, जिसने इसको अंगारे में परिवर्तित किया है। पैगम्बर या उपदेशक इतना ही कर सकते हैं। सहायता प्राप्त करने के लिए मारे-मारे फिरना मूर्खता है।

तुम जानते हो, भारत में बैलगाड़ियां होती हैं। यों एक गाड़ी में दो बैल जोते जाते हैं और कभी-कभी जुए की नोंक पर तिनके का एक गुच्छा लटका दिया जाता है, वह बैलों के ठीक सामने किन्तु उनकी पहुंच से कुछ दूर होता है। बैल लगातार उसे खा लेने की कोशिश करते हैं, लेकिन असफल ही रहते हैं। हमें दूसरों से मिलनेवाली मदद का असली रूप यही है। हम सोचते हैं कि हमें सुरक्षा, शक्ति, विवेक, संतोष आदि बाहर से मिलेंगे। हमारी आशा सतत बनी रहती है, किन्तु वह कभी पूरी नहीं होती। किसी को भी बाहर से सहायता कभी नहीं प्राप्त होती।

मनुष्य को कोई सहायता नहीं प्राप्त होने की। न कोई सहायता कभी मिली, मिल रही है, और न मिलेगी ही। सहायता की आवश्यकता भी क्या है ? क्या तुम पुरुष और स्त्री नहीं हो ? क्या पृथिवी के पालक को दूसरों की सहायता चाहिए ? क्या तुम लज्जित नहीं होते ? तुम खाक बन जाओ तो तुम्हें मदद मिली। पर तुम तो आत्मरूप हो। स्वयं कठिनाइयों से छुटकारा पाओ ! कोई तुम्हारा सहायक नहीं है और न अभी था। अपनी रक्षा स्वयं करो। यह सोचना कि कोई सहायक है, मीठा सपना मात्र है। उससे कोई लाभ नहीं होने का।

एक बार एक ईसाई मेरे पास आया और बोला – "आप घोर पापी हैं।" मैंने

जवाब दिया – "जी हां ! मैं पापी हूं। आप अपना काम देखिए।" वह ईसाई प्रचारक था। उसने मुझे तंग करना न छोड़ा। मैं जब उसे देखता हूं, तो भाग खड़ा होता हूं। वह कहने लगा – "मेरे पास आपकी भलाई के लिए कुछ उपाय हैं। आप पापी हैं और नरक में गिरने जा रहे हैं।" मेरा जवाब था – "बहुत खूब ! और कुछ ?" मैंने उससे प्रश्न किया – "आप कहां जानेवाले हैं ?" वह बोल उठा – "मैं स्वर्ग जानेवाला हूं।" मैंने बता दिया – "मैं नरक जाऊंगा।" उस दिन से उसने पिण्ड छोड़ दिया।

अब एक ईसाई महोदय आते हैं और कहते हैं – "आपका सर्वनाश निश्चित है; लेकिन यदि आप इस धर्म-सिद्धान्त पर विश्वास करें, तो ईसामसीह आपको बचा लेंगे।" यह अगर सच होता – मैं निश्चित रूप से जानता हूं कि यह कोरा अन्धविश्वास है – तो ईसाई राष्ट्रों में कोई कुटिलता न होती। थोड़ी देर के लिए इसमें विश्वास भी कर लें – मानने में लगता ही क्या है – लेकिन फिर कोई असर क्यों नहीं नजर आता ? मेरे पूछने पर कि "इतने कुटिल स्वाभाववाले – खल – क्यों हैं ?" तो जवाब मिलता है "अभी हमें अधिक परिश्रम करना है।" ईश्वर पर विश्वास रखो, किन्तु बारूद सूखी रखो ! ईश्वर से प्रार्थना करो, और ईश्वर को उद्धार करने के लिए आने दो। लेकिन मैंने ही सभी संघर्ष किये, मेरी ही प्रार्थना-पूजा रही; समस्याओं का समाधान मैं निकालूं – और ईश्वर उसके गौरव का भागी बने। यह ठीक नहीं। मैं कदापि ऐसा नहीं करने का।

मैं एक बाद प्रीतिभोज में निमंत्रित था। आतिथेया ने मेरे मुंह से 'कल्याण हो' कहलवाना चाहा। मैं बोला, 'देवी जी ! मैं आपकी कल्याण-कामना करता हूं। आशीर्वाद-धन्यवाद दोनों आपको ही अर्पित हैं।" मैं जब काम में लगता हूं, तो अपने लिए 'कल्याण' कह लेता हूं। गौरव मुझे मिलना चाहिए कि मैं अथक परिश्रम कर पाया और यह सब कुछ प्राप्त कर सका।

कड़ा परिश्रम करो तुम और धन्यवाद दो दूसरों को ! यह इसलिए कि तुम अन्धविश्वासी हो, डरपोक हो। हजारों वर्षों के पाले-पोसे अन्धविश्वास की अब कोई आवश्यकता नहीं। आध्यात्मिक बनने में थोड़ा विशेष परिश्रम लगता है। अन्धविश्वास मात्र भौतिकवादिता है, क्योंकि उनका अस्तित्व ही देह पर आधारित है। वहां आत्मा के लिए स्थान नहीं ! आत्मा अन्धविश्वास से असम्पृक्त है – वह देहज क्षुद्र वासनाओं से परे हैं।

आत्मा के क्षेत्र में भी जहां-तहां क्षुद्र वासनाएं प्रक्षेपित होने लगी हैं। मैं कई प्रेमात्मा सम्बन्धी सभाओं में गया हूं। उनमें से एक में एक महिला सभानेत्री थीं। वे मुझसे बोलीं – "आपकी माताजी और आपके पितामह मेरे यहां आते हैं।" उन्होंने

कहा कि, "उन्होने मेरा अभिवादन किया और मुझसे बातें कीं।" किन्तु मेरी माताजी अभी जीवित हैं! लोगों का यह प्रिय विषय-सा हो गया है कि मरने के बाद भी उनके सगे सम्बन्धी सुपरिचित शरीर मे ही जी रहे है और प्रेतात्मवादी उनके अन्धविश्वास का फायदा उठाते हैं। मुझे बडा दुःख होगा कि मेरे स्वर्गीय पिता अपने उसी घिनौने शरीर को अभी भी धारण किये हुए हैं। उनके सभी पितर जडावृत हैं; इससे लोगो को सान्त्वना मिलती है। एक स्थान पर ईसामसीह मेरे सामने हाजिर कराये गये। मैं पूछ बैठा, "प्रभो, आप कैसे हैं ?" मेरे लिए ये सभी बाते निराशाजनक हैं। यदि वह संत महापुरुष अभी भी शरीरधारी है, तो हम बेचारे जीवधारियों का क्या होगा ? प्रेतात्मवादियों ने उन बुलाये गये सज्जनों में से किसी को छूने नहीं दिया। यदि यह सब सच भी है, तो भी मुझे उनकी आवश्यकता नहीं। मै सोचता हूं – 'मां ! मां ! ये नास्तिक – सचमुच लोगों की यही समुचित संज्ञा है ! केवल पंचेन्द्रियों की वासना मात्र है ! यहां के प्राप्त पदार्थो से तृप्त न होकर मरने के बाद भी उन्हीं को और अधिक पाने के इच्छुक हैं।'

वेदान्त का ईश्वर क्या है ? वह व्यक्ति नहीं, विचार है, तत्त्व है। तुम और हम सब सगुण ईश्वर है। विश्व का परात्पर ईश्वर, विश्व का स्रष्टा, विधाता और संहर्ता परमेश्वर निर्विशेष तत्त्व है। तुम-हम, चूहे-बिल्ली, भूत-प्रेत आदि सभी उसके रूप हैं – सभी सगुण ईश्वर हैं। तुम्हारी इच्छा है सगुण ईश्वर की उपासना करने की। वह तो अपनी आत्मा की ही उपासना है। यदि तुम मेरी राय मानो तो किसी भी गिरजाघर में कदम न रखो। बाहर निकलो, जाओ, और अपने को प्रक्षालित कर डालो। जब तक कि युग-युग के चिपके-जमे तुम्हारे अन्धविश्वास बह न जायं, तब तक अपने को बारम्बार प्रक्षालित करते रहो। शायद यह काम तुम्हे न रुचे, क्योकि तुम तो इस देश में नहाते ही कम हो, स्नान पर स्नान भारत की रीति है, तुम्हारे समाज की नहीं।

मुझसे प्राय. पूछा गया है, "मै इतना अधिक हंसता और व्यंग-विनोद क्यो करता हूं ?" जब कभी पेट दर्द करने लगता है, तो कभी-कभी गम्भीर हो जाता हूं। ईश्वर केवल आनन्दपूर्ण है। सभी अस्तित्व के मूल में एकमात्र वही है, निखिल विश्व का वही शिव है, सत्य है। तुम उसी के अवतार मात्र हो। यही गौरव की बात है। उसके जितने अधिक निकट तुम होओगे, तुम्हें उतना ही कम चीखना-चिल्लाना पडेगा। उससे जितनी दूर हम होते हैं, उतना ही अधिक हमें अवसाद झेलना पडता है। जितना अधिक उसे जानते है, उतना ही संकट टलता जाता है। यदि प्रभु में लीन होनेवाला भी पीडित रहे, तो उसकी तल्लीनता से लाभ क्या ? ऐसे ईश्वर का भी कोई उपयोग

है ? प्रशान्त महासागर में उसे फेंक दो ! हमें उसकी आवश्यकता नहीं !

लेकिन ईश्वर तो अनन्त है, निर्विशेष सत्ता है – सच्चिदानन्द है, निर्विकार है, अमर है, अभय है, और तुम सब उसके अवतार हो, अंगमात्र हो। वेदान्त का ईश्वर यही है, जिसका स्वर्ग सर्वत्र ही है। इस स्वर्ग में समस्त सगुण ईश्वर निवास करते हैं। तुम सभी मन्दिरों में प्रार्थना, पुष्प-समर्पण आदि से विरत रहो !

तुम्हारी प्रार्थना का ध्येय क्या है ? स्वर्ग-प्राप्ति, किसी की वस्तु-सिद्धि और दूसरों को उससे वंचित करने की कामना। "प्रभो ! भोजन मुझे खूब मिले ! दूसरा भले ही भूखा रहे !" नित्य, अनन्त, शाश्वत, सच्चिदानन्दस्वरूप उस ईश्वर की कैसी भव्य कल्पना है, जिसमें कोई भेद नहीं, कोई दोष नहीं, जो सदा स्वतंत्र, निरन्तर निर्मल एवं सतत परिपूर्ण है ! हम उसे समस्त मानवीय लक्षणों, कार्य-व्यापारों एवं सीमाओं से आभूषित करते हैं। उसे हमारे लिए खाना देना पड़ेगा, कपड़ा देना पड़ेगा। वस्तुतः ये सारे काम हमें स्वयं करने होंगे, और कभी भी किसी ने यह सब हमारे लिए नहीं किया। यही स्पष्ट सत्य है।

किन्तु तुम शायद ही कभी इस पर विचार करते हो। तुम यह कल्पना करते हो कि एक ईश्वर है, जिसके तुम विशेष कृपा-पात्र हो, जो तुम्हारी मनौतियां पूरी करता है; और तुम उससे समस्त मानव, सम्पूर्ण जीवधारियों पर कृपा करने का अनुरोध नहीं करते, बल्कि निज के लिए, निज परिवार के लिए, अपनी बिरादरी भर के लिए उसके अनुग्रह का आग्रह करते हो। जब हिन्दू भूखा है, तो तुम्हें उसकी चिन्ता नहीं है; उस समय तुम यह नहीं विचारते कि ईसाइयों का ईश्वर ही हिन्दुओं का ईश्वर भी है। ईश्वर सम्बन्धी हमारी सारी धारणाएं, प्रार्थनाएं, उपासनाएं देह-बुद्धि के, अज्ञान के प्रभाव से विकृत हैं। हो सकता है, मेरी बात तुम्हें अच्छी न लगे। आज तुम मुझे भले ही कोस लो, लेकिन कल तुम मुझे आशीर्वाद दोगे।

हमें विचारशील अवश्य बनना चाहिए। किसी भी योनि में जन्म दुःखदायी है। हमें भौतिकता से ऊपर उठना होगा। मेरी 'मां' हमें अपनी वज्रमुष्टिका से मुक्त होने देना न चाहेंगी; फिर भी हमें प्रयत्न करना होगा। यह संघर्ष ही उपासना है, अन्य सब कुछ भ्रम मात्र है। तुम सगुण ईश्वर हो। इस क्षण मैं तुम्हारा उपासक हूं। यही महत्तम प्रार्थना है। इसी अर्थ में सम्पूर्ण विश्व की उपासना करो – उसकी सेवा करते हुए। मेरा ऊंचे मंच पर खड़ा होना, मैं जानता हूं, उपासना जैसा नहीं प्रतीत होता है। किन्तु यदि इसमें सेवा-भाव है, तो यही उपासना है।

अनन्त सत्य अप्राप्य है। वह सतत ही इस लोक में विद्यमान है, वह अमर है, अजर है। वह, जो विश्व का प्रभु है, जन-जन में है। मन्दिर केवल एक है, वह है

देह-मन्दिर। यही अकेला मन्दिर सनातन है। इसी देह में उसका, परमात्मा का, राजराजेश्वर का निवास है। हम देख नहीं पाते, इसलिए हम उसकी पाषाण-प्रतिमाएं बनाते हैं, और उन पर ऊंचे मन्दिर खड़े करते हैं। सदा से भारत में वेदान्त रहा है, लेकिन भारत ऐसे मन्दिरों से भरा पड़ा है – केवल मन्दिर ही नहीं, किन्तु खुदी हुई मूर्तियों से भरी गुफाएं भी वहां हैं। 'गंगा किनारे रहनेवाला मूढ़मति पानी के लिए कुआं खोदे।' यही हमारा हाल है। ईश्वर में निवास करते हुए भी हम बाहर जाकर उसकी मूर्तियां बनाने लगते हैं। जब वह हमारे देह-मन्दिर में सदा निवास करते हैं, हम उसे मूर्तियों में प्रक्षेपित करते हैं, बुद्धि हमारी मारी गयी है, और वह बड़ा भारी भ्रम है।

ईश्वर रूप में सबकी उपासना करो – सारे आकार उसके मन्दिर हैं। बाकी सब कुछ भ्रम है। हमेशा भीतर की ओर देखो, बाहर की ओर कदापि नहीं। वेदान्त-प्रतिपादित ईश्वर यही है और उसकी उपासना भी यही है। स्वभावतः वेदान्त मे कोई सम्प्रदाय नहीं, कोई शाखा-प्रशाखा नहीं, कोई जाति-भेद नहीं। यह भारत का राष्ट्रीय धर्म हो भी कैसे ?

सैकड़ों जातियां ! यदि कोई किसी की थाली छू दे, तो वह चिल्ला उठता है, "परमात्मा, उबार लो, मैं भ्रष्ट हो गया !" पहली विदेश-यात्रा से लौटकर जब मैं भारत गया, तो अनेक सनातनी हिन्दुओं ने पाश्चात्यों के साथ मेरे सम्पर्क और कट्टरता के नियमों के भंग करने को सम्प्रदायविरोधी ठहरा कर खूब हो-हल्ला मचाया। पाश्चात्य लोगों को मेरा वैदिक सत्य की शिक्षा देना उन्हें अप्रिय लगा।

लेकिन इतने भेद और अन्तर रहेंगे कैसे ? जब हम आत्मरूप हैं, समान हैं। अमीर-गरीब को एवं पंडित अज्ञानी को देखकर नाक-भौं कैसे सिकोड़ पायेगा ? यदि समाज की रूपरेखा न बदले, तो वेदान्त-धर्म के सदृश धर्म प्रभावशाली कैसे हो ? विवेकी यथार्थ विचारशील मानवों की संख्या विपुल होने में हजारों साल लगेंगे। मानव को नयी बातें सुझाना, उन्हें उच्च विचार प्रदान करना बड़ा ही श्रमसाध्य है। रूढ़ि-विश्वासों का उन्मूलन और भी दुष्कर है – बहुत ही दुष्कर। ये शीघ्र विनष्ट नहीं होते, शिक्षा-दीक्षा के बाद भी विद्वज्जन अन्धेरे में कांप उठते हैं – शिशु अवस्था की कहानियां याद आ जाती हैं, और वे प्रेम देखने लगते हैं।

वेदान्त 'वेद' शब्द से बना है और 'वेद' का अर्थ है ज्ञान। समस्त ज्ञान वेद है और ईश्वर की भांति अनन्त है। कोई व्यक्ति ज्ञान की कभी सृष्टि नहीं करता। क्या तुमने कभी ज्ञान का सर्जन होते देख है ? ज्ञान का अन्वेषण मात्र होता है – आवृत का अनावरण होता है। ज्ञान सदा यहीं है, क्योंकि वह स्वयं ईश्वर है। अतीत, वर्तमान,

अनागत इन तीनों का ज्ञान हम सबमें विद्यमान है। हम उसका अनुसंधान मात्र करते हैं, और कुछ नहीं। ये सारे ज्ञान स्वयं ईश्वर हैं। वेद संस्कृत भाषा के महान् ग्रन्थ हैं। हम अपने देश में वेदपाठी के सम्मुख नतमस्तक होते हैं, भौतिक शास्त्र के विशेषज्ञ की हम कोई चिन्ता नहीं करते। यह अन्धविश्वास ही है। यह बिलकुल ही वेदान्त नहीं। यह कोरा जड़वाद है। ईश्वर के लिए समस्त ज्ञान पवित्र है। ज्ञान ही ईश्वर है। अनन्त-ज्ञान पूर्ण मात्रा में प्रत्येक जीवधारी में निहित है। तुम वास्तव में अज्ञानी नहीं, भले ही ऐसा दिखायी पड़े। तुममें से हर ईश्वरावतार है। तुम सर्वशक्तिसम्पन्न, सर्वान्तर्यामी, दिव्यस्वरूप के अवतार हो। हो सकता है, मेरी बातों पर तुम्हें हंसी आये, किन्तु वह समय दूर नहीं, जब तुम इसे समझ सकोगे। तुम्हें समझना पड़ेगा। कोई पीछे नहीं रहने पायेगा।

इसका लक्ष्य क्या है ? जिस वेदान्त की चर्चा मैंने की है, वह कोई नया धर्म नहीं। वह स्वयं ईश्वर ही की भांति प्राचीन है। देश-काल के बन्धन उसे बांध नहीं सकते, वह सर्वत्र है। हर को इस सत्य का ज्ञान है। हम सब इसी का रूप निश्चित कर रहे हैं। विश्व मात्र का लक्ष्य वही है। बाह्य-प्रकृति पर भी यही नियम लागू है – कण-कण इसी लक्ष्य की ओर धावित हैं। तुम क्या सोचते हो कि परिशुद्ध अनन्त आत्माएं इस परम सत्य के दर्शन से वंचित हैं ? वह सर्वसुलभ है, सभी इसी लक्ष्य पर पहुंच रहे हैं – अन्तर्निहित दिव्यता की ओर। सनकी, हत्यारा, रूढ़िवादी, भीड़-दण्ड से पीड़ित सभी इसी लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं। हमारा काम इतना ही है कि अनजाने में जो कुछ हम कर रहे हैं उसे हम समझकर करें – अधिक अच्छाई के साथ करें।

समग्र अस्तित्व का एकत्व तुममें पहले से ही विद्यमान है। उससे रहित कभी किसी ने जन्म ही नहीं लिया। तुम किसी भी तरह उसे अस्वीकार करो, वह सदा अपने अस्तित्व को सिद्ध करता है। मानवीय अनुराग क्या है ? यह न्यूनाधिक रूप में इसी एकत्व का मण्डन तो है : 'मैं तुम, अपनी स्त्री, सन्तान, बन्धु-बान्धवों से अभिन्न हूं।' तुम केवल अनजाने में इस अभिन्नता का अनुमोदन कर रहे हो। 'कभी किसी ने पति से पति के नाते नहीं, अपितु पति में निवसित आत्मा के हेतु अनुराग दर्शाया है।'[1] पत्नी पति से अभिन्नता का अनुभव करती है। पति भी पत्नी में निज को ही पाता है – प्रकृत्या वह ऐसा करता है। जान-बूझकर वह ऐसा कर नहीं पाता है।

सम्पूर्ण जगत् एक ही सत्ता है। उसके अतिरिक्त और कुछ हो भी नहीं सकता। विभिन्नताओं के परे हम इसी विराट् विश्व-सत्ता की ओर बढ़ रहे हैं। परिवार से

---

1. न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।।
–बृहदारण्यकोपनिषद्।। 2। 4। 5।।

कबीले, कबीलो से कुल, कुलों से राष्ट्र, राष्ट्रों से मानवता – कितनी इच्छाएं उस एकत्व की ओर अग्रसर हो रही हैं ! इस एकत्व की अनुभूति ही सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान है।

एकत्व ही ज्ञान है और अनेकता ही अज्ञान। इस ज्ञान पर तुम सबका जन्मसिद्ध अधिकार है। मुझे तुमको यह सब समझाने की आवश्यकता नहीं। संसार में कभी भी अलग-अलग धर्म नहीं रहे। चाहें या न चाहें, हम सभी मुक्ति के अधिकारी हैं। अब अन्त में बन्धन-मुक्त होकर रहेंगे, क्योंकि मुक्त होना तुम्हारा स्वभाव है। हम तो मुक्त हैं ही, केवल हम जानते भर नहीं और हमें पता नहीं कि हम क्या करते रहे हैं। समस्त धर्मों के विधि-विधानों, आदर्शों का नैतिक मानदंड एक है। एक ही ध्येय का प्रचार हो रहा है कि 'सबसे स्वार्थरहित बनो, दूसरों से प्रेम करो।' कोई कहता है, 'जेहोवा का आदेश है।' मुहम्मद साहब ने घोषणा की, 'अल्लाह', दूसरे चिल्लाये, 'मसीहा !' अगर यह जेहोवा का आदेश होता, तो वह जेहोवा से अपरिचितों का आदर्श हुआ कैसे ? यदि यह केवल ईसामसीह का सन्देश है, तो उन्हें न जाननेवालों को वह कैसे प्राप्त हुआ ? अगर केवल विष्णु ही ऐसा कर सके तो उनको न जाननेवाले एक यहूदी का यह जीवन-ध्येय क्यों हुआ ? सबसे महत्तर एक अन्य प्रेरणा-स्रोत है। वह है कहां ? वह है ईश्वर के सनातन मन्दिर में, वह है क्षुद्र से लेकर महान् तक की आत्मा में। अनन्त निःस्वार्थता, असीम त्याग और महती एकता की ओर जानेवाली असीम अनिवार्यता वहां ही है।

अपने अज्ञान के कारण देखने में हम विभक्त एवं सीमित से लगते है और हम मानो नगण्य, श्रीयुत-श्रीमती ही रह गये हैं। किन्तु समूची प्रकृति इस भ्रम को हर क्षण असत्य सिद्ध करती रही है। सबसे विलग मैं एक तुच्छ स्त्री-पुरुष नहीं। मैं एक विराट सत्ता ही हूं। आत्मा निज गौरव के सहारे क्षण-प्रतिक्षण जागृत हो रही है, एवं अपनी सहजात दिव्यता का उद्घोष कर रही है।

यह वेदान्त सर्वत्र है, केवल तुम्हें उससे अवगत होना है। ये निरर्थक विश्वासपुंज एवं अन्धविश्वास-समूह ही हमारी प्रगति में बाधक है। अगर सम्भव हो तो हम इन्हें दूर फेंकें और यह समझें कि ईश्वर सत्य-आत्मा के द्वारा एक उपास्य आत्मा है। अब अधिक बनने का प्रयत्न मत करो। भौतिकता को दूर हटाओ ! ईश्वर की धारणा यथार्थतः आध्यात्मिक होनी चाहिए। ईश्वर सम्बन्धी अन्य आदर्श जो न्यूनाधिक रूप में जड़वाद से प्रेरित हैं, अवश्य ही विदा हों। जब मानव अधिकाधिक आध्यात्मिक होगा, तो उसे निरर्थक विचारों को दूर फेंकना होगा, उन्हें पीछे छोड़ आना होगा। वस्तुतः हर देश में कुछ ऐसे पुरुष हुए हैं, जो भौतिकता के परित्याग के लिए शक्तिमान हो एवं आत्मा के अमर आलोक में खड़े होकर आत्मा की आत्मा से आराधना करते हैं।

अगर वेदान्त – जो यह चेतनशील ज्ञान है कि सभी एक आत्मा है, चारों ओर फैल जाये तो सारी मानवता आध्यात्मिक हो जायगी। परन्तु क्या यह सम्भव है ? मैं तो कुछ नहीं कह सकता। हजारों वर्षों में भी यह सम्भव नहीं हुआ। पुरानी सड़ी-गली धारणाओं को विदा लेनी ही है। अपने अन्धविश्वासों के चिरस्थायी बनने के फेर में ही तुम अभी पड़े हो। उस पर भी परिवार-बन्धु, जाति-भाई, राष्ट्र-बन्धु आदि के झमेले हैं। वेदान्त-सिद्धि के मार्ग में ये सब रोड़े हैं। इनेगिनों के ही लिए धर्म-धर्म रहा है।

सारे संसार के धर्मक्षेत्र में कार्य करनेवाले व्यक्तियों में बहुतेरे वास्तव में राजनीतिक कार्यकर्ता ही रहे हैं। यही मानव इतिहास रहा है। किसी से समझौता न करते हुए शायद ही उन्होंने सत्य का अनुशीलन किया हो, ये लोग सदा ही समूह या समाज नामधारी ईश्वर के उपासक रहे हैं। अधिकतर जनसमुदाय के अंधविश्वासों और दुर्बलताओं के समर्थन से ही उनका सम्बन्ध रहा है। प्रकृति पर विजय-प्राप्ति उनका लक्ष्य नहीं, बल्कि अपने को प्रकृति के अनुकूल बनाने में लगे रहना उनका साध्य है – और कुछ नहीं। भारत में जाकर किसी नये धर्म का प्रचार करो – वे अपना कान हटा लेंगे। लेकिन यदि तुम बताओ कि वह वेद से उद्धृत है, तब वे कहेंगे, 'यह ठीक है।' मैं यहां इस मत की शिक्षा दे सकता हूं; किन्तु तुममें से ऐसे कितने हैं, जो इसे ध्यानपूर्वक स्वीकार करेंगे ? पर यह पूर्णतया सत्य है, और मुझे तुम्हारे लिए इसका प्रतिपादन करना ही है।

इस प्रश्न का एक दूसरा भी पक्ष है। प्रत्येक यही कहता है कि सर्वोच्च एवं पूर्ण सत्य की अनुभूति एकाएक सबके लिए सम्भव नहीं; क्रम से उपासना, प्रार्थना एवं अन्य प्रचलित धार्मिक विधि-विधानों का सहारा लेकर धीरे-धीरे मानव को यहां तक पहुंचाना होगा। मैं कह नहीं सकता कि यह तरीका गलत है या सही। भारत में मैं दोनों मार्गों से कार्य करता हूं।

कलकत्ते में ईश्वर, वेद, बाईबिल, बुद्ध आदि के नाम पर बहुत सारे मन्दिर एवं प्रतिमाएं हैं। इन्हें चलने दो। लेकिन हिमालय की ऊंचाइयों पर हमने एक स्थान बनाया है, जहां पूर्ण सत्य की अपेक्षा और किसी वस्तु पर प्रवेश नहीं हो सकता। तुम्हारे सम्मुख आज के व्याख्यान में बताये गये तत्त्वों का प्रयोग वहां देखना चाहता हूं। आश्रम एक अंग्रेज सज्जन और अंग्रेज महिला के संरक्षण में है। सत्य-साधकों का प्रशिक्षण, शैशव से ही निर्भीक, अन्धविश्वासरहित नरश्रेष्ठों का निर्माण आदि मेरा ध्येय है। वे ईसा, बुद्ध, शिव एवं विष्णु आदि नामों को सुनने नहीं पायेंगे – इनमें से किसी का भी नहीं। आरम्भ से ही उन्हें आत्मनिर्भर बनने की शिक्षा दी जायगी। शैशवावस्था से ही वे सीखेंगे कि ईश्वर आत्मा है, आत्मा और सत्य के द्वारा ही उसकी आराधना

होनी चाहिए। सबको आत्मा के रूप में देखना होगा। यही आदर्श है। इसकी सफलता का मुझे कोई अनुमान नहीं। आज मैं अपने प्रिय विषय का प्रचार कर रहा हूं। यदि द्वैत के सम्पूर्ण रूढ़ि-विश्वासों से दूर ऐसे ही आदर्श के अनुरूप मेरा लालन-पालन भी हुआ होता, तो कितना भला होता !

कभी-कभी मैं यह स्वीकार करता हूं कि द्वैत मार्ग में भी कुछ अच्छाई अवश्य है, जो दुर्बल हैं, उनकी यह सहायता करता है। यदि कोई तुमसे ध्रुव नक्षत्र देखना चाहे, तो पहले उसे तुम निकटवर्ती उज्ज्वल नक्षत्र, पीछे क्षीण प्रकाश का नक्षत्र, बाद में धुंधला नक्षत्र और अन्त में ध्रुव नक्षत्र दिखाओ। उसके ध्रुव नक्षत्र के निरीक्षण में इससे आसानी होगी। समस्त साधनाएं, दीक्षा-विधियां, धर्मग्रन्थ, ईश्वर आदि धर्म के आरम्भिक रूप हैं, धर्म की शिशुशालाएं मात्र हैं।

तदुपरान्त इसके दूसरे पक्ष पर भी मैं सोचता हूं। यदि संसार इस धीमी चाल, क्रमिक प्रणाली का अनुसरण करता है, तो सत्य-साक्षात्कार में इसे कितनी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी ? कितनी देर होगी ? यह कभी किसी सीमा तक सफल हो सकेगा, इसका निश्चय कैसे किया जाय ? आज तक तो यह सफल नहीं रहा। आखिरकार क्रम से हो या क्रमरहित, दुर्बल के लिए सरल या जटिल, क्या द्वैत मार्ग असत्य पर आधारित नहीं है ? क्या सारे प्रचलित धार्मिक अनुष्ठान ज्यादातर कमजोरी बढ़ानेवाले, इसीलिए दोषपूर्ण नहीं हैं ? ये गलत सिद्धान्त मानवता की भ्रामक धारणा पर आधारित हैं। दो गलतियों से कभी एक सत्य का निर्माण होता है ? मिथ्या कभी सत्य सिद्ध होगा ? अन्धेरा कभी उजाला होगा ?

मैं एक दिवंगत व्यक्ति का सेवक हूं। उनका मैं एक सन्देशवाहक मात्र हूं। मैं प्रयोग करना चाहता हूं। वेदान्त-शिक्षा मैंने अभी तुमको दी है, उस पर कोई ठोस प्रयोग पहले नहीं हुआ। यद्यपि वेदान्त विश्व का प्राचीनतम दर्शन है, फिर भी अन्धविश्वास आदि समस्त विकारों को इसमें मिला दिया गया है।

ईसामसीह के उद्‌गार थे, 'परम पिता और मैं दोनों अभिन्न हैं', और तुम इसे दुहराते हो, फिर भी मनुष्य के लिए यह सहायक सिद्ध नहीं हुआ। लगभग बीस सदियों तक मानव इस उद्‌गार का मर्म न जान सके। ईसा मानवों के रक्षक ठहराये गये। वे ईश्वर और हम कीड़े हैं ! यही हाल भारत में भी है। हर देश में यही धारणा हर सम्प्रदाय विशेष की रीढ है। सैकड़ों, हजारों वर्षों से दुनिया में लाखों-करोडों की संख्या में जगदीश्वर, अवतारी, पुरुष, उद्धारक, पैगम्बर आदि की आराधना व्यक्ति को प्रेरित करती आयी है। लोगों को यही सिखाया गया है कि वे असहाय हैं, दुःखी जीव हैं और मुक्ति के लिए किसी व्यक्ति विशेष या व्यक्ति समूह पर ही उनको आश्रित रहना है।

इन विश्वास-भावनाओं में अद्‌भुत तत्त्व हैं अवश्य। किन्तु वे अपनी चरमावस्था में भी धर्म की शिशुशालाएं मात्र हैं, और उनसे किसी को कोई खास सहायता नहीं मिली। मानव एक प्रकार के सम्मोहन के द्वारा अति अधमावस्था की प्राप्त को गया है। हां, इस दशा में भी कुछ ऐसे स्थितप्रज्ञ लोग हैं, जो इस मोह-जाल को काट फेंकते हैं। महापुरुषों के आविर्भाव का अनुकूल समय आयेगा और उनके सतत प्रयास से धर्म की ये शिशुशालाएं विनष्ट हो जायगी और यथार्थ धर्म.– आत्मा से आत्मा की आराधना – अधिक सजीव और शक्तिशाली हो सकेगा।

वेदान्त और विशेषाधिकार
(लन्दन में दिया गया व्याख्यान)

अद्वैत के तत्ववाद से सम्बद्ध भाग को हम सभी ने समाप्त कर कर लिया है; परन्तु इतना करने के बावजूद भी हमारे सामने एक परेशानी भी प्रश्न बनकर खडी है। हम समझ रहे हैं कि अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार हम अपने चारों तरफ जो कुछ देखते हैं, सम्पूर्ण संसार उसी का पूर्ण विकास है। प्रकृति में एक शक्ति परिणत हो गई है। इस शक्ति को संस्कृत भाषा में ब्रह्म कहते हैं। परन्तु यहां एक कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। ब्रह्म के लिए परिणामी होना कैसे सम्भव है ? ब्रह्म में परिणति किसने की ? स्वयं अपनी परिभाषा के अनुसार ब्रह्म अपरिणामी है। अपरिणामी में परिणाम का होना परस्पर-विरोधी है। जो सगुण ईश्वर मे विश्वास रखते है, उनके लिए भी वही कठिनाई उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, यह सृष्टि कैसे हुई ? शून्य से उसका उद्‌भव नहीं हो सकता, इसमें अन्तर्विरोध है – असत् से सत् का प्रादुर्भाव कभी हो नहीं सकता। कार्य दूसरे रूप में कारण ही है। बीज से विशाल वृक्ष उगता है। वृक्ष बीज है, जिसमें वायु तथा जल गृहीत हैं; और यदि वृक्ष के आकार के निर्माण में लिये गये जल तथा वायु की मात्रा के परीक्षण की कोई विधि निकल आये, तो हमें पता लग जायगा कि वह (बीज) ठीक वही कार्य अर्थात् वृक्ष है। आधुनिक विज्ञान ने इसे असन्दिग्ध रूप से सिद्ध कर दिया है कि कारण दूसरे रूप में कार्य होता है। कारण के भागों के समायोजन में परिवर्तन होता है और वह कार्य हो जाता है। अत. हमें बिना कारण के विश्व की उत्पत्ति मानने की कठिनाई से बचना है और हम यह माननें के लिए बाध्य हो जाते हैं कि ईश्वर ही विश्व बन गया है।

किन्तु हम लोग एक कठिनाई से तो बचे, पर दूसरी मे पड गये। हर सिद्धान्त में अपरिवर्तनशीलता की धारणा के माध्यम से ईश्वर की धारणा आ जाती है। हमने इतिहास से खोज निकाला है कि ईश्वर विषयक जिज्ञासा की सबसे अपरिपक्व अवस्था में भी जो एक भाव मन में सदा बना रहा है, वह है मुक्ति का भाव; और मुक्ति तथा अपरिवर्तनशीलता या नित्यता की धारणा एक तथा अभिन्न हैं। केवल मुक्त ही ऐसा

है, जिसमें कभी परिवर्तन नहीं होता और जो अपरिणामी या नित्य है, केवल वही मुक्त है; क्योंकि किसी वस्तु में परिवर्तन किसी अन्य बाह्य वस्तु द्वारा अथवा आन्तरिक वस्तु द्वारा, जो अपने परिवेश की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हो, उत्पन्न होता है। परिणाम-धर्मी प्रत्येक वस्तु अवश्य ही कुछ कारण या कारणों से आबद्ध होती है। ये कारण अपरिणामी नहीं हो सकते। मान लिया जाय कि ईश्वर ही यह विश्व बन गया है, तो ईश्वर यहां है और वह परिवर्तित हो गया है; और मान लिया जाय कि असीम यह ससीम विश्व बन गया है, तो असीम का इतना अंश निकल गया और इसलिए असीम में से विश्व के घटा देने पर जो शेष रह जाय, वही ईश्वर हुआ। परिणामी या परिवर्तनशील ईश्वर हो नहीं सकता। सर्वेश्वरवाद के इस सिद्धान्त से बचने के लिए वेदान्त में बड़ा ही निर्भीक सिद्धान्त है। वह है – जिस रूप में हम इस जगत् को जानते या सोचते हैं, उसकी सत्ता ही नहीं है; अपरिवर्तनीय परिवर्तित नहीं हुआ है; यह सारा विश्व आभास मात्र है, सत्य नहीं है और अंशों, क्षुद्र जीवों तथा विभेद के ये प्रत्यय मिथ्या हैं, स्वयं वस्तु के स्वरूप नहीं। ईश्वर में किंचित भी परिवर्तन नहीं हुआ है तथा वह लेशमात्र विश्व नहीं बना है। देश, काल और निमित्त के माध्यम से देखने के लिए विवश होने के कारण हम ईश्वर को विश्ववत् देखते हैं। देश, काल एवं निमित्त के कारण यह आपातदृष्ट भेद है, वस्तुतः नहीं। सचमुच यह बड़ा निर्भीक सिद्धान्त है। अब इस सिद्धान्त की व्याख्या जरा और स्पष्ट रूप से होनी चाहिए। इसका अर्थ वह (दार्शनिक) आदर्शवाद या प्रत्ययवाद नहीं है, जैसा कि लोग साधारण-तया समझते हैं। वह यह नहीं कहता है कि विश्व का अस्तित्व नहीं है। उसका अस्तित्व है, किन्तु साथ ही हम उसे जो समझते हैं, वह नहीं है। इसे सोदाहरण समझाने के लिए अद्वैत-दर्शन द्वारा दिया गया दृष्टान्त सुविदित है। रात के अन्धकार में पेड़ का तना किसी अन्धविश्वासी को भूत के रूप में, लुटेरे को पुलिस के रूप में और साथी की प्रतीक्षा में खड़े किसी व्यक्ति को सुहृद् के रूप में दिखायी पड़ता है। इन सभी स्थितियों में वृक्ष का तना परिवर्तित नहीं हुआ, परन्तु परिवर्तनों के आभास हुए और ये परिवर्तन देखनेवालों के मन में घटित हुए थे। हम मनोविज्ञान के द्वारा आत्मनिष्ठ पक्ष से इसे अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं। कोई हमसे बहिर्वस्तु है, जिसका प्रकृत स्वरूप हमें अज्ञात एवं अज्ञेय है – उसे हम 'क' मान लें; और कोई हममें अन्तर्निष्ठ वस्तु है। वह भी हमें अज्ञात एवं अज्ञेय है – उसे हम 'ख' मान लें। 'क' और 'ख' का समवाय ज्ञेय है, अतः प्रत्येक वस्तु जिसे हम जानते हैं, उसके दो भाग हुए, 'क' जो बाहर है और 'ख' जो भीतर है; और 'क' तथा 'ख' की संहति वह वस्तु हुई, जिसे हम जानते हैं। अतः विश्व में हर रूप अंशतः हम लोगों की सृष्टि

है और अंशत: कुछ बाह्य वस्तु है। अब वेदान्त यह प्रतिपादित करता है कि यह 'क' और यह 'ख' एक ही है और उनमें अन्तर नहीं।

कुछ पाश्चात्य दार्शनिक, विशेषत: हर्बर्ट स्पेन्सर तथा कतिपय अन्य आधुनिक दार्शनिक, इससे बहुत मिलते-जुलते निष्कर्ष पर पहुंचे हैं। जब यह कहा जाता है कि वही शक्ति जो अपने को फूलों में अभिव्यक्त कर रही है, मेरी अपनी चेतना में भी उमड रही है, तब यह ठीक वही भाव है, जिसका उपदेश वेदान्ती देते हैं कि बाह्य-जगत् की तात्त्विकता तथा अन्तर्जगत् की तात्त्विकता एक एवं अभिन्न है। आन्तरिक तथा बाह्य के भावों का अस्तित्व भी भेदजन्य है और स्वयं वस्तुओं में उनका अस्तित्व नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि हममें एक अन्य इन्द्रिय विकसित हो जाय, तो हमारे लिए सारा जगत् बदल जायगा, जिसका अभिप्राय यह है कि विषयी विषय को बदल देगा। यदि मैं परिवर्तित होता हूं, तो बाह्य-जगत् परिवर्तित हो जाता है। अतएव वेदान्त के सिद्धान्त का मर्म यह है कि तुम और मैं तथा विश्व की प्रत्येक वस्तु ब्रह्म ही है, अंश नहीं, वरन् पूर्ण। तुम उस ब्रह्म के सर्वांश हो और अन्य लोग भी वही हैं, क्योंकि पूर्ण में अपूर्ण का भाव आ नहीं सकता। ये विभाग तथा ये सीमाएं आभास मात्र हैं, वस्तुनिष्ठ नहीं। मैं सम्पूर्ण और अशेष हूं और मैं कभी बंधन में नहीं था। वेदान्त डंके की चोट पर कहता है कि यदि तुम अपने को बंधन में समझते हो, तो बंधन में पड़े रहोगे; यदि तुम जानते हो कि तुम मुक्त हो, तो बस मुक्त हो गये। इस प्रकार इस दर्शन का चरम लक्ष्य तथा उद्देश्य हमें यह बोध कराता है कि हम सदैव मुक्त रहे हैं और नित्य मुक्त रहेंगे। हम न कभी परिवर्तित होते हैं, न मरते हैं और न जन्म लेते हैं। तब यह परिवर्तन क्या हैं ? इस जगत् को मिथ्या जगत् के रूप में स्वीकार किया गया है, जो देश, काल तथा निमित्त से आबद्ध है और इसे संस्कृत में विवर्तवाद की संज्ञा दी गयी है। यह प्रकृति का विकास और ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। ब्रह्म में कोई विकार नहीं होता, या उसका पुनर्विकास नहीं होता। सूक्ष्म जीवाणु (एमीबा) में अव्यक्त रूप से वही असीम पूर्णता रहती है। एमीबा आवरण के कारण इसका नाम एमीबा पड़ा और एमीबा अवस्था से पूर्ण मनुष्य होने की अवस्था पर्यन्त उसमें परिवर्तन नहीं होता, जो भीतर विद्यमान है – वह ज्यों का त्यों अविकारी बना रहता है – किन्तु आवरण में परिवर्तन होता है।

यहां एक परदा है और बाहर सुन्दर दृश्य है। परदे में एक छोटा-सा छिद्र है, जिससे हम उसकी झलक मात्र पाते हैं। मान लो यह छिद्र बढ़ने लगा। ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाता है, त्यों-त्यों दृश्य का अधिकाधिक अंश दिखाई पड़ने लगता है और जब परदे का लोप हो जाता है, तब सम्पूर्ण दृश्य दृष्टिगत हो जाता है। यह बाहर का

दृश्य आत्मा है और हमारे तथा दृश्य के बीच का परदा माया – देश, काल और निमित्त है। कहीं एक छोटा-सा छिद्र है, जिससे मुझे आत्मा की एक झलक मात्र मिलती है। जब छिद्र पहले से बड़ा हो जाता है, तब मैं अधिकाधिक साक्षात्कार करने लगता हूं और जब परदा लुप्त हो जाता है, तब मैं जानता हूं कि मैं आत्मा हूं। अत: विश्व में जो परिवर्तन होते हैं, उनसे ब्रह्म निर्लिप्त है। परिवर्तन प्रकृति में होता है। प्रकृति अधिकाधिक विकसित होती है और अन्तत: ब्रह्म अपने को अभिव्यक्त करता है। हर में उसकी सत्ता है। कुछ में उसकी अभिव्यक्ति दूसरों की अपेक्षा अधिक होती है। सम्पूर्ण विश्व यथार्थत: एक है। आत्मा के प्रसंग में यह कथन निरर्थक है कि एक आत्मा अन्य की अपेक्षा श्रेष्ठ है। आत्मा के वर्णन में यह कथन निरर्थक है कि मनुष्य पशु अथवा पौधे से श्रेष्ठ है; सारा विश्व एक है। पौधे में आत्मा की अभिव्यक्ति में रुकावटें बहुत बड़ी हैं; पशुओं में उनसे थोड़ी कम और मनुष्य में और भी कम हैं; सुसंस्कृत आध्यात्मिक मनुष्यों में उनसे भी कम हैं और पूर्ण मानव में उन रुकावटों का पूर्णतया लोप हो जाता है। हमारे सभी संघर्ष, अभ्यास, कष्ट, सुख, आंसू और मुसकान – जो कुछ हम करते और सोचते हैं – इसी ध्येय की ओर प्रवृत्त होते हैं कि परदा फट जाय, छिद्र बढ़ता जाय और पीछे छिपी हुई अभिव्यक्ति एवं यथार्थता के बीच की परतें क्षीण हो जायं। अत: हमारा कार्य आत्मा को मुक्त करना नहीं, वरन् बंधन से पिंड छुड़ाना है। सूर्य बादलों की परतों में ढंका है, किन्तु उनसे अप्रभावित है। वायु का कार्य बादलों को उड़ाकर भगा देना है और बादल जितने ही छटेंगे उतना ही सूर्य का प्रकाश दिखायी पड़ने लगेगा। आत्मा में कोई भी विकार नहीं है – वह असीम, पूर्ण, शाश्वत और सच्चिदानन्द है। आत्मा का जन्म-मरण भी नहीं हो सकता। मृत्यु, जन्म, पुनर्जन्म और स्वर्गारोहण आत्मा का नहीं हो सकता। ये तो नाना आभास, नाना मृगमरीचिकाएं और नाना स्वप्न हैं। यदि कोई मनुष्य भव-स्वप्न देख रहा है और इस समय दुर्विचारों तथा दुष्कर्मों के स्वप्न में निमग्न है, तो कुछ काल पश्चात् उसी स्वप्न का विचार दूसरे स्वप्न को पैदा करेगा। वह स्वप्न देखेगा कि वह एक भयानक स्थान में है और उसे यंत्रणा मिल रही है। जो मनुष्य सुविचारों तथा शुभ कर्मों का स्वप्न देख रहा है, वह उसकी अवधि समाप्त होने पर यह स्वप्न देखेगा कि वह पहले की अपेक्षा उत्तम स्थान में है और एक स्वप्न के पश्चात् दूसरे स्वप्न का तांता लगा रहेगा। परन्तु वह समय आयेगा, जब ये सभी स्वप्न विलुप्त हो जायेंगे। हममें से प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष एक ऐसा समय अवश्य आयेगा, जब समस्त विश्व स्वप्न मात्र प्रतीत होगा। तब हमें पता लगेगा कि अपने परिवेश की अपेक्षा आत्मा अनन्त गुना श्रेष्ठ है। जिन्हें हम अपना परिवेश कहते हैं, उनके बीच संघर्ष में एक

समय ऐसा आयेगा, जब हमें पता लगेगा कि आत्मा की शक्ति की तुलना में ये परिवेश प्राय: शून्य थे। केवल प्रश्न काल का है और अनन्त में काल-शून्य है; महासागर में यह एक बूंद के तुल्य है। हममें प्रतीक्षा की क्षमता है और हम शान्त रह सकते हैं।

अतएव जाने या अनजाने में समस्त विश्व उसी लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहा है। चन्द्रमा अन्य पिंडों की आकर्षण-शक्ति की परिधि से निकलने के लिए संघर्ष कर रहा है और अन्ततोगत्वा वह उससे बाहर निकलेगा ही। लेकिन जो मुक्त होने के प्रयास में सचेत हैं, वे काल की अवधि त्वरित कर देते हैं। इस सिद्धान्त से एक लाभ जो हमें व्यावहार में दिखायी पडता है वह यह है कि केवल इसी दृष्टिकोण से यथार्थ सार्वभौम प्रेम का भाव सम्भव है। सब साथ के मुसाफिर है, सहयात्री हैं – सभी जीव, पौधे और पशु; केवल मेरा भाई मनुष्य ही नहीं, वरन् मेरा भाई पशु और मेरा भाई पौधा भी; केवल मेरा भाई सज्जन ही नहीं, वरन् मेरा भाई दुर्जन, मेरा भाई आध्यात्मिक और मेरा भाई दुष्ट भी है। वे सब एक लक्ष्य की ओर चल रहे हैं। सब एक ही नदी में हैं, और अनन्त मुक्ति की दिशा में हर शीघ्रता से बढ़ रहा है। हम धारा को रोक नहीं सकते, कोई भी रोक नहीं सकता, कोई पीछे नहीं जा सकता, चाहे वह लाख कोशिश करे; वह आगे बहता ही जायगा और अन्त में मुक्ति-लाभ करेगा। मुक्ति हमारी सत्ता का केन्द्र-बिन्दु है, जिससे मानो हम बाहर फेंक दिये गये हैं और सृष्टि का अभिप्राय वहीं वापस लौटने का संघर्ष है। हम यहां हैं, यह तथ्य ही बतलाता है कि हम केन्द्र की ओर जा रहे हैं और केन्द्र की ओर इस आकर्षण की अभिव्यक्ति को हम प्रेम कहते हैं।

प्रश्न पूछा जाता है कि विश्व की उत्पत्ति किससे होती है, किसमें उसकी स्थिति है और फिर किसमें वह लय होता है ? और उत्तर है – प्रेम से उसकी उत्पत्ति होती है, प्रेम में वह स्थित होता है और प्रेम में ही लीन हो जाता है। इस प्रकार हम यह समझ सकते हैं कि चाहे किसी को पसन्द हो या नापसन्द, किसी के लिए प्रतिगमन की गुंजाइश नहीं। पीछे लौटने के लिए चाहे कोई कितना भी छटपटाये, प्रत्येक को केन्द्र में पहुंचना ही होगा। फिर भी यदि हम सचेत होकर और जान-बूझकर प्रयत्न करें, तो इससे मार्ग निरापद होगा, संघर्षण कम हो जायगा और समय भी कम लगेगा। इससे स्वभावत: हम जिस दूसरे निष्कर्ष पर पहुंचते हैं, वह यह है कि सभी ज्ञान और सभी शक्ति भीतर हैं, बाहर नहीं। जिसे हम प्रकृति कहते हैं, वह प्रतिबिम्बक शीशा (दर्पण) है – बस प्रकृति का इतना ही प्रयोजन है – और समस्त ज्ञान प्रकृति के इस दर्पण पर अभ्यंतर परावर्तन या प्रतिबिम्बन है। जिन्हें हम सिद्धियां, प्रकृति के रहस्य और शक्ति कहते हैं, वे सब भीतर विद्यमान हैं। बाह्य-जगत् में परिवर्तन की श्रृंखला

मात्र होती है। प्रकृति में कोई ज्ञान नहीं; मानव की आत्मा में ज्ञान उद्भूत होता है। मनुष्य ज्ञान व्यक्त करता है, अपने भीतर वह उसका आविष्कार करता है, जो पहले शाश्वतकाल से विद्यमान है। सभी व्यक्ति चित्स्वरूप है, हर व्यक्ति आनन्दस्वरूप और सत्स्वरूप हैं। समता के सम्बन्ध में नैतिक प्रभाव ठीक वैसा ही है, जैसा हम अन्यत्र देख चुके हैं।

किन्तु विशेषाधिकार का भाव मानव जीवन का विष है। मानो दो शक्तियां निरन्तर कार्य कर रही हैं, एक जातियां बना रही है और दूसरी जातियां तोड़ रही है। दूसरे शब्दों में हम इसे इस प्रकार कह सकते हैं, कि एक विशेषाधिकर बनाने में लगी है और दूसरी विशेषाधिकार तोड़ने में लगी है; और जब कभी विशेषाधिकार तोड़ दिया जाता है, तब जाति को अधिकाधिक प्रकाश तथा प्रगति उपलब्ध होती है। यह संघर्ष हम अपने चतुर्दिक देखते हैं। अवश्य ही प्रथम है विशेषाधिकार का वह पाशविक भाव, जो निर्बल के ऊपर सबल का होता है। धन का विशेषाधिकार है। यदि दूसरे की अपेक्षा किसी के पास अधिक द्रव्य है, तो वह कम द्रव्यवालों पर थोड़ा विशेषाधिकार चाहता है। फिर बुद्धि का विशेषाधिकार उससे कहीं अधिक सूक्ष्म और शक्तिशाली है। एक आदमी दूसरों की अपेक्षा अधिक जानकारी रखता है, इसलिए वह अधिक विशेषाधिकार का दावा करता है; और सबसे अन्तिम तथा सबसे निकृष्ट, क्योंकि वह सर्वाधिक अत्याचारपूर्ण है, आध्यात्मिकता का विशेषाधिकार है। यदि कुछ लोग यह सोचते हैं कि उनका आध्यात्मिक ज्ञान अधिक है और वे ईश्वर के विषय में अधिक जानते हैं, तो वे अन्य सबकी अपेक्षा श्रेष्ठतर विशेषाधिकार का दावा करते हैं। वे कहते हैं, 'ऐ भेड़-बकरियो ! आओ और हमारी पूजा करो, हम ईश्वर के संदेशवाहक हैं और हमारी पूजा तुम्हें करनी ही पड़ेगी।'' किसी के ऊपर मानसिक, शारीरिक अथवा आध्यात्मिक विशेषाधिकार स्वीकार करना और साथ ही वेदान्ती बनना – दोनों नहीं हो सकता। किसी को रंच मात्र विशेषाधिकार नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति में समान ही सामर्थ्य है – एक में उसकी अभिव्यक्ति अधिक है, दूसरे में कम। हर में समान क्षमता है। फिर विशेषाधिकार का दावा कहां ? प्रत्येक आत्मा में, यहां तक कि सर्वाधिक अज्ञानी में भी, समस्त ज्ञान है; उसने उसे अभिव्यक्त नहीं किया, लेकिन शायद उसे अवसर नहीं मिला, शायद, परिवेश उसके अनुकूल नहीं थे। जब उसे अवसर मिलेगा, तब वह उसे अभिव्यक्त करेगा। एक मनुष्य दूसरे से जन्मना श्रेष्ठ है, यह भाव वेदान्त की दृष्टि से निरर्थक है और दो राष्ट्रों में से एक श्रेष्ठ है तथा दूसरा निकृष्ट है; यह विचार भी बिलकुल निरर्थक है। दोनों को एक ही परिस्थितियों में रखो और देखो कि एक-सी बुद्धि का समुदय होता है या नहीं। इसके पूर्व तुम्हें यह कहने का अधिकार

नहीं कि एक राष्ट्र दूसरे से श्रेष्ठतर है। जहां तक आध्यात्मिकता का सवाल है, वहां विशेषाधिकार का दावा नहीं होना चाहिए। मानव जाति की सेवा करना विशेषाधिकार है, क्योंकि यह ईश्वर की उपासना है। ईश्वर यहीं है, इन सब मानवीय आत्माओं में है। वह मनुष्य की आत्मा है। मनुष्य क्या विशेषाधिकार मांग सकते हैं ? ईश्वर के कोई विशेष संदेशवाहक नहीं, न कभी हुए और न हो सकते हैं। छोटे-बडे सभी जीव ईश्वर की समान रूप से अभिव्यक्तियां हैं, अन्तर केवल अभिव्यक्तियों में है। वही सनातन संदेश, जो शाश्वत काल से दिया जाता रहा है, उन्हे थोडा-थोडा प्राप्त हो रहा है। वह सनातन सन्देश प्रत्येक जीव के हृदय पर अंकित है, वह वहां पहले से ही विद्यमान है और उसे प्रकट करने के लिए सब संघर्ष कर रहे हैं। अनुकूल परिस्थितियों में होने के कारण कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा कुछ अच्छे प्रकार से प्रकट करते हैं, पर सदेशवाहक के रूप मे सब एक ही हैं। वहां श्रेष्ठता का दावा क्या ? सर्वाधिक अज्ञानी, सर्वाधिक अबोध शिशु भी ईश्वर के उतने ही महान् संदेशवाहक हैं, जितने वे जिनका कभी अस्तित्व रहा और वे जो कभी भविष्य में पैदा होगे, क्योंकि प्रत्येक जीव के हृदय पर सदा के लिए वह अनन्त संदेश अंकित कर दिया गया है। जहां कहीं भी जीव है, उसके पास सर्वोच्च का अनन्त सदेश है। वह वहां है। अत. अद्वैत का कार्य इन सभी विशेषाधिकारो को तोड डालना है। यह सब कार्यो से कठिन है, और विचित्र बात तो यह है कि अद्वैत अपनी जन्मभूमि में अन्य किसी स्थान की अपेक्षा कम सक्रिय रहा है। यदि विशेषाधिकारवाला कोई देश है, तो यह वही देश है, जिसने इस दर्शन को जन्म दिया – आध्यात्मिक मनुष्य के लिए और साथ ही जन्मना मनुष्य के लिए विशेषाधिकार। वहां उन्हें रुपये-पैसे का विशेषाधिकार (मेरी समझ में लाभों में यह भी एक है) उतना नहीं है, किन्तु जन्मना विशेषाधिकार और आध्यात्मिक विशेषाधिकार सर्वत्र है।

वेदान्ती नैतिकता के प्रचार का एक बार महत् प्रयास हुआ, जो कुछ हद तक कई सौ वर्षो के लिए सफल रहा और इतिहास से हमें ज्ञात होता है कि वे वर्ष राष्ट्र के सर्वोत्तम काल थे। मेरा अभिप्राय विशेषाधिकार तोडने के बौद्धों के प्रयास से है। बुद्ध को सम्बोधित कर जिन अति सुन्दर विरुदावलियों का प्रयोग किया गया है, उनमें से जो थोडी-सी मुझे याद हैं, वे इस प्रकार हैं – हे जाति-विध्वंसक, विशेषाधिकारविनाशक, सर्वजीव-समत्व-शिक्षक।' इस तरह समता के एक भाव का उन्होंने उपदेश दिया। श्रमणों के भ्रातृ-मण्डल में इसकी शक्ति को कुछ हद तक गलत समझा गया। हमें पता लगता है कि वहां वरिष्ठों एवं कनिष्ठों की व्यवस्था कर उनका धर्मसंघ बनाने के सैकडों प्रयत्न किये गये। यदि लोगों से कहो कि सभी देवता हैं, तो तुम धर्मसंघ को

ज्यादा कारगर नहीं बना सकते। वेदान्त के अच्छे प्रभावों में से एक यह है कि धार्मिक विचारों में स्वतन्त्रता रही है, जिसका उपभोग भारत ने अपने इतिहास के सभी कालों में किया है। यह एक गौरव की बात है कि यह एक ऐसा देश है, जहां कभी धार्मिक उत्पीड़न नहीं हुआ और जहां लोगों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता दी जाती है।

वेदान्त के इस व्यावहारिक पक्ष की आज भी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी पहले कभी थी; और शायद पहले की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यकता है, क्योंकि ज्ञान के विस्तार के साथ विशेषाधिकार का यह दावा अत्यधिक घनीभूत हो गया है। भगवान और शैतान या अहुर्मज्द और अहिर्मन की कल्पना में पर्याप्त काव्य है। सुर और असुर में कुछ भेद नहीं है, भेद केवल निःस्वार्थ में तथा स्वार्थ में है। असुर भी उतना जानता है, जितना सुर, उसमें बस पवित्रता नहीं होती – इसी से वह असुर बन जाता है। आधुनिक संसार पर वही भावना लागू करो। अपवित्र ज्ञान और शक्ति का अतिरेक मनुष्यों को असुर बना देता है। यन्त्रों तथा अन्य साज-सामानों के निर्माण से बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त की जा रही है और आज विशेषाधिकारों का ऐसा दावा किया जा रहा है, जैसा संसार के इतिहास में पहले कभी नहीं किया गया था। इसी कारण वेदान्त इसके विरुद्ध प्रचार करना चाहता है कि मनुष्यों की आत्मा पर अत्याचार करना समाप्त किया जाय।

तुममें से जिन लोगों ने गीता पढ़ी है, उन्हें यह स्मरणीय उद्धरण याद होगा – 'सचमुच वही ऋषि और पण्डित हैं, जो विद्या तथा विनय से युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में समदृष्टि रखता है। जिसका अन्तःकरण समता में अर्थात् सब भूतों के अन्तर्गत ब्रह्मरूप सम्भाव में निश्चलतापूर्वक स्थित हो गया है। उसने जीवितावस्था में ही जन्म को जीत लिया है और क्योंकि वह ब्रह्म निर्दोष है, इसलिए जो समदर्शी एवं निर्दोष हैं, वे ब्रह्म में ही स्थित कहे जाते हैं।'[1] वेदान्ती नैतिकता का यही सारांश है – सबसके प्रति साम्य। हम देख चुके हैं कि वह अन्तर्जगत है, जो बाह्य-जगत् पर शासन करता है। आत्मपरिवर्तन के साथ वस्तुपरिवर्तन अवश्यम्भावी है; अपने को शुद्ध कर लो और संसार का विशुद्ध होना अवश्यम्भावी है। पहले के किसी भी समय से अधिक आजकल इस एक बात की शिक्षा की आवश्यकता है। हम लोग अपने विषय में उत्तरोत्तर कम और अपने पड़ोसियों के विषय में उत्तरोत्तर अधिक

---

1. विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
   शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।
   इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
   निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।। –गीता।। 5। 18-19।।

व्यस्त होते जा रहे हैं। यदि हम परिवर्तित होते हैं, तो संसार परिवर्तित हो जायगा; यदि हम निर्मल हैं, तो संसार निर्मल हो जायगा। प्रश्न यह है कि मैं दूसरों में दोष क्यों देखूं। जब तक मैं दोषमय न हो जाऊं, तब तक मैं दोष नहीं देख सकता। जब तक मैं निर्बल न हो जाऊं, तब तक मैं दुःखी नहीं हो सकता। जग मैं बालक था, उस समय जो चीजें मुझे दुःखी बना देती थीं, अब वैसा नहीं कर पातीं। कर्ता में परिवर्तन हुआ, इसलिए कर्म में परिवर्तन अवश्यम्भावी है – यह वेदान्त का मत है। जब हम समत्व की अद्‌भुत स्थिति में पहुंच जायेंगे अर्थात् साम्यभाव प्राप्त कर लेंगे तब उन सभी वस्तुओं पर हमें हंसी आयेगी, जिन्हें हम दुःखों और अशुभ का निमित्त कहते हैं। इसी को वेदान्त में मुक्ति-लाभ कहा गया है। उस मुक्ति तक पहुंचने का लक्षण यह है कि इस प्रकार का अनन्य भाव तथा समत्व अधिकाधिक प्रतीत होगा। 'सुख-दुःख में सम, जय पराजय में सम' – इस प्रकार की मनःस्थिति मुक्तावस्था के निकट है।

मन आसानी से नहीं जीता जा सकता। हलकी से हलकी उत्तेजना या खतरा आने पर, हर छोटी-सी घटना उपस्थिति होने पर, जो मन तरंगायमान होने लगते हैं, उनकी दशा भला क्या होगी ? जब इस प्रकार के विकार मन में उत्पन्न होते हैं, तब महान्‌ता और आध्यात्मिकता की चर्चा का क्या प्रयोजन ? मन की यह अस्थिर दशा बदलनी ही होगी। हमें स्वयं अपने से पूछना चाहिए कि हमारे ऊपर बाह्य-जगत् की कहां तक प्रतिक्रिया हो सकती है और अपने बाहर की तमाम शक्तियों के बावजूद कहां तक हम अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं। जब दुनिया की सारी शक्तियों को हम अपना संतुलन बिगाडने से रोकने में सफल हो जायं, तभी हम मुक्त हैं और उसके पूर्व नहीं। वही उद्धार है। वह यहीं है और अन्यत्र नहीं – वह यही क्षण है। इस भाव से और इस मूल स्रोत से सभी सुन्दर विचारधाराओं का संसार में प्रवाह हुआ है। जो प्रत्यक्षतः परस्पर विरोधी हैं और जिनकी अभिव्यक्ति सामान्यतः गलत अर्थ में समझी गयी है। प्रत्येक राष्ट्र में हम ऐसे कितने ही वीर तथा अद्‌भुत आध्यात्मिक व्यक्ति पाते हैं, जो ध्यान-धारण के लिए गुफाओं और वनों में चले गये तथा जिन्होंने बाहरी दुनिया से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। यह तो एक भाव है। दूसरी ओर हमें ऐसे प्राणी मिलते हैं, जो समुज्ज्वल और यशस्वी हैं और जो समाज में प्रवेश करते हैं तथा जनगण एवं दीन-दुःखियों की समुन्नति के लिए यत्न करते हैं। देखने में ये दोनों विधियां परस्पर-विरोधी हैं। जो अपने भाई मनुष्यों से पृथक् गुफा में निवास करता है, वह उन लोगों पर घृणा की दृष्टि से हंसता है, जो अपने भाई मनुष्यों के पुनरुद्धार के लिए कार्य कर रहे हैं। वह कहता है, "कितनी मूर्खता की बात है ! वहां क्या काम है ? माया का संसार सदा मायामय रहेगा। वह बदल नहीं सकता।" यदि

मैं भारत के किसी अपने पुरोहित से पूछूं कि क्या वेदान्त में तुम्हें विश्वास है, तो वह जवाब देगा, "वह तो मेरा धर्म है; मैं अवश्य विश्वास करता हूं; वह मेरा प्राण है।" "बहुत ठीक, तो क्या तुम प्राणिमात्र की समता और प्रत्येक वस्तु की अनन्य एकता को स्वीकार करते हो ?" "निश्चय ही, मैं स्वीकार करता हूं।" परन्तु दूसरे ही क्षण जब एक नीच जाति का आदमी पुरोहित के पास पहुंचता है, तो उसकी छूत से बचने के लिए वह छलांग मारकर सड़क के किनारे चला जाता है। "कूदते क्यों हो ?" "क्योंकि उसके स्पर्श मात्र से मैं अपवित्र हो जाता।" "परन्तु तुम तो अभी-अभी कह रहे थे कि हम सब एक ही हैं और तुम स्वीकार करते हो कि प्राणियों में कोई भेद नहीं है।" वह जवाब देता है, "अरे भाई, गृहस्थों के लिए तो यह केवल सिद्धान्त का विषय है; जब मैं (सन्यास लेकर) बन में जाऊंगा, तब मैं समदर्शी हो जाऊंगा।" तुम इंग्लैंड में अपने किसी बड़े आदमी से, जो बड़े कुल में पैदा हुआ हो और धनी हो, पूछो कि जब सभी ईश्वर के यहां से आये हैं, तब क्या तुम ईसाई होने के नाते मनुष्य जाति के भ्रातृत्व में विश्वास करते हो ? वह स्वीकारात्मक उत्तर देगा, किन्तु पांच मिनट में ही वह सामान्य लोगों के प्रति कुछ अनादरसूचक शब्दों का जोर से प्रयोग करने लगेगा। अतएव कई हजार वर्षों तक यह कोरा सिद्धान्त ही रहा है और कभी कार्य रूप में परिणत नहीं हुआ। इसे सब समझते हैं, सब इसे सत्य घोषित करते हैं, किन्तु जब व्यवहार में लाने की बात कहो, तो लोग कहने लगते हैं कि इसमें लाखों वर्ष लगेंगे।

कोई राजा था, जिसके बहुत से सभासद थे और इन सभासदों में से प्रत्येक यह दम भरता था कि अपने स्वामी के लिए वह जीवनोत्सर्ग करने को उद्यत है और उससे बढ़कर निष्कपट व्यक्ति कभी कोई पैदा ही नहीं हुआ। कालान्तर में एक सन्यासी राजा के यहां आया। राजा ने उससे कहा कि मेरे यहां जितने अधिक सच्चे सभासद हैं, उतने पहले किसी राजा के यहां कभी नहीं थे। सन्यासी मुसकराने लगा और उसने कहा कि मैं इस पर विश्वास नहीं करता। राजा ने कहा कि यदि चाहें तो सन्यासी महोदय परीक्षा ले सकते हैं। तब सन्यासी ने घोषणा की कि वह एक बहुत बड़ा यज्ञ करेगा, जिसके द्वारा राजा का राज्यकाल बहुत दीर्घ हो जायगा, लेकिन शर्त यह है कि एक छोटा-सा तालाब बनना चाहिए, जिसमें रात्रि के अन्धकार में प्रत्येक सभासद एक-एक घड़ा दूध उडेल दे। राजा मुसकराया और उसने कहा, "क्या यही परीक्षा है ?" उसने सभासदों को अपने पास बुलाया और उन्हें बताया कि क्या करना है। सबने प्रस्ताव पर अपनी सहर्ष स्वीकृति प्रदान की और वे सब लौट गये। निशीथ वेला में आ आकर उन्होंने अपने घड़े उड़ेले। परन्तु सबेरे देखा गया तो वह केवल पानी से भरा था। सभासद एकत्र किये गये और उनसे इस मामले में पूछताछ की गयी।

उनमें से प्रत्येक ने यह सोचा था कि इतने घड़ों का दूध हो जायेगा कि उसके द्वारा उड़ेले गये पानी का पता न लगेगा। दुर्भाग्य से हममें से अधिकांश का भाव यही होता है और हम अपने कार्य-भाग को उसी प्रकार करते हैं, जैसा कहानी के सभासदों ने किया है।

पुरोहित कहता है कि समता का भाव इतना अधिक है कि मेरे छोटे से विशेषाधिकार की पोल नहीं खुलेगी। यही बात हमारे धनिक कहते हैं, यही बात प्रत्येक देशों के अत्याचारी कहते हैं। जिन पर अत्याचार होता है, उनके लिए उन लोगों की अपेक्षा अधिक आशाएं हैं, जो अत्याचारी हैं। मुक्ति-लाभ करने में अत्याचारियों को बहुत लम्बा समय लगेगा, पर अन्य लोगों को अपेक्षाकृत कम समय लगेगा। लोमड़ी की क्रूरता सिंह की क्रूरता से अत्यधिक भयानक है। सिंह एक आघात करता है और बाद में कुछ समय शान्त रहता है, लेकिन लोमड़ी लगातार शिकार का पीछा करने की कोशिश में कोई मौका हाथ से नहीं जाने देती। "पौरोहित्य प्रकृत्या" क्रूर तथा हृदयहीन है। यही कारण है कि जहां पौरोहित्य का उदय हुआ, वहां धर्म का अधःपतन हो जाता है। वेदान्त कहता है कि हमें विशेषाधिकार का भाव अवश्य त्याग देना होगा, तभी धर्म आयेगा। उसके पूर्व धर्म का लेश भी नहीं है।

क्या ईसा के इस कथन पर तुम्हारा विश्वास है, 'तुम्हारे पास जो कुछ है, उसे बेच दो और गरीबों को दे दो ?' वहां व्यावहारिक समता है, सत्य को यथावत् ग्रहण करो। तोड़-मरोड़कर शास्त्र की व्याख्या मत करो। मैंने लोगों को यह कहते सुना है कि केवल उन मुट्ठी भर यहूदियों को वह उपदेश दिया गया था, जिन्होंने ईसा की बातों को ध्यानपूर्वक सुना। अन्य बातों में भी वही तर्क लागू होगा। शास्त्रों को मत तोड़ो-मरोडो; सत्य यथावत् ग्रहण करने का साहस करो। यदि हम वहां तक पहुंच न भी सकें, तो अपनी दुर्बलता स्वीकार कर लें, किन्तु हम आदर्श का विनाश न करें। हम आशा करें कि कभी उसे उपलब्ध कर लेंगे और एतदर्थ प्रयास करें। वही तो है – 'तुम्हारे पास जो कुछ है, उसे बेच दो और गरीबों को दे दो तथा मेरा अनुसरण करो।' इस प्रकार अपने विशेषाधिकारों तथा अपने भीतर की उस प्रत्येक वस्तु को, जो विशेषाधिकार के लाभ में सहायक है, रौंदते हुए हम उस ज्ञान के लिए उद्यम करें, इससे समस्त मनुष्य जाति के प्रति अनन्यता की भावना पैदा हो। तुम कुछ अधिक परिमार्जित भाषा बोलते हो, इससे सोचते हो कि तुम किसी साधारण व्यक्ति से बढ़कर हो। याद रखो, जब तुम ऐसा सोचते हो, तब तुम मुक्ति की ओर आगे नहीं बढ़ते हो, प्रत्युत् अपने पैरों में एक नयी बेड़ी डालते हो। सर्वोपरि बात तो यह है कि यदि आध्यात्मिकता का घमंड तुम्हारे भीतर घुसता है, तो तुम्हारे लिए महा विपत्ति है। यह

सब बंधनों से बढ़कर महा भयावना बंधन है। धन अथवा मानव हृदय का कोई अन्य बंधन आत्मा को उतना जकड़कर नहीं बांधता, जितना यह बांधता है। 'अन्य लोगों की अपेक्षा मैं अधिक पवित्र हूं' – यह भाव उन सबसे अधिक भयावह है, जिनका प्रवेश कभी मानव के हृदय में हो सकता है। किस अर्थ में तुम पवित्र हो ? तुम्हारे अन्दर जो परमात्मा है, वही परमात्मा सबमें है। यदि तुमने यह न जाना, तो कुछ न जाना। भेद हो कैसे सकता है ? यह सब तो एक है। प्रत्येक प्राणी सर्वोच्च प्रभु का मन्दिर है। यदि तुम उसे देख सके, तो ठीक है और यदि नहीं देख सके, तो तुममें आध्यात्मिकता अभी तक नहीं आयी।

विशेषाधिकार

(लन्दन के सेसम क्लब में दिया गया व्याख्यान)

सम्पूर्ण प्रकृति व ब्रह्माण्ड दो शक्तियों का रण-क्षेत्र है। इन शक्तियों में से एक निर्माणकारी है तथा दूसरी विनाशकारी है; अर्थात् एक शक्ति, पृथक् व्यष्टियों का निर्माण करती है तथा दूसरी व्यष्टियों को समष्टि में लाकर अनेक प्रकार भेदों के मध्य अभेद लाती है। मानव जीवन के हर पहलू में तथा प्रकृति में इन दोनों शक्तियों का मुख्य कार्य है। हम सदा दोनों शक्तियों को भौतिक स्तर पर सवपिक्षा सुस्पष्ट कार्य करते हुए पाते हैं। वे व्यष्टियों को पृथक् करती रहती हैं, अन्य व्यष्टियों से उन्हें अधिकाधिक भिन्न बनाती रहती हैं और फिर उन्हें जातियों और श्रेणियों में विभक्त करती हैं, एवं अभिव्यक्तियों तथा आकृतियों में एकरूपता लाती हैं। मनुष्य के सामाजिक जीवन में भी यही लागू होता है। जिस काल से समाज आरम्भ हुआ, तब ही से ये दोनों शक्तियां कार्य कर रही हैं, विभेदीकरण तथा एकीकरण में लगी हैं। विभिन्न कालों में उनका कार्य नाना रूपों में प्रकट होता हैं और वह नाना नामों से सम्बोधित होता है। परन्तु सार सबमें विद्यमान है, एक शक्ति विभेदीकरण और दूसरी एकीकरण के लिए सचेष्ट है; एक जाति बनाने और दूसरी उसे तोड़ने के लिए कार्य कर रही है; एक श्रेणियों तथा विशेषाधिकारों को जन्म देने और दूसरी उनका विनाश करने में लगी है। इसीलिए सारा विश्व इन दोनों शक्तियों का रण-क्षेत्र प्रतीत होता है। एक ओर यह आग्रह है कि यद्यपि एकीकरण की इस प्रक्रिया का अस्तित्व है, पर हमें अपनी पूरी शक्ति लगाकर इसका प्रतिरोध करना ही चाहिए, क्योंकि यह मृत्यु की ओर ले जाती है, पूर्ण एकत्व पूर्ण विनाश है, और इस विश्व में विभेदीकरण की प्रक्रिया जब बन्द हो जाती है, तब विश्व का अन्त हो जाता है। यह विभेदीकरण ही है, जो हमारे सम्मुख स्थित इस जगत् की घटनावली का निमित्त है; एकीकरण उन्हें समरूप और निर्जीव जड़पदार्थ में रूपान्तरित कर देगा। निश्चय ही मानव-जाति ऐसी स्थिति से बचना चाहती है। हम अपने चतुर्दिक् जो वस्तुएं तथा तथ्य देखते हैं, उन सब पर यही तर्क लागू होता है। इस बात पर जोर दिया जाता है कि इस भौतिक शरीर और

सामाजिक वर्गीकरण में भी पूर्ण साम्य अथवा एकरूपता स्वाभाविक मृत्यु तथा सामाजिक मृत्यु उत्पन्न कर देगी। विचार तथा भावना के पूर्ण साम्य से मानसिक अपक्षय और अध:पतन हो जायगा। इसलिए एकरूपता का परिहार करना है। एक पक्ष की ओर से उपर्युक्त तर्क दिया गया है; और विविध समयों पर हर देश में भिन्न शब्दों के द्वारा उस पर जोर दिया गया है। भारत के ब्राह्मण अन्य सब लोगों के विरुद्ध समाज के विशेष अंश के विशेषाधिकारों को बनाये रखने तथा वर्ग-भेद और वर्ण-व्यवस्था का प्रतिपादन करने में इन्हीं तर्कों पर बल देते हैं। वे घोषणा करते हैं कि जाति-भेद के विनाश से समाज का विनाश हो जायगा और साहसपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों का प्रमाण पेश करते हैं, कि उनका समाज सर्वाधिक चिरजीवी है। अत: शक्ति के किंचित् दिखावे के साथ वे इस तर्क का सहारा लेते हैं। प्रामाणिकता के किंचित दिखावे के साथ वे घोषणा करते हैं कि व्यक्ति को अल्पतर जीवन प्रदान करनेवाली व्यवस्था की अपेक्षा उसे दीर्घतम जीवन प्रदान करनेवाली व्यवस्था निश्चित रूप से श्रेष्ठ है।

दूसरी ओर एकत्व के भाव के समर्थक भी सभी कालों में रहे हैं। उपनिषदों, बुद्धों और ईसामसीहों तथा अन्य महान् धर्मोपदेष्टाओं के समय से हमारे वर्तमानकाल तक नयी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं में, उत्पीड़ितों तथा पददलितों के दावों तथा विशेषाधिकारों से विहीन व्यक्तियों के दावों में, बस इसी एकता और एकरूपता की एक आवाज बुलंद हुई है। किन्तु मानव प्रकृति अपने को व्यक्त करती ही है। जिन्हें कोई सुविधा प्राप्त है, वे उसे बनाये रखना चाहते हैं और उन्हें कोई तर्क मिल जाता है – चाहे वह कितना भी एकांगी और रद्दी क्यों न हो – और वे उस पर डटे रहते हैं। दोनों ही पक्षों पर यह बात लागू होती है।

दर्शन या तत्त्वज्ञान में यह प्रश्न दूसरा रूप धारण कर लेता है। बौद्धों का कहना है कि इस दृश्य प्रपंच के मध्य एकता स्थापित करनेवाली वस्तु खोजने की हमें आवश्यकता नहीं। दृश्य जगत् पर ही हमें सन्तोष करना चाहिए। चाहे कितनी भी दु:खमय और निर्बल क्यों न हो, यह विविधता जीवन का सार है, उससे अधिक हमें कुछ नहीं मिल सकता। वेदान्ती कहता है कि केवल एकत्व ही ऐसी वस्तु हैं, जिसका अस्तित्व है; विविधता तो केवल दृश्य प्रपंच, क्षणभंगुर और प्रतीयमान है। वेदान्ती कहता है 'नानात्व मत देखो, एकत्व की ओर वापस जाओ।' बौद्ध कहता है, 'एकत्व से बचो, वह भ्रान्ति है; नानात्व की ओर जाओ।' धर्म तथा दर्शन में वे ही मतभेद हम लोगों के समय तक चले आ रहे हैं, क्योंकि वस्तुत: ज्ञान के मूल तत्त्वों की संख्या बहुत कम है। दर्शन और दार्शनिक ज्ञान, धर्म तथा धार्मिक ज्ञान पांच हजार वर्ष पूर्व अपनी पराकाष्ठा तक पहुंच गये और हम लोग उन्हीं सत्यों को विभिन्न भाषाओं में

में केवल दुहरा भर रहे हैं, कभी-कभी नये दृष्टान्तों द्वारा उन्हें समृद्ध भर कर देते हैं। इसलिए आज भी यह एक संघर्ष है। एक पक्ष चाहता है कि हम दृश्य प्रपंच में कायम रहें, इन विविधताओं पर आरूढ़ रहें और वह तर्क के बडे आग्रह से संकेत करता है कि विविधता को रखना ही होगा, क्योंकि जब वह खत्म हो जायगी, तब प्रत्येक वस्तु समाप्त हो जायगी। जीवन का हम जो अर्थ लगाते हैं, उसका निमित्त नानात्व है। इसी के साथ दूसरा पक्ष दृढ़ साहस के साथ एकत्व की ओर संकेत करता है।

जब हम नीतिशास्त्र पर विचार करते है, तो हमें बड़ा अन्तर मिलता है। शायद यही एक विज्ञान है, जो इस संघर्ष का साहसपूर्ण अतिक्रमण करता है। क्योंकि नीतिशास्त्र एकता है; इसका आधार है प्रेम। वह इस विविधता पर दृष्टिपात नहीं करता। नीतिशास्त्र का एकमात्र उद्देश्य है, यह एकत्व और यह एकरूपता। आज तक मानव-जाति नैतिकता के जिन उच्चतम विधानों की खोज कर सकी है, वे विविधता नहीं स्वीकार करते, उसकी खोज-बीन के निमित्त रुकने के लिए उनके पास समय नहीं है, उनका एक उद्देश्य बस वही एकरूपता लाना है। भारतीय मस्तिष्क—मेरा अभिप्राय वेदान्ती मस्तिष्क से है—अधिक विश्लेषक है और उसने समस्त विश्लेषण के परिणामस्वरूप इस एकत्व का पता लगाया और उसने एकत्व के इस एक भाव पर प्रत्येक वस्तु को आधारित करना चाहा। किन्तु जैसा कि हम चर्चा कर चुके हैं, उसी देश में अन्य मस्तिष्क (बौद्ध) थे, जो एक एकत्व कहीं नहीं देख सके। उनकी दृष्टि में सम्पूर्ण सत्य विविधता का ही समुच्चय है और एक वस्तु का दूसरी से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रोफेसर मैक्समूलर ने अपनी एक पुस्तक में एक पुरानी यूनानी कहानी का उल्लेख किया है, जो मुझे स्मरण है। उसमें बताया गया है कि एक ब्राह्मण किस प्रकार एथेन्स में सक्रेटिस के यहां गया। ब्राह्मण ने पूछा, "सर्वोच्च ज्ञान क्या है ?" और सक्रेटिस ने जवाब दिया, "मनुष्य को जान लेना समस्त ज्ञान का चरम लक्ष्य और उद्देश्य है।" परन्तु ईश्वर को जाने बिना आप मनुष्य को कैसे जान सकेंगें ?" ब्राह्मण ने प्रत्युत्तर दिया। एक पक्ष, जो यूनानी पक्ष है और जिसका प्रतिनिधित्व आधुनिक यूरोप करता है, मनुष्य-ज्ञान पर बल देता है; भारतीय पक्ष, जिसका अधिकांश प्रतिनिधित्व संसार के प्राचीन धर्म करते हैं, ईश्वर-ज्ञान पर बल देता है। एक प्रकृति में ईश्वर तथा दूसरा ईश्वर में प्रकृति का दर्शन करता है। वर्तमानकाल में शायद हम लोगों को यह सुविधा प्राप्त हुई है कि दोनों दृष्टिकोणों के प्रति तटस्थ रहकर सब पर निष्पक्ष विचार कर सकें। यह एक तथ्य है कि विविधता का अस्तित्व है और यदि जीवन को कायम रहना है तो यह (विविधता) अवश्य रहेगी। यह भी एक तथ्य है कि इस नानात्व में और इसके बीच एकत्व को अवगत करना होगा। प्रकृति में ईश्वर

दिखायी पड़ता है, यह तथ्य है। परन्तु यह भी एक तथ्य है कि प्रकृति का दर्शन ईश्वर में होता है। मनुष्य-ज्ञान सर्वोच्च ज्ञान है और केवल मनुष्य-ज्ञान द्वारा ही हम ईश्वर को जान सकते हैं। यह भी एक तथ्य है कि ईश्वर-ज्ञान सर्वोच्च ज्ञान है और केवल ईश्वर-ज्ञान से ही हम मनुष्य को जान सकते हैं। यद्यपि देखने में ये दोनों वक्तव्य परस्पर विरोधी जान पड़ सकते हैं, किन्तु वे मनुष्य की प्रकृति की आवश्यकता हैं। समस्त विश्व नानात्व में एकत्व तथा एकत्व में नानात्व का खेल है। समस्त विश्व भेद-अभेद की क्रीड़ाभूमि है; समस्त विश्व असीम में ससीम की लीला है। दूसरे को ग्रहण किये बिना हम पहले के अंगीकार नहीं कर सकते। लेकिन हम दोनों को न तो एक ही प्रत्यक्ष बोध के रूप में ग्रहण कर सकते हैं और न एक ही अनुभूति के तथ्य के रूप में। फिर भी इसी प्रकार यह क्रम सदा चलता रहेगा।

अतएव जब हम धर्म की विवेचना करते हैं, जो हमारे लिए नीतिशास्त्र की अपेक्षा अधिक विशेष अभिप्राय का विषय है, तो जब तक जीवन का अस्तित्व रहेगा, तब तक ऐसी अवस्था का होना असम्भव है, जिसमें सारी विविधताओं का लोप होकर एक-सी मृत समरूपता कायम हो जाय। यह वांछनीय भी नहीं। साथ ही तथ्य का दूसरा पहलू है—एकत्व का अस्तित्व पहले से ही है। यह है विचित्र दावा—यह नहीं कि इस एकत्व को बनाना है, वरन् यह कि इसका अस्तित्व पहले से ही है और उसके बिना तुम्हें नानात्व का किंचित प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यह सब धर्मों का दावा रहा है। जब कभी किसी ने ससीम का प्रत्यक्ष किया है, तब उसने असीम का भी प्रत्यक्ष किया है। कुछ ने ससीम पर बल दिया और घोषित किया कि उन्होंने बाह्य ससीम का प्रत्यक्ष किया; दूसरों ने असीम पक्ष पर बल दिया और घोषित किया कि उन्होंने केवल असीम का प्रत्यक्ष किया। पर हम जानते हैं कि यह तार्किक आवश्यकता है कि हम एक के बिना दूसरे का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। इसलिए दावा यह है कि एकत्व, यह पूर्णत्व—जैसा कि इसे हम कह सकते हैं—बनने को नहीं है, इसका पहले से ही अस्तित्व है और यह यहां विद्यमान है। हमें केवल उसे मान्यता प्रदान करना है और उसे समझना है। चाहे उसे हम जानते हों या नहीं, चाहे उसे हम स्पष्ट भाषा में व्यक्त कर सकते हों, या नहीं, चाहे इस प्रत्यक्ष में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की स्पष्टता और शक्ति हो या न हो, पर वह है अवश्य। अपने मन की तार्किक आवश्यकता के कारण हम यह स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं कि वह यहां विद्यमान है, अन्यथा ससीम का प्रत्यक्ष न हो पाता। मैं द्रव्य और गुण के प्राचीन सिद्धान्त की चर्चा नहीं कर रहा हूं, वरन् एकत्व की चर्चा कर रहा हूं कि इस सब दृश्य प्रपंच-समूह के बीच चेतना का यह तथ्य तो हृदयंगम होता ही है कि मैं और तुम एक-दूसरे से भिन्न हैं और साथ ही यह

चेतना भी कि मैं और तुम एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। उस एकत्व के बिना ज्ञान असम्भव होता है। अभेद के भाव बिना न प्रत्यक्ष बोध होगा, न ज्ञान। इसलिए दोनों साथ-साथ चलते हैं।

अतएव यदि परिस्थितियों की पूर्ण एकरूपता नीतिशास्त्र का उद्देश्य हो, तो वह असम्भव प्रतीत होता है। चाहे हम कितना भी प्रयत्न क्यों न करें, सब मनुष्य एक से कभी नहीं हो सकते। मनुष्य जन्म से ही भिन्न-भिन्न होंगे; कुछ में अन्य की अपेक्षा अधिक सामर्थ्य होगा; कुछ में स्वाभाविक क्षमता होगी, दूसरों में नहीं; कुछ के शरीर पूर्ण विकसित होंगे और दूसरों के नहीं। हम इसे कभी रोक नहीं सकते। इसके साथ ही विभिन्न आचार्यो द्वारा उपदिष्ट नैतिकता के ये अद्भुत शब्द हमारे कर्ण-कुहरों में प्रविष्ट होते हैं–'एक ही ईश्वर को सबमें सम भाव से देखनेवाला मनीषी पुरुष आत्मा से आत्मा की हिंसा नहीं करता और इस प्रकार परम गति को प्राप्त होता है। जिसका अन्त:करण समता में अर्थात् सब भूतों में स्थित ब्रह्मरूप सम भाव में निश्चलतापूर्वक स्थित हो गया है, उसने जीवितावस्था में ही जन्म को जीत लिया है; और क्योंकि ब्रह्म निर्दोष है, इसलिए जो समदर्शी एवं निर्दोष हैं, वे ब्रह्म में ही स्थित कहे जाते हैं।'[1] हम इसे अस्वीकार नहीं कर सकते कि यही यथार्थ भाव है; फिर भी इसी के साथ यह कठिनाई उपस्थित होती है कि बाह्य रूपों तथा अवस्था में कभी साम्य प्राप्त नहीं हो सकता।

किन्तु जिसकी सम्प्राप्ति हो सकती है, वह है विशेषाधिकार का निराकरण। सारे संसार के समक्ष वास्तव में यही कार्य हैं । प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश के सामाजिक जीवन में यह संघर्ष होता रहा है। कठिनाई यह नहीं है कि कोई जनसमूह किसी अन्य जनसमूह से प्रकृत्या अधिक मेधावी है, परन्तु क्या जिस जनसमूह को बौद्धिक सुविधाएं प्राप्त हैं, वह उन लोगों के शारीरिक सुख-भोग भी छीन ले, जिनको वे सुविधाएं प्राप्त नहीं हैं। संघर्ष है उस विशेषाधिकार के उन्मूलन का। यह स्वयंसिद्ध तथ्य है कि अन्य लोगों की अपेक्षा कुछ लोगों में शारीरिक बल अधिक होगा और इस प्रकार स्वाभाविक है कि वे निर्बल को दबा देंगे या परास्त कर देंगे; परन्तु यह कानून नहीं कहता है कि इस बल के कारण जीवन के सभी प्राप्य सुखों को वे स्वयं अपने में समेट लें, और संघर्ष इसी के विरुद्ध रहा है। वह स्वाभाविक है कि कुछ लोग स्वभावत: सक्षम होने के कारण दूसरों की अपेक्षा अधिक धन संग्रह कर लें; किन्तु धन प्राप्त करने के इस सामर्थ्य के कारण

---

1. समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।। –गीता।। 13। 28।।
इहैव तैर्जित: सर्गो येषां साम्ये स्थितं मन:।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिता:।। –गीता।। 5। 19।।

वे उन लोगों पर अत्याचार और अन्धाधुन्ध कटु व्यवहार करें, जो उतना अधिक धन संग्रह करने में समर्थ न हों, तो यह कानून का अंग नहीं है, और संघर्ष इसके विरुद्ध हुआ है। अन्य के ऊपर सुविधा के उपभोग को विशेषाधिकार कहते हैं और इसका विनाश करना युग-युग से नैतिकता का उद्देश्य रहा है। यह कार्य ऐसा है, जिसकी प्रवृत्ति साम्य और एकत्व की ओर है तथा जिससे विविधता का विनाश नहीं होता।

इन विविधताओं को अनन्तकाल तक रहने दो; यह तो जीवन का सार है। अनन्तकाल तक हम सब इस प्रकार लीला करेंगे। तुम धनी होगे, मैं निर्धन; तुम सबल होगे ओर मैं निर्बल; तुम विद्वान् होगे और मैं अज्ञानी; तुम बहुत आध्यात्मिक होगे और मैं कम। किन्तु उससे क्या ? हम लोग वैसे बने रहें; लेकिन चूंकि तुममें शारीरिक तथा बौद्धिक बल अपेक्षाकृत अधिक है, इसलिए तुम्हें मेरी अपेक्षा अधिक विशेषाधिकार कदापि नहीं प्राप्त होना चाहिए और यदि तुम्हारे पास अधिक धन है, तो कोई कारण नहीं कि तुम मुझसे बड़े समझे जाओ, क्योंकि विभिन्न दशाओं के बावजूद वही अभेद यहां विद्यमान है।

नानात्व के बावजूद एकत्व को स्वीकार करना, प्रत्येक वस्तु के हमारे लिए भयप्रद प्रतीत होने के बावजूद अन्तःकरण में ईश्वर को स्वीकार करना, सभी प्रत्यक्ष दुर्बलताओं के बावजूद असीम बल को प्रत्येक का गुण स्वीकार करना और ऊपरी सतह के सभी विरोधाभासों के बावजूद आत्मा की शाश्वत, अनन्त और तात्त्विक पवित्रता को स्वीकार करना नीतिशास्त्र का कार्य रहा है और भविष्य में भी रहेगा, न कि विविधता का विनाश करना और बाह्य-जगत् में एकरूपता की स्थापना करना—जो असम्भव है, क्योंकि उससे मृत्यु तथा विनाश हो जाएगा। इसे हमें स्वीकार करना पडेगा। केवल एक पक्ष का ग्रहण और उस पक्ष की अर्द्धस्वीकृति खतरनाक है और विवाद की आशंका। सम्पूर्ण वस्तु को हमें यथावत् ग्रहण करना होगा, अपना आधार बनाकर उस पर खड़ा होना होगा तथा व्यक्ति के रूप में एवं समाज के इकाई-सदस्य के रूप में अपने जीवन के प्रत्येक अंग में उसे चरितार्थ करना होगा।

सभ्यता का अवयव वेदान्त

(एअर्ली लॉज, रिजवे गार्डेन्स, इंग्लैण्ड में दिये गये एक भाषण का उद्धरण)

जो लोग विजितों पीडितों तथा स्वप्नद्रष्टाओं और दार्शनिकों को भारतवर्ष की जाति समझते है वे किसी वस्तु का बाह्य स्वरूप जो कि स्थूल होता है को ही देख पाते हैं। ऐसे लोग ये भी नहीं समझ पाते हैं कि भारत ने आध्यात्मिक क्षेत्र मे सम्पूर्ण विश्व को परास्त कर दिया है। नि.संदेह यह सच है कि जिस प्रकार अत्यधिक कार्यशील पाश्चात्य बुद्धि प्राच्य अन्तर्वीक्षण और चिन्तनशीलता को अपनाने से लाभान्वित होगी, उसी प्रकार प्राच्य बुद्धि भी किंचित् अधिक कार्यशीलता तथा ऊर्जस्विता के द्वारा लाभान्वित होगी। फिर भी, हम पूछ सकते है कि वह शक्ति क्या है, जिसके कारण सहिष्णु तथा पीडित जातियां–हिन्दू तथा यहूदी, जिन दो जातियों से विश्व के महान् धर्म निकले, जीवित रहीं, जब कि अन्य राष्ट्र विनष्ट हो गये ? इसका कारण केवल आध्यात्मिक शक्ति हो सकती है। आज भी हिन्दू शान्त भाव से जीवित हैं; तथा यहूदी, जब वे फिलिस्तीन मे रहते थे, तब की अपेक्षा आज अधिक संख्या में पाये जाते हैं। भारतीय दर्शन समस्त सभ्य संसार में व्याप्त हो गया है और अपनी इस यात्रा में सभ्यताओं को ओत-प्रोत तथा परिमार्जित करता गया है। इसी प्रकार, प्राचीनकाल में भी जब यूरोप अज्ञात था, भारत का वाणिज्य अफ्रीका के छोर तक पहुंच गया था, विश्व के अन्य भागों से आवागमन स्थापित कर चुका था, जिससे यह मान्यता निर्मूल सिद्ध हो जाती है कि भारतीय अपने देश के बाहर कभी नहीं गये।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि किसी विदेशी शक्ति का भारत पर आधिपत्य उस शक्ति के इतिहास में उसे एक मोड देनेवाला बिन्दु रहा है, जिससे उसको धन, वैभव, राज्य तथा आध्यात्मिक विचार प्राप्त होते रहे हैं। जब कि एक पाश्चात्य मनुष्य यह नापने का प्रयत्न करता है कि उसके लिए कितना अधिक परिग्रह और भोग कर सकना सम्भव है, प्राच्य मनुष्य विपरीत दिशा में जाता है और नापता-सा है कि वह कम-से-कम कितनी भौतिक सम्पत्ति से काम चला सकता है। उस प्राचीन जाति में

ईश्वर को प्राप्त करने के प्रयत्न का सूत्र हम वेदों में पाते हैं। उस ईश्वर की प्राप्ति के हेतु उन लोगों ने उपासना के विभिन्न स्तरों को अपनाया। पितरों की पूजा से आरम्भ कर वे लोग अग्नि, अर्थात् अग्निदेवता, इन्द्र, अर्थात् तड़ित के देवता तथा देवाधिदेव वरुण तक पहुंच गये। ईश्वर सम्बन्धी कल्पना का विकास, अर्थात् बहुदेववाद एकेश्वरवाद, हम सभी धर्मों में पाते हैं। इसका सही अर्थ है कि वह ईश्वर वनजातियों के देवताओं में प्रधान हैं. विश्व की सृष्टि करता है, शासन करता है तथा प्रत्येक हृदय को देखता रहता है। इस प्रकार से यह क्रमिक विकास बहुदेववाद से एकेश्वरवाद की ओर ले जाता है। परन्तु ईश्वर की यह मानवीय कल्पना हिन्दुओं को संतुष्ट नहीं कर सकी। यह कल्पना उन लोगों के लिए, जो दिव्य तत्त्व का अन्वेषण कर रहे थे, अत्यधिक मानवीय थी। अतएव, उन लोगों ने ईश्वर का अन्वेषण इन्द्रियजन्य तथा बाह्य भौतिक जगत् में करना छोड़ दिया और अपना ध्यान अन्तर्जगत् के प्रति केन्द्रित किया। क्या कोई अन्तर्जगत् है भी ? वह है तो क्या है ? यह है आत्मा। यह स्वयंस्वरूप है तथा केवल यही एक ऐसा तत्त्व है, जिसके विषय में कोई व्यक्ति निश्चित हो सकता है। यदि वह स्वयं अपने को जान ले, तो वह समूचे ब्रह्माण्ड को जान सकता है, अन्यथा नहीं। यही प्रश्न दूसरे रूप में काल के प्रारम्भ में ही, ऋग्वेद में पूछा गया था–'कौन अथवा क्या आदि काल ही से वर्तमान था ?' इस प्रश्न का उत्तर क्रम से वेदान्त दर्शन ने दिया कि आत्मा ही आदि काल में स्थित थी, अर्थात्, जिसे हम ब्रह्म, विश्वात्मा तथा स्वयंस्वरूप कहते हैं, वह शक्ति है जिसके द्वारा प्रारम्भ से ही सभी तत्त्व व्यक्त हुए थे, हो रहे हैं और होंगे।

वेदान्त के दार्शनिकों ने उपर्युक्त प्रश्न को हल करते हुए नीतिशास्त्र के मूल आधार का भी आविष्कार किया। यद्यपि सभी धर्म 'हत्या मत करो; हिंसा मत करो; अपने पड़ोसियों को अपने ही जैसा प्यार करो' इत्यादि नैतिकतामूलक आचार की शिक्षा देते हैं, परन्तु किसी भी धर्म ने इन शिक्षाओं के मौलिक सिद्धान्त पर प्रकाश नहीं डाला है। 'मैं अपने पड़ोसी को क्यों न हानि पहुंचाऊं ?' इस प्रश्न का सन्तोषजनक अथवा निश्चयात्मक उत्तर तब तक नहीं प्राप्त हो सका, जब तक हिन्दुओं ने, जो केवल धार्मिक अन्ध नियमों से ही संतुष्ट नहीं हो सकते थे, इसका हल आध्यात्मिक विचारधारा से नहीं किया। अतएव, हिन्दुओं का कहना है कि क्या आत्मा सम्पूर्ण तथा सर्वव्यापी है; अतः अनन्त है। दो अनन्त तत्त्वों का अस्तित्व नहीं हो सकता, क्योंकि वे एक-दूसरे को सीमित कर देंगे और स्वयं भी परिमित हो जाएंगे। एक बात और; प्रत्येक जीवात्मा उस विश्वात्मा का, जो कि अनन्त है, एक अंश है। अतः अपने पड़ोसी को हानि पहुंचाकर मनुष्य वस्तुतः स्वयं अपने आपको हानि

पहुंचाता है। यह सभी नीति-संहिताओं का आधारभूत दार्शनिक सत्य है।

बहुधा यह विश्वास कर लिया जाता है कि एक व्यक्ति पूर्णता प्राप्त करने की यात्रा में भ्रान्ति से सत्य की ओर जाता है तथा जब एक विचार से दूसरे विचार पर पहुंचता है, तो वह पहलेवाले विचार को निश्चयात्मक रूप से अस्वीकृत कर देता है। परन्तु कोई भी भ्रान्ति सत्य की ओर नहीं ले जा सकती। विभिन्न दशाओं के अतिक्रमण में जीवात्मा एक सत्य से दूसरे सत्य की ओर जाता है, क्योंकि वह निम्न कोटि के सत्य से उच्चतर कोटि के सत्य की ओर जाती है। यह बात निम्नांकित उदाहरण से स्पष्ट की जा सकती है। मान लो कि एक मनुष्य सूर्य की ओर जा रहा है और हर एक पग पर उसका फोटो लेता जाता है। परन्तु जब वह सचमुच ही सूर्य तक पहुंच जाता है, तब उसका लिया हुआ पहला फोटो दूसरे से, और दूसरा तीसरे से या अन्तिम फोटो से कितना भिन्न होगा! परन्तु ये सभी एक-दूसरे से अत्यधिक भिन्न होते हुए भी सत्य हैं। केवल समय तथा स्थान की परिवर्तित दशाओं से वे विभिन्न दीख पड़ते हैं। इस सत्य की मान्यता ही के कारण एक हिन्दू सभी धर्मों में, निकृष्ट से उत्कृष्ट में भी उस सार्वभौम सत्य को देखने में समर्थ होता है। इस दृष्टिकोण के कारण हिन्दुओं ने कभी धार्मिक उत्पीड़न का आश्रय नहीं लिया। (यहां तक कि) आज एक मुसलमान सन्त की दरगाह, जो मुसलमानों द्वारा निरादृत और विस्मृत कर दी गयी है, वह हिन्दुओं द्वारा पूजी जाती है! इस प्रकार की सहिष्णु प्रवृत्ति के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

प्राच्य बुद्धि तब तक सन्तुष्ट नहीं हो सकती, जब तक सम्पूर्ण मानवता द्वारा ईप्सित लक्ष्य-एकत्व को प्राप्त न कर ले। पाश्चात्य वैज्ञानिक एकत्व की अणु या परमाणु में खोजता है। और जब वह इसे पा लेता है, तब उसको आगे और कुछ खोजने को नहीं रह जाता। इस प्रकार जब हम आत्मा या स्वयं की एकता प्राप्त कर लेते हैं, जिसे आत्मा कहते हैं, तब हम आगे नहीं जा सकते। अत: यह स्पष्ट है कि इस बाह्य जगत् में जो कुछ भी है, वह उसी एक तत्त्व का व्यक्त स्वरूप है।

फिर भी, वैज्ञानिक को भी अध्यात्म को मान्यता देने की आवश्यकता तब आ पड़ती है, जब वह कल्पना करता है कि एक परमाणु, जिसकी लम्बाई और चौड़ाई नहीं होती, वह भी संयुक्त होकर, विस्तार, लम्बाई तथा चौड़ाई का कारण बन जाता है। जब एक अणु दूसरे अणु पर क्रियाशील होता है, तो इसका कारण कोई माध्यम होगा ही। वह माध्यम क्या है ? यह (शायद) एक तीसरा परमाणु होगा। यदि ऐसा है, तो भी इस प्रश्न का हल नहीं हो सकता है, क्योंकि ये दो परमाणु तीसरे पर कैसे क्रियाशील होंगें ? यह स्पष्ट ही एक असंगत तथा तर्क-विरुद्ध विचार है। इस प्रकार के विरोधाभासी पद सभी भौतिक विज्ञानों की आवश्यक परिकल्पनाओं में पाये जाते हैं,

जैसे कि बिन्दु वह है, जिसका कोई अंश या विस्तार न हो; या रेखा वह है, जिसमें चौड़ाई-रहित लम्बाई हो। परन्तु ऐसी कल्पनाएं न देखी जा सकती हैं और न विचारगम्य ही हैं। क्यों ? इसीलिए कि ये इन्द्रियों द्वारा बोधगम्य नहीं हैं और ये दार्शनिक कल्पनाएं हैं। अतः हम देखते हैं कि बुद्धि ही अन्ततः सभी प्रत्यक्षों को स्वरूप प्रदान करती है। जब मैं एक कुर्सी को देखता हूं, तब वह कुर्सी मेरी आंखों के बाहर की असली कुर्सी नहीं होती, जिसका हमें बोध होता है; परन्तु, वह (कुर्सी) किसी बाह्य वस्तु तथा तज्जन्य मानसिक प्रतिमा का संयोग ही होती है। इस प्रकार एक भौतिकवादी भी अन्ततोगत्वा अध्यात्म की ओर प्रेरित हो जाता है।

वेदान्त का सार, तत्त्व तथा प्रभाव
(बोस्टन के ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी क्लब में दिया गया भाषण)

बोस्टन के ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी क्लब में भाषण देते समय स्वामीजी उपस्थित जनसमुदाय को बता रहे थे कि अपने अमेरिका में 3 वर्ष के प्रवास के दौरान में अमेरिका के हर क्षेत्र को देख चुका हूं। अब मेरा स्वदेश लौटने का समय आ चुका है। अतः मै चाहता हूं कि आप सभी मुझे इस शुभ अवसर पर अमेरिका के इस एथेंस में कृतज्ञता प्रकट करने का अवसर प्रदान कर मुझे अनुग्रहीत करें। अमेरिका में आकर मेरा अमेरिका पर एक पुस्तक लिखने का विचार था लेकिन तीन वर्ष यहां रह कर भी में अपने इस विचार को पूरा न कर सका। इसके विपरीत, बहुत से देशों में भ्रमण के बाद मै यह अनुभव करता हूं कि वेश-भूषा, खान-पान तथा तौर-तरीको की छोटी-मोटी सभी बाह्य विभिन्नताओ के नीचे मानव अखिल विश्व में मानव ही है, सर्वत्र वही अद्भुत मानव प्रकृति विद्यमान है। फिर भी कुछ विशेषताएं तो होती ही है, अत. मै थोडे से शब्दों में यहां के अनुभवों को संक्षेप में कहना चाहूंगा। अमेरिका की इस भूमि मे मनुष्य की विशेषताओ के सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं पूछा जाता। यदि मनुष्य-मनुष्य है, तो इतना ही यथेष्ट है और वे (अमेरिकावासी) उसे अपने हृदय में स्थान दे देते हैं। यह एक ऐसा तथ्य है, जिसको मैंने विश्व के अन्य किसी देश में नहीं देखा।

मैं यहां एक भारतीय दर्शन का, जिसे वेदान्त कहते है, प्रतिनिधित्व करने आया था। यह दर्शन अत्यन्त प्राचीन है। यह दर्शन उस विशाल पुरातन आर्य-साहित्य से उद्गत हुआ है, जिसे वेदों के नाम से पुकारते हैं। यह वेदान्त दर्शन मानो शताब्दियों तक संग्रहीत और चयन किये गये उस विशाल साहित्य के अन्तर्गत सभी विचारधाराओं, अनुभवों तथा विवेचनाओं का सर्वोत्तम पुष्प है। इस वेदान्त दर्शन की कतिपय विशेषताएं हैं। प्रथमतः, यह पूर्णरूपेण अवैयक्तिक है। इसकी उत्पत्ति किसी व्यक्तिविशेष या धर्मगुरु से नहीं हुई। एक व्यक्तिविशेष को केन्द्र में रखकर वह अपनी प्रतिष्ठा नहीं करता। परन्तु जो दर्शन किसी व्यक्तिविशेष को केन्द्रित करके प्रतिपादित हुए हैं, उनके विरुद्ध भी इसको कुछ कहना नहीं। आगे चलकर भारत में कुछ व्यक्तियों को

केन्द्र बनाकर बौद्ध धर्म तथा हमारे अन्य अर्वाचीन सम्प्रदायों का उदय हुआ। ये सब ईसाइयों और मुसलमानों की भांति किसी न किसी को धार्मिक नेता के रूप में मानते हैं और उसमें अपनी निष्ठा रखते हैं। परन्तु वेदान्त दर्शन इन सभी विभिन्न सम्प्रदायों की पृष्ठभूमिवत् है और वेदान्त तथा विश्व के अन्य किसी भी मत के बीच कोई झगड़ा या विरोध नहीं है।

वेदान्त दर्शन एक सिद्धान्त--जो विश्व के सभी धर्मों में पाया जाता है--प्रतिपादित करता है और यह दावा करता है कि मनुष्य (वस्तुत:) दिव्य है तथा जो कुछ भी हम लोग अपने चारों ओर देखते हैं, वह उसी दिव्यता के बोध में उद्भूत हुआ है। हर एक वस्तु जो सुन्दर, बलयुक्त तथा कल्याणकारी है और मानव प्रकृति में जो कुछ भी शक्तिशाली है, वह सब उसी दिव्यता से उद्भूत है। यह दिव्यता यद्यपि बहुतों में अव्यक्त रहती है, मूलत: मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं है, सभी समानरूपेण दिव्य हैं। यह ऐसा ही है, जैसे पीछे एक अनन्त समुद्र है; और उस अनन्त समुद्र में हम और तुम लोग इतनी सारी लहरें हैं और हममें से हर एक उस अनन्त को बाहर व्यक्ति करने के निमित्त प्रयत्नशील है। अत: हममें से हर एक को वह सत्, चित् तथा आनन्द रूपी अनन्त समुद्र अव्यक्त रूप से, जन्मसिद्ध अधिकार रूप में तथा स्वरूपत: प्राप्त है। उस दिव्यता की अभिव्यक्ति की न्यूनाधिक शक्ति से ही हम लोगों में विभिन्नता उत्पन्न होती है। अतएव वेदान्त का कहना है कि उसके आधार पर उससे व्यवहार नहीं करना चाहिए, जिसे वह प्रकट करता है, बल्कि उसके अनुसार जिसका वह प्रतिनिधि है। चूंकि प्रत्येक मनुष्य दिव्यत्व का प्रतिनिधि है, इसीलिए प्रत्येक धर्मशिक्षक को मनुष्य की भर्त्सना करके नहीं, बल्कि मनुष्य में अन्तर्निहित दिव्यता के जागरण के लिए सहायता करनी चाहिए।

वेदान्त यह भी बतलाता है कि समाज या कर्म के किसी क्षेत्र में शक्ति की जो विशाल राशि प्रदर्शित होती है, वह वस्तुत: भीतर से बाहर आती है, इसलिए जिसे अन्य सम्प्रदाय अन्त:स्फुरण (inspiration) कहते हैं, उसे वेदान्त मनुष्य का बहि:स्फुरण कहने की स्वतन्त्रता लेता है। फिर भी वह किसी सम्प्रदाय से झगड़ता नहीं। वेदान्त का उन लोगों से भी झगड़ा नहीं है, जो मनुष्य की इस दिव्यता को नहीं समझते हैं। ज्ञान या अज्ञात रूप से हर मनुष्य इस दिव्यता को व्यक्त करने का प्रयत्न कर रहा है।

मनुष्य एक छोटे बक्से में कुण्डलित अनन्त स्प्रिंग (infinite spring) जैसा है, जो कि अपने को खोलने का प्रयत्न कर रहा है। हम लोग जो भी सामाजिक व्यवस्था देखते हैं, वह इस अभिव्यक्ति का प्रयत्न मात्र है। जितने भी संघर्ष, बुराइयां या प्रतिद्वन्द्विताएं, जिन्हें हम लोग अपने चारों तरफ देखते हैं, इस अभिव्यक्ति के न कारण

हैं और न कार्य ही। जैसा कि हमारे एक महान् तत्त्ववेत्ता ने कहा है, मान लो कि खेत की सिंचाई के लिए जलाशय कहीं ऊपर ऊंची सतह पर है और उसका जल उस खेत में तेजी से प्रवेश करने का प्रयत्न करता है; परन्तु फाटक लगाकर उसकी गति अवरुद्ध कर दी गयी है। परन्तु जैसे ही फाटक खोल दिया जाता है, वह जल अपनी प्रकृति के अनुसार वेग से, रास्ते में धूल या गन्दगी जो भी हो, उस पर प्रवाहित होने लगता है। परन्तु यह धूल या गन्दगी मनुष्य के दिव्य स्वरूप की अभिव्यक्ति के न तो कार्य हैं और न कारण। वे तो सह-अस्तित्वमान (co-existent) दशाएं हैं; अतः उनका प्रतिकार किया जा सकता है।

वेदान्त का यह दावा है कि यह विचार भारत के अन्दर या बाहर सभी धर्मों में पाया जाता है, केवल कतिपय धर्मों में यह विचार पुराणों में तथा अन्य में प्रतीकवाद के रूप में प्रकट किया गया है। वेदान्त का दावा है कि धार्मिक अन्तःस्फुरण केवल एक ही नहीं हुआ, और न केवल दिव्य मानव की एक अभिव्यक्ति ही हुई, भले ही वह कितना ही महान् क्यो न हो; अपितु, उस अनन्त एकत्व का मानव स्वभाव में प्रकाशन हुआ है, तथा हम लोग जिसे नैतिकता, सदाचार और परोपकार कहते हैं, वह भी इसी एकत्व की अभिव्यक्ति मात्र है। ऐसा क्षण भी आता है, जब हर मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह विश्व के साथ एक है, और इसको वह समझे या न समझे, उसको प्रकट करने के लिए विकल हो जाता है। जिसे हम प्रेम तथा सहानुभूति कहते हैं, वह एकत्व की अभिव्यक्ति ही है और यही हमारी नैतिकता और सदाचार का आधार है। यही वेदान्त की विख्यात सूत्र तत्त्वमसि–'तू वही है'–में संक्षेप मे कहा गया है।

प्रत्येक मनुष्य को यह शिक्षा दी जाती है कि तुम उस विश्वात्मा से एक हो, अतः, हर जीवात्मा तुम्हारी ही आत्मा है। हर शरीर तुम्हारा ही शरीर है, इसलिए दूसरों को चोट पहुंचाना अपने ही को चोट पहुंचाना है और दूसरों को प्रेम करना अपने आप से प्रेम करना है। जैसे बाहर फेंकी जानेवाली घृणा की लहर, बाहर जिस किसी को भी वह चोट पहुंचाये, तुमको भी चोट पहुंचाती ही है और यदि तुमसे प्रेम का उद्भाव होता है, तो वह प्रेम तुम्हारे पास वापस लौटने को बाध्य है। यह इस कारण कि मै यह जगत् हूं और यह जगत् मेरा शरीर है। मैं अनन्त हूं, केवल इसका ज्ञान इस समय मुझको नहीं है, परन्तु इस अनन्त की चेतना प्राप्त करने के लिए मैं संघर्षशील हूं। पूर्णता इस अनन्त की पूर्ण चेतना प्राप्त हो जाने पर ही उपलब्ध होगी।

वेदान्त का एक दूसरा विशिष्ट सिद्धान्त यह है कि हम लोगों को धार्मिक विचारों की अनन्त विविधता को स्वीकार करना चाहिए और हर एक को एक ही विचारधारा के अन्तर्गत लाने का प्रयन्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि लक्ष्य तो एक ही है। जैसा

कि एक वेदान्ती अपनी काव्यमयी भाषा में कहता है–'जिस प्रकार बहुत-सी नदियां, जिनका उद्गम विभिन्न पर्वतों में होता है, टेढ़ी या सीधी बहकर अन्त में समुद्र ही में गिरती हैं, उसी प्रकार ये सभी विभिन्न सम्प्रदाय तथा धर्म, जो विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से प्रकट होते हैं, सीधे या टेढ़े मार्गो से चलते हुए भी अन्ततः तुम्हीं को प्राप्त होते हैं।'

इस विचार की अभिव्यक्ति के रूप में, हम देखते हैं कि इस प्राचीनतम दर्शन ने अपने प्रभाव के द्वारा बौद्ध मत को, जो विश्व का प्रथम प्रचारक धर्म है, प्रत्यक्षतः प्रेरित किया है। अप्रत्यक्ष रूप से इसने अलेक्जेन्ड्रियनों, नास्टिकों तथा मध्ययुगीन यूरोपीय विचारकों द्वारा, ईसाई-धर्म को भी प्रभावित किया है। बाद में जर्मन विचारधारा को प्रभावित करते हुए, इसने दर्शन तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रायः क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। इस पर भी यह विशाल प्रभाव जो संसार पर पड़ा, वह अलक्ष्य ही रहा। जिस प्रकार रात्रि में ओस हलके से गिरकर वनस्पतियों के जीवन को पोषण करती है, उसी प्रकार धीरे-धीरे तथा अलक्ष्य रूप से यह दिव्य वेदान्त दर्शन समूचे विश्व में मानव कल्याणार्थ फैल गया है। इस धर्म के प्रचार के लिए सेनाओं के अभियान का उपयोग नहीं हुआ। बौद्ध मत में, जो विश्व का एक बहुत बड़ा प्रचारक धर्म है, सम्राट् अशोक के अवशेष शिलालेख हमें प्राप्त हैं; जिनसे यह पता चलता है कि किस तरह धर्मप्रचारक अलेक्जेन्ड्रिया, एन्टिओक, ईरान, चीन तथा तत्कालीन सभ्य जगत् के अन्य बहुत से देशों में भेजे गये थे। ईसा के तीन सौ वर्ष पहले ही उन लोगों को यह शिक्षा दी गयी थी कि किसी धर्म की निन्दा नहीं करें–'सभी धर्मो का आधार एक है, जहां कहीं भी वे हों; जितना तुमसे हो सके, उतना उनकी सहायता करो तथा उन सबको शिक्षा दो, परन्तु उनको हानि नहीं पहुंचाओ।'

अतएव भारत में हिन्दुओं द्वारा कभी धार्मिक उत्पीड़न नहीं हुआ, बल्कि उन्होंने विश्व के सभी धर्मों के प्रति अद्भुत आदर का भाव ही रखा। हिब्रू जाति के कुछ लोग जब स्वदेश से भगाये गये थे, तब हिन्दुओं ने उनको शरण दी, जिसके फलस्वरूप मलाबार के यहूदी अभी तक हैं। एक अन्य समय में उन्होंने नष्टप्राय ईरानियों के अवशिष्ट अंश का स्वागत अपने देश में किया; और वे लोग आज भी हमारे मध्य हमारे एक अंग और प्रीति-भाजन, बम्बई के आधुनिक पारसियों के रूप में विद्यमान हैं। ईसामसीह के शिष्य सेन्ट थामस के साथ आने का दावा करनेवाले ईसाई लोगों को भी भारत में रहने तथा अपनी विचारधारा सुरक्षित रखने की अनुमति दी गयी। उन लोगों की एक बस्ती अब तक भारत में है। यह सहिष्णुता का भाव वहां न मरा है, न मरेगा, न मर सकता है।

यह वेदान्त की महती शिक्षाओं में से एक है। यह जानकर कि ज्ञात या अज्ञात

रूप से हम सब उसी ध्येय को पहुंचने के लिए संघर्षशील हैं, हम अधैर्यवान क्यों हों? यदि एक मनुष्य दूसरे से मंद है, तो हमें अधीर नहीं होना चाहिए; न उसे अपशब्द कहना चाहिए और न उसकी भर्त्सना करनी चाहिए। जब हमारे चक्षु उन्मीलित हो जाते हैं और हृदय पवित्र हो जाता है, उस दिव्य प्रभाव का कार्य, हर मानव हृदय में प्रस्फुटित होता हुआ वह ईश्वरीय उद्‌बोधन, अभिव्यक्त हो जायगा और तभी हम लोग मनुष्य मात्र के भ्रातृत्व का दावा करने में समर्थ होगे।

जब मनुष्य उच्चतम को प्राप्त कर लेता है और वह न पुरुष देखता है, न स्त्री, न लिंग, न धर्म, न वर्ण, न जन्म, न ऐसे अन्य प्रकार के विभेदों को देखता है, वरन् वह आगे बढता जाता है और उस दिव्यता का अनुभव करता है, जो मानव का सत्य स्वरूप है, वह मनुष्यों मे अन्तर्हित है—केवल तभी वह विश्वबन्धुत्व को प्राप्त कर लेता है; और केवल ऐसा ही व्यक्ति वेदान्ती है।

यह वेदान्त के कतिपय व्यावहारिक और ऐतिहासिक परिणाम हैं।

खुला रहस्य

(लॉस एंजिलिस, कैलिफोर्निया में दिया हुआ भाषण)

जब भी हम किसी वस्तु के यथार्थ रूप को समझने का प्रयत्न किसी रूप में करते हैं, तो हम एक विरोधात्मक अवस्था में पहुंच जाते हैं। जो की हमारी गहन चिन्ता का कारण है; और अन्त में हम वृद्धी से न ग्रहण होनेवाली वस्तु तक पहुंच जाते हैं। परन्तु जो सत्य है, वह वास्तव में सत्य ही है। हम एक वस्तु लेते है–हम जानते हैं कि वह सान्त अंतयुक्त है। लेकिन ज्योंही हम उसका विश्लेषण करने लगते हैं, वह हमें एक ऐसे क्षेत्र में ले जाती है, जो बुद्धि के अतीत है। उसके गुण-धर्मो का, उसकी सम्भावनाओं का, उसकी शक्तियों और उसके सम्बन्धों का हम अन्त नहीं पा सकते। वह अनन्त बन जाती है। उदाहरणार्थ, प्रतिदिन के व्यवहार का एक फूल ही ले लो। वह तो सान्त ही है। लेकिन ऐसा कौन है, जो कह सकता है कि मैं फूल के बारे में सब कुछ जानता हूं ? उस फूल से सम्बन्धित ज्ञान के अन्त तक पहुंचा जाना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है। आरम्भ में फूल सान्त प्रतीत होता था, अब वह अनन्त बन बैठा है। रेती का एक कण लो। उसका विश्लेषण करो। हम यह मानकर आरम्भ करते हैं कि वह सान्त है; पर बाद में हम देखते हैं कि वह सान्त नहीं है, अनन्त है। फिर भी हम उसे सान्त वस्तु की दृष्टि से ही देखते आये हैं। इसी तरह फूल को भी हम एक सान्त वस्तु की दृष्टि से देखते हैं।

यही विचारों और अनुभवों के विषय में सत्य है, चाहे वह भौतिक हो अथवा मानसिक। आरम्भ में हम वस्तुओं को छोटी समझकर ग्रहण करते हैं, लेकिन शीघ्र ही वे हमारे ज्ञान को धोखा दे देती हैं और अनन्त के गर्त में विलीन हो जाती हैं। महत्तम और प्रथम वस्तु जिसका बोध हमें होता है, वह हैं हम स्वयं। हमारे स्वयं के 'अस्तित्वं' के बारे में भी ठीक ऐसी ही द्विधा हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हमारा अस्तित्व है। हम देखते हैं कि हम सान्त जीव हैं। हम जन्म लेते हैं और हमारी मृत्यु होती है। हमारे जीवन का क्षितिज परिमित है। हम इस विश्व में मर्यादित अवस्था में विद्यमान हैं। निसर्ग एक क्षण में हमारा अस्तित्व मिटा सकता है। हमारे छोटे-छोटे

शरीर जैसे-तैसे संकलित हैं, और किसी भी क्षण टुकड़े-टुकड़े होने के लिए तैयार से हैं। यह हमें निश्चित मालूम है। कर्म के क्षेत्र में हम कितने असहाय हैं ! हर घड़ी हमारी इच्छा कुंठित होती है। हम कितना करना चाहते हैं, और कितना कम कर पाते हैं ! हमारी वासना का कोई अन्त नहीं। हम किसी भी वस्तु की वासना कर सकते हैं, कोई भी वस्तु चाह सकते हैं, हम व्याध-नक्षत्र तक पहुंचने की भी इच्छा कर सकते हैं। परन्तु हमारी कितनी कम इच्छाएं पूर्ण होती हैं ! शरीर ही हमारी इच्छाएं पूर्ण न होने देगा। स्वयं प्रकृति ही हमारी इच्छा-पूर्ति के विरुद्ध है। हम असहाय हैं, दुर्बल हैं। भौतिक-जगत् के फूल या रेती के कण तथा मानस-जगत् के विचारों के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त लागू हैं, वही सिद्धान्त हजार गुना हमारे अस्तित्व के सम्बन्ध में लागू हैं। एक ही साथ सान्त और अनन्त होने के कारण हम भी अस्तित्व सम्बन्धी इसी दुविधा में है। हम समुद्र पर उठनेवाली लहरों के समान हैं। लहर समुद्र से नितान्त पृथक् नहीं है, फिर भी वह स्वयं समुद्र नहीं है। लहर का ऐसा कोई हिस्सा नहीं है, जिसे हम ऐसा कह सकें कि 'यह समुद्र नहीं है।' 'समुद्र' यह अभिधान उस पर तथा समुद्र के हर अंग पर समान रूप से लागू है, और फिर भी वह समुद्र से स्वतंत्र है। इसी तरह इस सत्तारूपी अनन्त सागर में हम छोटी-छोटी ऊर्मियों के समान हैं। परन्तु जब हम स्वयं को सचमुच पकड़ना चाहते हैं, तो हम वैसा नहीं कर पाते, क्योंकि तब हम अनन्त बन जाते हैं।

हम लोग मानो स्वप्न-जगत् में चल रहे हैं। स्वप्नावस्था में स्वप्न सत्य ही होते हैं, लेकिन हम जैसे ही उनमें से किसी एक को पकड़ना चाहते हैं, वह गायब हो जाता है। ऐसा क्यो ? इसलिए नहीं कि वह झूठा था, बल्कि इसलिए कि वह तर्क और बुद्धि की ग्रहण-शक्ति से परे है। इस दुनिया की प्रत्येक वस्तु इतनी विशाल है कि उसकी तुलना में हमारी बुद्धि कुछ भी नहीं है, वह बुद्धि के नियमों से बंधने से इन्कार करती है। बुद्धि उसके आसपास जब अपने पाश फैलाना चाहती है, तो वह हंसती है। मानवात्मा के विषय में तो यह तत्त्व और भी हजार गुना सत्य है। 'स्वयं हम' ही दुनिया में सबसे बड़ा रहस्य हैं।

ओह ! यह सब कितना आश्चर्यमय है ! मनुष्य की आंख ही देखो, उसका कितनी आसानी से नाश हो सकता है। फिर भी विशाल सूर्यों का अस्तित्व केवल इसलिए है कि तुम्हारी आंखें उन्हें देख रही हैं। दुनिया इसलिए विद्यमान है कि तुम्हारी आंखें प्रमाण देती हैं कि वह विद्यमान है। जरा इस रहस्य पर विचार करो। ये बेचारी छोटी आंखें ! तेज उजाला या एक आलपीन इन्हें नष्ट कर दे सकती है। लेकिन नाश के बृहत्तम यंत्र, प्रलय काल के बलिष्ठतम साधन, आश्चर्यपूर्ण घटनाएं, कोटि-कोटि तारे,

सूर्य, चन्द्र, भूमण्डल—इन सबका अस्तित्व इन दो छोटी आंखों पर अवलम्बित है और इन्हें इन दो छोटी आंखों के प्रमाणपत्र की आवश्यकता होती है। आंखें कहती हैं कि 'हे प्रकृति, तुम विद्यमान हो' और हम विश्वास करते हैं कि प्रकृति विद्यमान है। हमारी सभी इन्द्रियों के सम्बन्ध में ऐसा ही है।

यह क्या है ? फिर कमजोरी है कहां ? कौन बलिष्ठ है ? कौन बड़ा है और कौन छोटा ? इस जगत् में सब वस्तुएं अद्‌भुत भाव से परस्परावलम्बी हैं। यहां छोटे से छोटा परमाणु भी सम्पूर्ण विश्व के अस्तित्व के लिए आवश्यक है, फिर किसे हम ऊंचा कह सकते हैं और किसे नीचा ? यह अन्वेषण के परे है। भला क्यों ? इसलिए कि न कोई बड़ा है न छोटा। प्रत्येक वस्तु में वह अनन्त सत्तारूपी समुद्र ओतप्रोत है। वही अनन्त उनका सत्य स्वरूप है; और जो कुछ धरातल पर विद्यमान है, वह भी अनन्त ही है। वृक्ष अनन्त और इसी तरह प्रत्येक वस्तु, जो तुम देखते या छूते हो, अनन्त है। रेत का हर कण, प्रत्येक विचार, प्रत्येक जीव, प्रत्येक विद्यमान वस्तु अनन्त है। जो सान्त है, वही अनन्त है और जो अनन्त है, वही सान्त है। यही है हमारी सत्ता का स्वरूप।

अब, यह सब सच हो सकता है, लेकिन अनन्त की यह प्रतीति वर्तमान अवस्था में हमें केवल अचेतन ही होती है। यह बात नहीं कि हम अपना अनन्त स्वरूप भूल गये हैं। हम अपना अनन्तत्व यथार्थतः कभी भूल नहीं सकते। ऐसा कौन सोच सकता है कि उसका सम्पूर्ण रूप से नाश हो जाएगा ? कौन सोच सकता है कि वह मर जाएगा? ऐसा कोई नहीं सोच सकता। अनन्त से हमारा सम्बन्ध हममें अचेतन रूप से काम करता है। इसलिए एक प्रकार से हम अपने सच्चे स्वरूप को भूल बैठे हैं; और इसीलिए यह सारा दुःख।

प्रतिदिन के व्यवहार में छोटी-छोटी बातें हमें चोट पहुंचाती हैं, छोटे-छोटे जीव हमें दास बनाये हुए हैं। हम दुःखी इसलिए होते हैं कि हम समझते हैं हम सान्त हैं, हम क्षुद्र जीव हैं। परन्तु तो भी यह विश्वास होना कि हम अनन्त हैं, कितना कठिन है ! इस सब दुःख और शोक के बीच जब एक छोटी-सी वस्तु मेरे मन को क्षुब्ध कर देती है, तो मेरा यह कर्तव्य है कि मैं विश्वास करूं कि मैं अनन्त हूं; और सत्य तो यही है कि हम अनन्त हैं। चाहे जानते हुए, चाहे अनजाने में, हम उसी अज्ञेय के अन्वेषण में लगे हैं, जो अनन्त हैं। हम सदा उसी की खोज में हैं, जो स्वतंत्र हैं—जो मुक्त है।

आज तक ऐसी कोई मानव-जाति नहीं हुई, जिसने किसी प्रकार के धर्म को अंगीकार न किया हो, या ईश्वर अथवा देवताओं की पूजा न की हो। ईश्वर या देवता

विद्यमान हैं या नहीं, प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न है इस मानसिक घटना के विश्लेषण का। सारी दुनिया ईश्वर की खोज में—ईश्वर को ढूंढ़ निकालने में क्यों लगी है? कारण यह है कि यद्यपि हम इन पाशों में बंधे हैं, यद्यपि यह प्रकृति और उसके नियमों की भयंकर शक्ति हमें पीसे-सी डाल रही है और हमें करवट तक लेने नहीं देती, यद्यपि—हम जहां भी जायं और जो कुछ भी करने की इच्छा करें—यह नियामक शक्ति, जो सर्वत्र विद्यमान है, हमारे मार्ग में अडचन ही डालती रहती है, तो भी हम अपने स्वतंत्र स्वरूप को कभी नहीं भूलते और सर्वदा उसकी खोज में लगे रहते हैं दुनिया के सब धर्मो की खोज एक ही है और वह है, मुक्ति की खोज; चाहे वे इसे जानते हों, चाहे नहीं; चाहे इसे अच्छी तरह समझा सकते हों, चाहे नहीं; पर सत्य तो यही है। क्षुद्रतम मनुष्य, मूर्ख से मूर्ख जीव भी इसी चेष्टा में लगा हुआ है कि वह ऐसी शक्ति पाये, जो निसर्ग-नियमों पर शासन कर सके। राक्षस, भूत, देवता अथवा अन्य किसी ऐसी वस्तु का वह दर्शन करना चाहता है, जो निसर्ग को अपने अधीन कर ले, जिसके लिए निसर्ग सर्वशक्तिमान न हो, और जिसका कोई दूसरा नियामक न हो। 'किसी ऐसे की चाह है, जो नियम तोड सकता हो!'—मनुष्य के हृदय से यही आवाज निकल रही है। हम सदा इसी खोज में हैं कि ऐसा कोई मिल जाय, जो नियम को तोड़ सके। लौहमार्ग पर दौड़ते हुए तेज इंजन को देख, राह में रेंगनेवाला कीड़ा दूर हट जाता है। हम एकदम कह उठते हैं, "इंजन तो निर्जीव वस्तु है, एक यंत्र है, लेकिन कीड़ा सजीव है"—इसलिए कि कीड़े ने नियम तोडने का प्रयत्न किया। इतनी शक्ति और सामर्थ्य विद्यमान होने पर भी इंजन नियम नहीं तोड़ सकता। जैसा मनुष्य चाहता है, उसी दिशा में इंजन को जाना पड़ता है। अन्यत्र वह नहीं जा सकता। कीड़ा यद्यपि छोटा है, तो भी अपने नियम तोड़ने और आपत्ति से बचने का प्रयत्न किया। नियामक शक्ति पर अपना अधिकार चलाने की उसने चेष्टा की। उसने अपना स्वातंत्र्य जतलाने का प्रयत्न किया, और यही है उसमें भविष्य में परमेश्वर से एकरूप होने का लक्षण।

अपनी मुक्ति जताने की यह चेष्टा, आत्मा का यह मुक्त स्वभाव हर जगह विद्यमान है। यह प्रत्येक धर्म में ईश्वर या देवताओ के रूप में पाया जाता है। परन्तु देवताओं को जो अपने बाहर ही देखते हैं, उनके लिए मुक्ति केवल बहिरस्थ वस्तु है। मनुष्य ने स्वयं ही निश्चय कर लिया कि वह बिलकुल नगण्य है। उसे यह डर था कि वह कभी मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए वह किसी ऐसे की खोज में घूमने लगा, जो स्वाधीन तथा प्रकृति के अतीत है। फिर उसने सोचा कि ऐसे स्वतंत्र देवता तो अनेक हैं और धीरे-धीरे उसने उन सबको एक देवाधिदेव में, एक परमेश्वर में लीन कर दिया। इससे भी उसे संतोष नहीं हुआ। कालान्तर से वह सत्य के कुछ थोड़ा और

निकट आया; और फिर क्रमश: उसे ज्ञात हुआ कि वह चाहे जो कुछ हो, किसी न किसी तरह उसका उस देवाधिदेव से, उस परमेश्वर से कुछ सम्बन्ध है। वह, जो अपने को सीमित, नीच तथा दुर्बल समझता था, उस परमेश्वर से किसी न किसी तरह सम्बद्ध है। उसे दिव्य दर्शन होने लगे, विचार उठने लगे और ज्ञान की वृद्धि होने लगी। वह उस परमेश्वर के निकटतर आने लगा, और अन्त में उसे पता चला कि ईश्वर तथा अन्य सब देवता, सर्वशक्तिमान मुक्त पुरुष की प्राप्ति की साधना में अनुभूत होनेवाली मन की विभिन्न अवस्थाएं--ये सब अपने ही स्वरूप के सम्बन्ध में क्रमश: विकसित कल्पनाओं का प्रतिबिम्ब मात्र है। तत्पश्चात् उसने केवल यह सत्य ही नहीं जाना कि 'मनुष्य ईश्वर-निर्मित एवं उसी की प्रतिमूर्ति है,' वरन् उसने यह सत्य भी जाना कि 'ईश्वर मनुष्य-निर्मित एवं उसी की प्रतिमूर्ति है।' दिव्य मुक्ति की कल्पना इस प्रकार प्रकट हुई। परमेश्वर सर्वदा अपने भीतर ही था--निकट से भी निकट था; और फिर भी हम उसकी खोज बाहर ही किये जा रहे थे। अन्त में उसे अपने हृदय की गुहा में ही विराजमान पाया। तुमने उस मनुष्य की कथा सुनी होगी, जिसने अपने हृदय की धड़कन को भूल से ऐसा समझा था कि कोई बाहर से दरवाजा खटखटा रहा है, इसलिए वह उठा और दरवाजा खोलकर देखा कि कोई न था। वह वापस लौट आया। फिर से वही दरवाजा खटखटाने की आवाज आती हुई मालूम हुई, किन्तु दरवाजे पर कोई न था। तब उसने समझा कि यह दरवाजे की खटखटाहट न थी, यह थी उसके निजी हृदय की धड़कन। इसी तरह, अपनी खोज के बाद मनुष्य देखता है कि वह असीम मुक्ति, जिसे अपनी कल्पना शक्ति द्वारा वह अपने से बाहर प्रकृति में प्रस्थापित कर रहा था, वास्वत में अन्त:स्थ विषय है, नित्यस्वरूप परमात्मा ही है--और यह, वह स्वयं ही है।

इस प्रकार, अन्त में इस अद्भुत द्वैत का रहस्य उसकी समझ में आ जाता है। वह जान जाता है कि यह एक ही द्रष्टा अनन्त है और सान्त भी। वही अनन्त पुरुष यह सान्त जीव भी है। वही बुद्धि के जाल में जकड़ा हुआ सा प्रतीत होता है; और सीमित जीवों के रूप में प्रकट सा होता है। परन्तु उसका वास्तविक स्वरूप अविकृत ही रहता है।

इसलिए प्रकृत ज्ञान यही है कि सब जीवात्माओं की आत्मा यह अन्तर्यामी भगवान् ही वह सत्य है, जो अविकार्य है, शाश्वत आनन्दस्वरूप तथा नित्य मुक्त है। यही एक अचल पद है, जिसके आधार पर हम खड़े रह सकते हैं।

अतएव, यही मनुष्य का अवसान, अमरत्व की प्राप्ति तथा दु:ख की निवृत्ति है; और जो इस अनेकता में उस एक को देखता है, इस परिणामी जगत् में उस एक अपरिणामी का दर्शन करता है और उसका अपनी आत्मा की भी आत्मा के रूप में

अनुभव करता है, उसे ही शाश्वत शन्ति प्राप्त होती है—दूसरे को नहीं।

दु:ख और अध:पतन के बीच मानो आत्मा अपनी एक किरण भेज देती है और मनुष्य जाग उठता है और जान लेता है कि जो कुछ वास्तव में उसका है, उसे वह कभी खो नहीं सकता। हां, जो कुछ हमारा है, उसे हम कभी नहीं खो सकते। कौन अपना अस्तित्व खो सकता है ? अपनी प्रत्यक्ष सत्ता कौन खो सकता है ? मैं तो वास्तव में केवल सत्स्वरूप ही हूं और बाद में जब उस पर सद्गुण का रंग चढ़ जाता है, तब मैं 'अच्छा' कहलाता हूं। ऐसा ही बुराई के सम्बन्ध में भी है। आदि, मध्य और अन्त में केवल सत् ही विद्यमान है; वह कभी खोता नहीं, वह तो चिर विद्यमान है।

इसीलिए मुक्ति की सबको आशा है। कोई मर नहीं सकता। सदा के लिए कोई पतित नहीं रह सकता। जीवन तो एक खेल का मैदान है, खेल चाहे जितना ही जंगली क्यों न हो। हम पर चाहे जितनी चोटें पड़ें, चाहे जितने धक्के लगें, किन्तु नित्य विद्यमान आत्मा को कभी कोई चोट नहीं पहुंच सकती। हम वही अनन्त आत्मा हैं।

एक वेदान्ती इस तरह गाता था, "मुझे कभी न संशय था, न डर। मृत्यु मुझे कभी न छू पायी। मेरे माता-पिता कहां ? मैं तो अजन्मा हूं। मैं ही सब कुछ हूं; फिर मेरा शत्रु कौन ? मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूं। 'सोऽहम्, सोऽहम्'। काम, क्रोध, ईर्ष्या, कुविचार आदि ने मुझे कभी स्पर्श नहीं किया, क्योंकि मैं तो सच्चिदानन्दस्वरूप हूं। 'सोऽहम्, सोऽहम्'।"

सब दु:खों का यही एक अमोघ उपाय है। यही वह अमृत है, जो मृत्यु को जीत लेता है। हम यहां दुनिया में विद्यमान हैं और हमारा स्वभाव इस सत्य के विरुद्ध विद्रोह कर बैठता है। किन्तु चलो हम गायें, 'सोऽहम्, सोऽहम्'। मुझे न भय है, न संशय, न मृत्यु; मैं जाति-लिंग-वर्ण सबके अतीत हूं। कौन सा सम्प्रदाय मुझे बांध सकता है ? कौन सा पंथ मुझे अपना सकता है ? सब पंथों में मैं ही अनुस्यूत हूं !'

शरीर चाहे जितना ही विद्रोह करे, मन लड़ने के लिए चाहे जितना ही उठ खडा हो, इस घन अन्धकार में, इस तड़पानेवाली यंत्रणा में, इस घोरतम नैराश्य में एक बार, दो बार, तीन बार, सर्वदा यही गाओ। प्रकाश मृदुता से आता है, धीरे-धीरे आता है—पर आता है अवश्य।

अनेक बार मैं मृत्यु-मुख में पड़ा हूं, क्षुधातुर रहा हूं, पैर फटे हैं और थकावट आयी है; लगातार कई दिनों तक मुझे अन्न नहीं मिला और अकसर मैं एक पग भी नहीं चल सकता था; मैं पेड के नीचे बैठ जाता और ऐसा मालूम होता था कि अब प्राण निकले। बोलना मुझे कठिन हो जाता था और मैं विचार तक नहीं कर सकता था। अन्त में मेरा मन इस विचार पर लौट आया, "मुझे डर कहां ? मैं कैसे मर सकता

हूं ! मुझे न कभी भूख लगती है, न प्यास। मैं तो वही हूं– 'सोऽहम्'। यह सम्पूर्ण विश्व मुझे कुचल नहीं सकता, वह तो मेरा दास है। ऐ परमेश्वर ! ऐ देवाधिदेव ! तू अपनी हुकूमत चला और हाथ से गया हुआ साम्राज्य फिर से प्राप्त कर ! उठ खड़ा हो, चल और बीच में ठहर मत !'' ऐसा विचार आने पर मैं नव चेतना पा उठ खड़ा होता, और यह देखो, तुम लोगों के सामने आज जीता-जागता खड़ा हूं। इस तरह जब-जब अन्धकार का आक्रमण हो, तो अपनी आत्मा का प्रतिष्ठापन करो, और जो कुछ प्रतिकूल है, नष्ट हो जायगा, क्योंकि आखिर यह सब स्वप्न ही है। आपत्तियां पर्वत जैसी भले ही हों, सब कुछ भयावह और अन्धकारपूर्ण भले ही दिखे, पर जान लो, यह सब माया है। डरो मत, यह भाग जायगी। इसे कुचलो, और यह लुप्त हो जाती है। इसे ठुकराओ, और यह मर जाती है। डरो मत; कितनी बार असफलता मिलेगी, यह न सोचो। चिन्ता न करो। काल अनन्त है। आगे बढ़ो, बारम्बार अपनी आत्मा का प्रतिष्ठापन करो। प्रकाश अवश्य ही आयेगा। तुम चाहे किसी की भी प्रार्थना करो, पर कौन तुम्हें आकर सहायता देगा ? जिसने स्वयं मृत्यु से छुटकारा नहीं पाया, उससे तुम किस प्रकार सहायता की आशा कर सकते हो ? स्वयं ही अपना उद्धार करो। भाई, दूसरा कोई तुम्हें मदद न पहुंचायेगा; क्योंकि तुम स्वय ही अपने सबसे बड़े शत्रु हो और तुम स्वयं ही अपने सबसे बड़े मित्र। तो फिर आत्मा का आश्रय लो। उठ खड़े हो, डरो मत। दुःख और दुर्बलता के अन्धकार के बीच आत्मा को प्रकाशित होने दो, भले ही वह प्रकाश आरम्भ में अस्पष्ट और फीका हो। तुम्हें साहस मिलेगा और अन्त में तुम सिंह के समान गरज उठोगे, 'मैं वह हूं, मैं वह हूं– 'सोऽहम्, सोऽहम्'।' हमारे एक कवि ने इस तरह गाया है, "मैं न नर हूं, न नारी, न देव, न दानव। मैं पशु, वृक्ष, पौधा आदि कुछ भी नहीं हूं। न मैं धनिक हूं, न दरिद्र, न विद्वान, न मूर्ख। मेरे वास्तविक स्वरूप की तुलना में ये सब बिलकुल क्षुद्र हैं, क्योंकि मैं ही वह परमात्मा हूं। 'सोऽहम्, सोऽहम्'। सूर्य, चन्द्र तथा तारों की ओर देखो, मैं ही उनमें प्रकाशित हो रहा हूं। अग्नि की प्रभा तथा विश्व में खेलनेवाली शक्ति भी मैं ही हूं, क्योंकि मैं ही वह परमात्मा हूं।

"जो कोई यह सोचता है कि मैं क्षुद्र हूं, वह भूल कर रहा है, क्योंकि सत्ता केवल एक आत्मा की ही है। सूर्य का अस्तित्व इसलिए है कि मैं कहता हूं सूर्य है, और जब मैं उद्घोषित करता हूं कि दुनिया विद्यमान है, तभी उसे अस्तित्व प्राप्त होता है। मेरे बिना वे नहीं रह सकते, क्योंकि मैं सत्, चित् और आनन्दस्वरूप हूं। मैं सदा सुखी हूं, मैं सदा शुचि (पवित्र) हूं, मैं सदा सुहावना हूं। देखो, सूर्य के कारण ही प्राणिमात्र देख सकते हैं, किन्तु किसी की भी आंख के दोष का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता।

मै भी इसी तरह हूं। शरीर की सब इन्द्रियों द्वारा मै काम करता हूं, प्रत्येक वस्तु द्वारा मैं काम कर रहा हूं, किन्तु काम के भले-बुरे गुण का परिणाम मुझ पर नहीं होता। मेरा कोई नियामक नहीं है, और न कोई कर्म। मै ही कर्मो का नियामक हूं। मैं तो सदा वर्तमान था और अभी भी हूं।

"मेरा सच्चा सुख भौतिक वस्तुओ मे कभी न था, न तो वह पति मे था, न पत्नी मे, न पुत्रों मे और न अन्य किसी वस्तु में। मैं तो अनन्त नील-आकाश के समान हू। अनेक वर्ण के मेघ उस पर होकर गुजरते है, कुछ क्षण क्रीडा करते है और चले जाते हैं, और वह विकारहीन नील-आकाश वहां वैसा ही रह जाता है। सुख और दु.ख, अच्छा और बुरा मेरी आत्मा को एक क्षण के लिए भले ही ढक लें, पर फिर भी वहां मेरा अस्तित्व है ही। वे इसलिए निकल जाते हैं कि वे बदलनेवाले ही है। मै इसलिए रह जाता हूं कि मैं स्वभावत: विकारहीन हूं। अगर दु.ख आता है, तो मै जानता हूं कि वह सीमित है। अत: उसका अन्त अवश्य होगा। अगर बुराई आती है, तो मै जानता हू कि वह सीमित है। अत: वह अवश्य चली जाएगी। मुझे कोई वस्तु स्पर्श नहीं कर सकती, क्योकि मै अनन्त हूं, शाश्वत और अपरिणामी आत्मा हूं।''

आओ, हम इस प्याले को पियें—यह प्याला, जो प्रत्येक अमर एवं विकारहीन वस्तु की ओर हमें ले जाता है। डरो मत। ऐसा मत सोचो कि हममे बुराई है, हम सान्त हैं या हम कभी मर सकते हैं। यह सच नहीं है।

'इस आत्मा के सम्बन्ध मे पहले श्रवण करना चाहिए, फिर मनन और उसके उपरान्त उसका निदिध्यासन।' जब हाथ काम करते रहे, मन को कहना चाहिए, 'सोऽहम्, सोऽहम्'। सोचो तो यही सोचो, स्वप्न देखो तो इसी का, यहां तक कि यह तुम्हारी हड्डियो की हड्डी और मांस का मांस बन जाय, यहां तक कि क्षुद्रता के, दुर्बलता के, दु खों के और बुराइयो के सब भयानक स्वप्न बिलकुल गायब हो जाय; और तब एक क्षण के लिए भी सत्य तुमसे छिपा न रह सकेगा।

वेदों और उपनिषदों के विषय में विचार

स्वामी विवेकानन्दजी ने बताया की ज्यामिति (रेखागणित) का उद्भव वैदिक यज्ञ-वेदी से हुआ है।

वेदों की धारणा यह है कि–जिसका श्रेय[1] होता है और वह श्रेय करता भी है। उसी का हमेशा आह्वान किया जाता है। इसी प्रकार द्युतिमानों की भक्ति स्तोत्र की नींव पर जमी है।

मन की अनुभूति भावना से उच्चारण किये जाने वाले मंत्र शक्तिसम्पन्न एवं प्रशस्त होते हैं।

स्वर्ग केवल सत्ता की अन्य अवस्थाएं हैं, जिनमें इन्द्रियभोगों और उच्चतर सिद्धियों की वृद्धि हो जाती है।

स्थूल शरीर की भांति सभी उच्चतर इतर शरीर भी नश्वर हैं। इस जीवन तथा अन्य जीवनों में सभी शरीर मरणधर्मा हैं। देव भी मर्त्य हैं और वे केवल भोग दे सकते हैं।

इन सभी देवों के पीछे एक सत्ताधारी इकाई है–ईश्वर, ठीक वैसे ही जैसे इस शरीर के पीछे कोई उच्चतर वस्तु है, जो अनुभव करती है और जो देखती है।

जगत् के सर्जन, पालन और संहार की जिसमें शक्तियां हैं और सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान होने जैसी जिसकी उपाधियां हैं, वह देवों का भी देव परमेश्वर है।

हे अमृतपुत्रो ! सुनो, हे द्युलोकवासी देवताओ ! सुनो, मैंने एक ऐसी किरण देख ली है, जो सभी अन्धकारों और सभी संशयों के उस पार है। वह पुरातन (ब्रह्म) मुझे मिल गया है।–(श्वेताश्वतरोपनिषद्।। 2। 5; 3। 8।।) इसका मार्ग उपनिषदों में सिन्निहित है।

पृथिवी पर हम मरते हैं, स्वर्गलोक में मरते हैं, ब्रह्मलोक में भी मरते हैं। ईश्वर के पास पहुंचने पर ही हम जीवन-लाभ करते हैं और अमर हो जाते हैं।

उपनिषद् केवल इसी की विवेचना करते हैं। उपनिषदों का पथ पावन पथ है। बहुत से व्यवहार, रीति-रिवाज और लोकाचार आज समझ में नहीं आ सकते। किन्तु

1. देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।। –गीता।। 3। 11।।

उनके द्वारा सत्य स्पष्ट झलकने लगता है। प्रकाश में आने के लिए स्वर्ग तथा पृथिवी सबको तिलांजलि दे दी जाती है।

उपनिषद् कहते हैं :

'प्रभु के ब्रह्माण्ड को भेदन किया है। यह सब उसी का है।'

'जो सर्वव्यापी, अप्रमेय, निर्गुण, निर्विकार और जगत् का महाकवि है, सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्र जिसके छन्द हैं, वह प्रत्येक को उसका उचित भाग देता है।'

'जो कर्मकाण्ड द्वारा प्रकाश को प्राप्त करना चाहते हैं, वे घोर अन्धकार में टटोल रहे हैं। जो यह सोचते हैं कि प्रकृति ही सब कुछ है, वे सब भी अन्धकार में हैं। जो इस विचार द्वारा प्रकृति के बाहर आना चाहते हैं, वे उससे भी गहन अन्धकार में टटोल रहे हैं।

तब क्या कर्मकाण्ड बुरे हैं ? नहीं, वे उनके लिए श्रेयस्कार हैं, जो पिछड़े हैं।

एक उपनिषद् में युवक नचिकेता से यह प्रश्न पूछा गया है, "मरे हुए मनुष्य के विषय में कोई तो कहते हैं, 'रहता है' और कोई कहते हैं, 'नहीं रहता है।' 'आप यम, मृत्यु हैं, आप सत्य जानते हैं। आप इसका उत्तर दें।"–(कठोपनिषद्।। 1। 1। 20।।)

यम ने उत्तर दिया, "बहुत से देवगण भी इसे नहीं जानते, मनुष्यों की तो बात ही क्या। पुत्र ! यह प्रश्न मुझसे मत पूछो।"–(वही, 21) लेकिन नचिकेता दृढ़ रहा। फिर यम ने उत्तर दिया, "स्वर्गलोक के भोग भी मैं तुम्हें दे रहा हूं। इस प्रश्न के उत्तर के लिए हठ मत करो।"–(वही, 25) परन्तु नचिकेता चट्टान की भांति अटल रहा। तब मृत्युदेव ने कहा, "मेरे पुत्र ! तुमने तीसरी बार भी धन, प्रभुता, दीर्घ जीवन, ख्याति और कुटुम्ब के सुखों को ठुकरा दिया। तुम चरम सत्य के विषय में जिज्ञासा करने के पराक्रमी अधिकारी हो। मैं तुमको ज्ञान दूंगा। दो मार्ग हैं, एक श्रेय मार्ग है और दूसरा प्रेम मार्ग है। तुमने प्रथम का वरण किया है।"–(वही।। 1। 2। 1।।)

अब इस बात पर ध्यान दो कि सत्य सिखाने को कैसी शर्तें रखी गयी हैं। पहली शर्त है निर्मलता–एक बालक, पवित्र, निर्भ्रान्त आत्मा जगत् के रहस्य के विषय में प्रश्न पूछ रहा है। दूसरी, सत्य ही के लिए उसे सत्य को ग्रहण करना चाहिए।

जब तक सत्य किसी ऐसे व्यक्ति से प्राप्त नहीं होता, जिसने सत्य का साक्षात्कार स्वयं किया है, उसे स्वयं हृदयंगम किया है, तब तक वह फलदायक नहीं हो सकता। ग्रंथ उसे नहीं दे सकते, तर्क उसे सिद्ध नहीं कर सकते। सत्य उसको मिलता है, जिसने उसके रहस्य को समझ लिया।

जब मिल जाए, तो मौन रहें। कुतर्कों से विचलित न हों। आत्मज्ञान स्वयं प्राप्त

करो। इसे तुम स्वयं ही कर सकते हो।

यह न तो सुख है, न दुःख, न पाप है, न पुण्य है और न ज्ञान है, न अज्ञान है। इसका साक्षात्कार अवश्य करना चाहिए। इसका वर्णन मैं तुमसे कैसे कर सकता हूं?

जो सच्चे हृदय से पुकारता है, "हे प्रभो! मैं बस तुझे चाहता हूं"—उसको प्रभु स्वयं दर्शन देता है। निर्मल रहो, शान्त रहो। अशान्त मन प्रभु को प्रतिबिम्बित नहीं कर सकता।

'जिसका गुणगान वेद करते हैं, जिसके पास पहुंचने के लिए स्तुति और यज्ञ से हम सेवा करते हैं, उस वर्णनातीत का वाचक पवित्र ॐ है।'— (वही, 15) सभी शब्दों में यह सर्वाधिक पवित्र है। जो इस शब्द का रहस्य जान गया, उसको वे सभी वस्तुएं प्राप्त होतीं हैं जिनके लिए वह मनोरथ करता है। इस शब्द की शरण में जाओ। जो कोई इस शब्द की शरण में जाता है, उसके लिए मार्ग खुल जाता है।

मानव का भाग्य

(17 जनवरी, सन् 1894 ई० को मेमफिस में दिया गया व्याख्यान : 'अपील एवलांश' पत्र में प्रस्तुत विवरण)

17 जनवरी, सन् 1894 ई० मे मेमफिस मे जिस समय स्वामीजी भाषण दे रहे थे तो वहां पर श्रोताओ का एक बहुत विशाल जनसमूह था। इस जनसमूह मे सभी वर्गो एवं व्यवसायों के व्यक्ति उपस्थित थे। स्वामीजी के भाषण में और अमेरिका निवासियों के भाषण में जमीन आसमान का अन्तर है क्योंकि स्वामीजी अपने भाषण को गणित के अध्यापक की तरह विवेचनात्मक ढंग से प्रस्तुत करते है। सभी तर्को के विरुद्ध अपने विषय का सफलतापूर्वक अडिग प्रतिपादन करने में अपनी शक्ति और योग्यता पर पूरा विश्वास रखते हुए कानन्द[1] भाषण करते है। जिसकी तार्किक ढंग से पुष्टि न की जा सके, ऐसा कोई विचार न तो वह पेश करते है और न उस पर बल देते हैं। उनकी वक्तृता का अधिकांश कुछ इंगरसोल के दर्शन के ढर्रे पर है। भविष्य मे दण्ड मिलने अथवा ईश्वर के प्रति जिस प्रकार का विश्वास ईसाइयों को है; उस प्रकार का विश्वास उनका नहीं है। उन्हें यह विश्वास नहीं है कि मन अविनाशी है, क्योकि वह पराश्रित है और जब तक किसी वस्तु की बिलकुल स्वतंत्र सत्ता न हो, तब तक वह अविनाशी नहीं हो सकता। वे कहते हैं, "ईश्वर कोई राजा नहीं है, जो जगत् के किसी कोने मे बैठकर पृथिवी के मनुष्यो को उनकी करनी के अनुसार दण्ड अथवा पुरस्कार देता है; और वह असमय आयेगा, जब मानव को इस सत्य का बोध होगा, तब वह उठेगा और कहेगा मैं ब्रह्म हूं' (अहं ब्रह्मास्मि) और मै उसके जीवन का जीवन हूं। जब हमारा वास्तविक रूप, हमारा अमर सिद्धान्त ईश्वर है, तब यह शिक्षा क्यो दी जाय कि ईश्वर बहुत दूर है ?

"आदि पाप की अपने धर्म की शिक्षा से तुम भ्रम में न पडो, क्योंकि वही धर्म आदि पवित्रता की भी शिक्षा देता है। जब आदम का पतन हुआ, तब वह पुण्य से च्युत हुआ (हर्षध्वनि)। पवित्रता हम लोगों का वास्तविक स्वभाव है और उसकी पुन:

1. उन दिनो पत्रो के संवाददाता स्वामीजी को आमतौर से विवेकानन्द लिखते थे।

उपलब्धि सभी धर्मों का लक्ष्य है। सभी आदमी पवित्र हैं, सभी अच्छे हैं। उन पर कुछ आपत्तियां उठायी जा सकती हैं और तुम पूछते हो कि कुछ लोग पशु जैसे क्यों हैं ? जिस आदमी को तुम पशु कहते हो, वह मैल और धूल में पड़ा हुआ हीरा है--धूल झाड़ दो और वह हीरा हो जाएगा। वह इतना निर्मल हो जाएगा कि मानो उस पर धूल कभी पड़ी ही न थी और हमें स्वीकार करना चाहिए कि प्रत्येक आत्मा एक बड़ा हीरा है।

"अपने भाई को पानी कहने से बढ़कर निम्नतर बात और कुछ नहीं है। एक बार एक शेरनी भेड़ों के झुण्ड पर टूट पड़ी और उसने एक भेड़ के बच्चे को मार डाला। एक भेड़ को शेर का नन्हा-सा बच्चा मिला, जो उसके पीछे-पीछे चल रहा था। भेड़ ने उसे अपना दूध पिलाया। भेड़ों के बीच वह बढ़ने लगा और उसने भेड़ की भांति घास खाना सीख लिया। एक दिन एक बूढ़े सिंह ने इस मेष-सिंह को देखा और उसे भेड़ों से अलग ले जाना चाहा, परन्तु उसके निकट पहुंचते ही मेष-सिंह भाग गया। बड़ा सिंह प्रतीक्षा करता रहा और उसने मेष-सिंह को अकेले में पकड़ लिया। उसे निर्मल जल के सरोवर के किनारे ले जाकर उसने कहा, 'तुम भेड़ नहीं हो, बल्कि सिंह हो। जल में अपना प्रतिबिम्ब तो देखो।' जल में प्रतिबिम्बित अपनी छाया को निहारकर मेष-सिंह ने कहा, 'मैं सिंह हूं, मेष नहीं।' हम भी अपने को भेड़ न समझें, वरन् सिंह बनें। भेड़ की तरह मिमियाना और घास खाना बन्द करो।

"चार महीने से मैं अमेरिका में हूं। मासाचुसेट्स में मैंने एक सुधारक कारावास देखा। उस कारागार के जेलर को कभी यह मालूम नहीं होता कि कैदी किन अपराधों में जेल में रखे गये हैं। उनके चतुर्दिक् दया का चोंगा डाल दिया गया है। एक अन्य नगर में तीन ऐसे समाचार-पत्र थे, जिनका सम्पादन बड़े विद्वान व्यक्ति करते थे और जो यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे थे कि कठोर दण्ड देना आवश्यक है जब कि एक अन्य समाचार-पत्र यह मत प्रकट कर संतुष्ट था कि दण्ड से दया उत्तम है। एक अखबार के सम्पादक ने आंकड़ों से सिद्ध किया कि जिन अपराधियों को कठोर दण्ड दिये गये थे उनमें से पचास प्रतिशत जेल से लौटने पर भले आदमी का जीवन व्यतीत करने लगे, जब कि हलके दण्ड पानेवालों में से नब्बे प्रतिशत लोग जेल से लौटने पर अच्छा जीवन बिताने लगे।

"धर्म मानव स्वभाव की दुर्बलता का परिणाम नहीं; यहां धर्म का अस्तित्व इसलिए नहीं है कि हम किसी अत्याचारी से डरते हैं; धर्म प्रेम है, जो खिल रहा है, वर्द्धमान है और विकासमान है। घड़ी का दृष्टांत लो--छोटी-सी डिबिया में कल-पुरजे हैं और एक स्प्रिंग है। स्प्रिंग में जब चाभी भर दी जाती है, तो वह अपनी प्रकृत अवस्था को पुन: प्राप्त करने का यत्न करती है। तुम घड़ी के स्प्रिंग की भांति हो; और

आवश्यक नहीं है कि सभी घड़ियों के स्प्रिंग एक प्रकार के हों और यह भी आवश्यक नहीं है कि हम सबका धर्म एक ही हो; और हम लड़ें क्यों ? यदि हम सभी लोगों के विचार एक हों तो दुनिया मृत हो जाय। बाह्य-गति को हम क्रिया कहते हैं और आन्तरिक-गति है मानव-विचार। पत्थर पृथिवी पर गिरता है। तुम कहते हो कि यह गुरुत्वाकर्षण के नियम का परिणाम है। घोड़ागाड़ी को खींचता है और ईश्वर घोड़े को। वह गति का नियम है। भंवरे धारा की शक्ति प्रकट करती हैं, धारा रोक दो और जल बंधकर सड़ने लगेगा। गति ही जीवन है। हमारे लिए एकता और विविधता अवश्य होनी चाहिए। गुलाब को कोई दूसरा नाम दे दो, तब भी वह उतनी ही मधुर सुगंधि देगा, और अपने धर्म को कोई नाम दे दो उससे अन्तर नहीं पड़ेगा।

"एक गांव में छः अंधे रहते थे। उन्होंने हाथी का नाम तो सुना था लेकिन अन्धे होने के कारण वे हाथी देख नहीं सकते थे, अपनी कौतुहलता के समाधान के लिए वे बाहर निकले और उन्होंने उसका (हाथी) स्पर्श किया। एक ने अपना हाथ हाथी की पूंछ पर, एक ने पार्श्व भाग पर, एक ने जीभ (सूंड) पर, एक ने कान पर और एक ने उसकी टांग पर रखा। वे हाथी के रूप का वर्णन करने लगे। एक ने कहा कि वह रस्सी जैसा है, एक ने कहा, वह भारी दीवार जैसा है, एक ने उसे अजगर जैसा बताया एक ने कहा, वह पंखे जैसा है; और एक ने उसे मोटे तने जैसा बताया। अन्त में वे फैसला न होने पर एक दूसरे से भिड़ गये और एक-दूसरे पर घूंसे बरसाने लगे। एक दृष्टिवान आदमी आया और उसने परेशानी का कारण पूछा। अंधों ने कहा कि हम लोगों ने हाथी देखा है, लेकिन एक-दूसरे पर झूठ बोलने का आरोप लगाने के कारण हममें आपस में मतभेद है। उस आदमी ने कहा, "भाई तुम सब झूठ बोले हो, तुम लोग अंधे हो और तुममें से किसी ने उसे नहीं देखा है।" हम लोगों के धर्म के मामले में भी यही बात है। हम अंधों को हाथी देखने देते हैं। (हर्षध्वनि)

"भारत के एक सन्यासी ने कहा है, 'अगर आप कहें कि मैं मरुस्थलों के बालू को पेर कर उसमें से तेल प्राप्त कर लूंगा, या यह कि मैं मगर के मुख से उसके दांत उखाड़ लूंगा और वह काट न सकेगा, तो मैं विश्वास कर लूंगा, लेकिन मैं तब आपका विश्वास नहीं करूंगा, जब आप कहेंगे कि धर्मान्ध को बदला जा सकता है।'[2] तुम पूछ सकते हो कि धर्मों में इतना भेद क्यों है ? जवाब यह है—छोटी-छोटी नदियां हजारों

2. प्रसह्यमणि मुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रात्करात्।
समुद्रमपि संतरेत्प्रचलदूर्मिमालाकुलम्।।
भुजंगमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारयेत्।।
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्।।

पहाड़ी कगारों से टकराती हुई महासागर में आती है। यही बात विभिन्न धर्मों पर लागू होती है। वे सब हम लोगों को भगवान के हृद्देश में ले जाने को हैं। 1900 वर्षों तक तुम लोग यहूदियों के दमन की कोशिश करते रहे। क्यों तुम उनका दमन न कर सके? प्रतिध्वनि उत्तर देती है; 'अज्ञानता और धर्मान्धता कभी सत्य का दमन नहीं कर सकतीं।'[3]

वक्ता ने लगभग दो घंटे तक इसी प्रकार की तार्किक शैली में भाषण जारी रखा और इस कथन के साथ उसका उपसंहार किया, 'हम सहायता करें, विनाश नहीं।'

---

3. लभते सिकतासु तैलमपि यत्नत: परिपीडयन्।
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्द्दितः।।
कदाचिदपि पर्यटन्शशविषाणमासादयेत्।
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्।। —भर्तृहरिनीतिशतकम्।। 3। 4।।

लक्ष्य – (1)

(27 मार्च, सन् 1900 ई० को सैन फ्रांसिस्को में दिया गया व्याख्यान[1])

हर मनुष्य अपने महत्तर वस्तु का अभिप्राय समझने की कोशिश में तल्लीन है। मनुष्य अपने श्रेष्ठ आदर्शो की खोज कर रहा है व आगे भी करेगा। अपने श्रेष्ठ आदर्शों के द्वारा ही धर्म की खोज की जाती है। यही मनुष्य का अस्तित्व है। मनुष्य बाह्य धरातल व स्वर्ग दोनों ही जगह तरह-तरह की खोज करता है जो कि उसकी प्रकृति के सदैव अनुरूप थी।

(बाद में), मनुष्य कुछ और बारीकी से आत्म-निरीक्षण करने लगा और उसे पता लगने लगा कि उसका वास्तविक 'मैं' वह 'मैं' नहीं है, जिसे वह साधारणत: अपने को मान बैठां है। इन्द्रियों को उसका जो स्वरूप भासित होता है, वह वस्तुत: है नहीं। उसने अपने अन्तर में पैठकर (खोज) शुरू की और उसे पता लगा कि....उसने अपने बाहर जो आदर्श (स्थापित कर) रखा है, वह सतत भीतर ही विद्यमान है; वह बाहर जिसकी उपासना कर रहा था, वह उसी का वास्तविक आन्तरिक स्वरूप है। द्वैतवाद और अद्वैतवाद में अन्तर यह है कि जब उपास्य को (अपने से) बाहर मान लिया जाता है, तो उसे द्वैतवाद कहते हैं। जब ईश्वर (को पाने की खोज) भीतर की जाती है, तो उसे अद्वैतवाद कहते हैं।

पहले वह पुराना सवाल कि क्यों और किसलिए।....मनुष्य ससीम कैसे हो गया? वह पूर्ण अपूर्ण कैसे हो गया, नित्य शुद्ध मायालिप्त कैसे हुआ ? प्रथम तो तुमको यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि इस प्रश्न का उत्तर द्वैत सिद्धान्त (द्वारा) नहीं दिया जा सकता। ईश्वर ने दोषमय विश्व की सृष्टि क्यों की ? जब अशेषपूर्ण, दयानिधान परम

1. 'वेदान्त एण्ड दी वेस्ट' के सन् 1958 में मई-जून के अंक से लेकर इसे पुन: मुद्रित किया गया। पत्रिका के सम्पादकों ने इसे उसी रूप में प्रकाशित किया, जिस रूप में उसे लिखकर उतारा गया था। विचार तथा काल का तारतम्य बनाये रखने के लिए कुछ शब्द जोड़ दिये गये हैं, जिन्हें कोष्ठों में रखा गया है। व्याख्यान उतारने में जो शब्द छूट गये होंगे, उन्हें ये इंगित करते हैं।–सं०

पिता परमेश्वर ने मनुष्य की रचना की, तो वह इतना दुःखी क्यों है ? यह स्वर्ग और धरती, जिनका अवलोकन कर हम नियम सम्बन्धी कल्पना करते हैं, क्यों है ? कोई व्यक्ति किसी ऐसी वस्तु की कल्पना नहीं कर सकता, जिसे उसने देखा न हो।

इस जीवन में हमें जो यातनाएं भोगनी पड़ती हैं, उनका समुच्चय हमने अन्यत्र आरोपित कर दिया और वह हम लोगों का नरक है।....

उस अनादि, अनन्त परब्रह्म ने इस विश्व की सृष्टि क्यों की ? (द्वैतवादी कहता है कि) जैसे कुम्हार बरतन बनाता है। परब्रह्म कुम्हार है, हम बरतन हैं....। अधिक दार्शनिक भाषा में प्रश्न यों समझना चाहिए, इसे ध्रुव सत्य कैसे मान लिया जाय कि मनुष्य का वास्तविक स्वरूप नित्य शुद्ध, अशेष और पूर्ण है ? किसी भी अद्वैती व्यवस्था में यह एक कठिनाई है। अन्य प्रत्येक बात स्वच्छ और स्पष्ट है। इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता। अद्वैतवादी कहता है कि यह प्रश्न स्वतः अन्तर्विरोधी है।

द्वैत मत लो, सवाल है कि परब्रह्म ने विश्व की सृष्टि क्यों की ? यह अन्तर्विरोध है। क्यों ? क्योंकि ब्रह्म से आशय क्या है ? वह ऐसी सत्ता है, जो किसी विजातीय वस्तु द्वारा क्रियमाण नहीं हो सकता।

मैं और तुम स्वतंत्र नहीं हैं। मैं प्यासा हूं। प्यास नाम की एक चीज है, जिस पर मेरा नियन्त्रण नहीं है, (वह) मुझे पानी पीने को बाध्य करती है। मेरे शरीर की प्रत्येक क्रिया यहां तक कि मन में उठनेवाला प्रत्येक विचार, कहीं बाहर से मुझ पर लादा जाता हैं मुझे वह करना ही पड़ता है इसीलिए मैं बन्धन में हूं ....मैं इसे करने, इसे पाने आदि के लिए बाध्य किया जाता हूं; और क्यों तथा किसलिए का अभिप्राय क्या है ? (बाह्य शक्तियों के प्रभाव में रहकर) तुम पानी क्यों पीते हो ? क्योंकि प्यास तुमको विवश करती है। तुम दास हो। तुम अपनी इच्छा से कभी कुछ नहीं करते, क्योंकि प्रत्येक काम को तुमसे जबरदस्ती कराया जाता है। कर्म करने का एकमात्र हेतु कोई बल है।....

पृथिवी स्वतः कभी नहीं हिलती-डुलती, यदि उसे कोई चीज चलने के लिए विवश नहीं करती। बत्ती जलती क्यों है ? वह तब तक नहीं जलती, जब तक कोई दियासलाई घिसकर नहीं जलाता। समस्त प्रकृति की प्रत्येक वस्तु बंधन में जकड़ी है। गुलामी ! गुलामी ! प्रकृति से सामंजस्य का अर्थ है (गुलामी)। प्रकृति का दास बनाकर सोने के पिंजरे में रहने में क्या सार है ? (मनुष्य को इसका ज्ञान हो जाना ही कि वह तत्त्वतः मुक्त और दिव्य है) सर्वोच्च नियम तथा व्यवस्था है। अब हम समझ गये कि क्यों तथा किसलिए जैसे प्रश्न (अज्ञानवश) पूछे जाते हैं। किसी विजातीय तत्त्व द्वारा ही मुझे कुछ करने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

(तुम कहते हो) ईश्वर मुक्त है। फिर तुम पूछते हो कि वह सृष्टि क्यों करता है। तुम स्वयं अपनी बातों का खंडन करते हो। ईश्वर शब्द से अभिप्राय है, पूर्ण स्वतंत्र इच्छा। तार्किक भाषा में प्रश्न का यह रूप होगा—जिसे कभी कोई बाध्य नहीं कर सकता, उसे विश्व की सृष्टि करने को किसने विवश किया ? इसी प्रश्न में तुम कहते हो किसने विवश किया ? प्रश्न मूर्खतापूर्ण है। वह तो स्वतः पूर्ण है। वह मुक्त है। जब तुम इन प्रश्नों को तर्क की भाषा में पूछोगे, तब हम उनका जवाब देगे। मुक्ति तुमको बतायेगी कि सत् केवल एक है और कुछ नहीं। जहां भी द्वैत मत उदय हुआ, वहीं अद्वैत मत ने आगे बढ़कर उसको मार भगाया।

उसे समझने में केवल एक कठिनाई है। धर्म सामान्य बुद्धि और नित्य प्रति की वस्तु है। यदि उसकी भाषा में पूछा जाय और दार्शनिक की भाषा में न (पूछा जाय), तो राह चलता भी यह जानता है। मानव की प्रकृति का यह सामान्य गुण है कि वह (अपना विस्तार चाहती है)। बच्चे के साथ अपने भाव को मिलाओ। (तुम उसके साथ तादात्म्य स्थापित करते हो, तब) तुम्हारे दो शरीर होते हैं। (इसी प्रकार) तुम अपने पति के मन द्वारा भावानुभूति कर सकती हो। तुमको रुकावट कहां है ? असंख्य पिंडों में तुमको अनुभूति हो सकती है।

मानव प्रकृति पर नित्य विजय प्राप्त करता है। एक जाति के रूप में वह अपनी शक्ति व्यक्त कर रहा है। मनुष्य की इस शक्ति को सीमा में बांधने की कल्पना करो। तुम इसे मानोगे कि एक जाति के रूप में मानव के पास असीम शक्ति और असीम शरीर है। प्रश्न बस एक है कि तुम कौन हो ? तुम जाति हो या एक (व्यक्ति) ? जिस क्षण तुम अपने को पृथक् कर लेते हो, प्रत्येक वस्तु तुमको कष्ट देती है। जिस क्षण तुम अपना विस्तार करते हो और दूसरों से आत्मा भाव स्थापित करते हो, तुमको सहायता मिलती है। स्वार्थी व्यक्ति दुनिया में सबसे दुःखी प्राणी है। सबसे सुखी वह आदमी है, जो लेशमात्र स्वार्थी नहीं है। वह समस्त सृष्टिमय और समस्त जातिमय है और उसमें ईश्वर का निवास है।....इस प्रकार द्वैतवाद, ईसाई, हिन्दू और सभी धर्मो की नीति-संहिता है, स्वार्थी मत बनो. . निःस्वार्थ बनो। परोपकार करो ! विस्तार करो !

जो अज्ञानी हैं, उन्हें (यह) बड़ी आसानी से बोध कराया जा सकता है और जो विद्वान हैं, उन्हें तो और अधिक आसानी से समझाया जा सकता है। परन्तु जिन्हें छिछली विद्या मिली है, उन्हें ब्रह्मा भी नहीं समझा सकते। (सत्य यह है कि) तुम (इस जगत् से) पृथक् नहीं हो, (ठीक वैसे ही जैसे तुम्हारी आत्मा) तुम्हारे शेष भाग से अलग नहीं है। यदि ऐसा (न) होता, तो तुम न तो कुछ देख सकते और न अनुभूति प्राप्त कर सकते। जड़तत्त्व के महासागर में हमारे शरीर छोटी-छोटी भंवरें मात्र हैं। जीवन

मोड़ ले रहा है, चला जा रहा है, दूसरे रूप में....। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तुम; मैं, बस मात्र भंवरें हैं। मैंने (एक विशेष प्रकार के मन को) क्यों अपनाया ? (यह) मन के महासमुद्र में एक मामूली मानस भंवर (है)।

अन्यथा मेरे कम्पन का तत्काल तुम्हारे पास पहुंचा जाना कैसे सम्भव हो पाता? अगर तुम झील में एक पत्थर फेंकते हो, तो उससे एक कम्पन उठता है और (वह) पानी को कम्पन में (चलायमान करता है)। मैं अपने मन को आनन्द की अवस्था में लाता हूं, तुम्हारे मन में भी वैसा ही आनन्द पैदा करने की प्रवृति होती है। कितनी बार अपने मन या हृदय में (तुम कुछ सोचते हो) और बिना (वाणी के) संचार के (अन्य लोगों के पास तुम्हारे विचार पहुंच जाते हैं) ? हर जगह हम सब एक हैं।. ..यह ऐसी वस्तु है, जिसे हम कभी समझ नहीं पाते। समस्त (जगत्) देश, काल और निमित्त से निर्मित है; और परमेश्वर (ब्रह्माण्डवत् प्रतीत होता है)।....प्रकृति का आदि कब से है ? जब तुम (सच्चे स्वरूप को भूल गये और देश, काल तथा निमित्त के बंधन में पड़ गये)।

यह तुम्हारे शरीरों का (घूर्णित) चक्र है और फिर भी यही तुम्हारी आनादि प्रकृति है।....यह निश्चय ही प्रकृति है–देश, काल और निमित्त। प्रकृति का अर्थ बस इतना ही है। जब से तुमने विचार करना आरम्भ किया, तभी से काल का उद्भव हुआ। जब तुमको शरीर मिला, तब देश (आकाश) का प्रादुर्भाव हुआ, अन्यथा देश हो नहीं सकता। जब तुम सीमाबद्ध हुए, तब निमित्त आरम्भ हुआ। हमें किसी न किसी प्रकार का उत्तर रखना पड़ेगा। यह है उत्तर। (हमारी ससीमता) खेल है। केवल विनोदार्थ। कोई वस्तु तुमको बांधती नहीं, कोई (तुमको) बाध्य नहीं करता। (तुम) कभी बंधे नहीं (थे)। हम लोग स्वयं अपने ही द्वारा रचित (नाटक) में अपना-अपना अभिनय कर रहे हैं।

अब हम जीवों के व्यक्तित्व के प्रश्न पर विचार करें। कुछ लोग अपने व्यक्तित्व के लोप के भय से इतने त्रस्त रहते हैं। यदि शूकर को अपना शूकरत्व खोकर ब्रह्मत्व प्राप्त हो जाय, तो क्या यह श्रेस्कर नहीं ? हां, है। परन्तु बेचारा शूकर उस समय यह नहीं सोचता। कौन-सा व्यक्तित्व मेरा अपना है ? जब मैं शिशु था और फर्श पर हाथ-पैर पसारे अपना अंगूठा निगल जाने की चेष्टा करता था ? क्या अपने उस व्यक्तित्व को खोकर मुझे शोक करना चाहिए ? पचास वर्ष बाद मैं अपनी इस वर्तमान अवस्था पर दृष्टिपात कर इस पर ठीक उसी प्रकार हंसूंगा, जिस प्रकार (आज) शैशवावस्था पर हंसता हूं। इनमें से अपने किस व्यक्तित्व को मैं रखूंगा?...

हमें इस व्यक्तित्व का अर्थ समझना होगा।....(दो विरोधी प्रवृत्तियां हैं) एक

व्यक्तित्व की रक्षा की और दूसरा व्यक्तित्व के उत्सर्ग की उत्कट इच्छा की। आवश्यकताग्रस्त बच्चे के निमित्त माता अपनी सभी अभिलाषाओं का बलिदान कर देती है।. जब वह बच्चे को गोद में लेती है, तब उसकी अपने व्यक्तित्व की रक्षा, अस्तित्व-रक्षा की प्रेरणाए नहीं रह जातीं। वह निकृष्टतम भोजन कर लेगी, लेकिन बच्चों को अच्छे से अच्छा भोजन देगी। इस प्रकार जिन्हें हम प्यार करते हैं, उनके लिए मर मिटने को तैयार रहते हैं।

(एक ओर तो) हम लोग यह व्यक्तित्व बनाये रखने के लिए कठिन संघर्ष कर रहे हैं, दूसरी ओर, उसके विनाश का प्रयत्न भी कर रहे हैं। परिणाम क्या होता है? टाम ब्राउन कठिन संघर्ष कर सकता है। वह अपने व्यक्तित्व के लिए (लड़ रहा) है। टाम मर जाता है और धरती पर उसका कहीं चिह्न तक नहीं रहता। उन्नीस सौ वर्ष पूर्व एक यहूदी का जन्म हुआ और उसने व्यक्तित्व बनाये रखने के लिए अंगुली तक नहीं हिलायी।....जरा उस पर भी विचार करो! उस यहूदी ने व्यक्तित्व की रक्षा के लिए कभी संघर्ष नहीं किया। इसी से वह दुनिया में सबसे महान् बना। यही दुनिया को ज्ञात नहीं है।

काल के अन्तर्गत हमे व्यक्तित्वधारी बनना पड़ता है। पर किस अर्थ में ? मानव का व्यक्तित्व क्या है ? टाम ब्राउन नहीं, वरन् नर रूप में नारायण। वही (सच्चा) व्यक्तित्व है। मनुष्य जितना उसके समीप पहुंचता है, उतना ही वह अपने मिथ्या व्यक्तित्व को त्याग देता है। जितना ही वह अपने लिए संग्रह और लाभ के लिए प्रयत्न करता है, उतना ही उसका व्यक्तित्व होता है। जितनी ही कम वह (अपनी) चिन्ता करता है, उतना ही अधिक वह जीवन-काल में अपने व्यक्तित्व को उत्सर्ग कर देता है।... उतना ही अधिक वह व्यक्तित्वधारी होता है। यह एक ऐसा रहस्य है, जिसे दुनिया नहीं समझती।....

हमें पहले व्यक्तित्व का अर्थ समझना चाहिए। इसका अर्थ है ध्येय तक पहुंचना। इस समय तुम पुरुष (या) स्त्री हो। तुम सदैव परिवर्तित होते रहोगे। क्या तुम रुक सकते हो ? क्या तुम अपने मन को वैसे ही रखना चाहते हो, जैसा वह इस समय है–क्रोध, घृणा, द्वेष, विवाद तथा अन्य हजारों दिमागी बातें ? क्या तुम्हारा अभिप्राय यह है कि तुम उन्हें पाल रखोगे ?....जब तक तुम पूर्ण जय प्राप्त नहीं कर लोगे, जब तक तुम पवित्र तथा पूर्ण नहीं हो जाओगे....तब तक तुम कहीं रुक नहीं सकते।

जब तुम अखंड प्रेम, आनन्द और पूर्ण सत् हो जाओगे, तब तुममें क्रोध न रहेगा।....तुम अपने किस शरीर को बनाये रखोगे ? जब तक तुम अनन्त जीवन

तक नहीं पहुंचोगे, तब तक तुम कहीं नहीं रुक सकते। पूर्ण जीवन! तुम वहां रुकते हो। इस समय तुमको अल्प ज्ञान है और तुम उसे बढ़ाने के लिए सतत प्रयत्नशील हो। तुम कहां रुकोगे ? कहीं नहीं, जब तक जीवन से तुम्हारा एकीकरण नहीं हो जाता।....

बहुत से लोग सुख (को) लक्ष्य बनाना चाहते हैं। उस सुख के लिए वे इन्द्रियभोगों को ही ढूंढ़ते हैं। उच्चतर धरातलों पर बहुत सुख-लाभ करना है। फिर आध्यात्मिक धरातलों पर। फिर आत्माराम बनकर–अपने ही भीतर भगवान् में। जिस मनुष्य का सुख (उसके) बाहर है, वह बाह्य वस्तु के चले जाने पर दुःखी होता है। इस जगत् की किसी वस्तु पर तुम सुख के लिए आश्रित नहीं रह सकते। यदि मेरे सारे सुख मेरी आत्मा में हैं, तो वे सुख मुझे निरन्तर मिलते रहेंगे, क्योंकि आत्मा से वियोग कभी नहीं हो सकता।....माता, पिता, बच्चे, पत्नी, शरीर, धन–आत्मा के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु मुझसे बिछुड़ सकती है....आत्मा में आनन्द। आत्मा में ही सारी इच्छाएं विद्यमान हैं। यह वह व्यक्तित्व है, जो कभी परिवर्तित नहीं होता और पूर्ण है।

...और उसकी उपलब्धि कैसे हो ? इस विश्व के सभी महात्माओं ने–सभी महापुरुषों और स्त्रियों ने–जिसे (दीर्घकालीन विवेक से) प्राप्त किया, वही उन्हें मिलता है। बीस देव और तीस देव होने के ये द्वैतवादी सिद्धान्त क्या हैं ? कोई बात नहीं। उन सबमें एक सत्य है कि मिथ्या व्यक्तित्व समाप्त हो....उसी प्रकार यह अहंकार भी–जितना ही यह कम होगा, उतना ही मैं अपने वास्तविक स्वरूप, उस विश्व-शरीर के अधिक समीप रहूंगा। मैं अपने निजी मन का जितना ही कम खयाल करूंगा, उतना ही उस विश्व-मन से मेरा सामीप्य होगा। मैं अपनी आत्मा के विषय में जितना ही कम सोचूंगा, उतना ही अधिक सान्निध्य विश्वात्मा से होगा।

हम एक शरीर में निवास करते हैं। हमें कुछ दुःख मिलता है, कुछ सुख। बस इसी स्वल्प सुख के लिए, जो हमें इस काया में रहने के कारण मिलता है, हम अपने को बनाये रखने के निमित्त संसार में प्रत्येक का संहार करने को उद्यत हैं। यदि हमारे दो शरीर होते, तो क्या इससे अधिक उत्तम न होता ? इस प्रकार परमानन्द पर्यन्त हम बढ़ते जा रहे हैं। मैं प्रत्येक शरीर में हूं। सभी हाथों से मैं कर्म करता हूं, सभी पैरों से मैं चलता हूं। प्रत्येक मुख से मैं बोलता हूं, प्रत्येक शरीर में मैं निवास करता हूं। अनन्त मेरे शरीर, अनन्त मेरे मन। नाजरथ के ईसामसीह, बुद्ध, मुहम्मद–भूतकाल के सभी महान् तथा उत्तम पुरुषों में मेरा निवास था और वर्तमानकाल के पुरुषों में भी है। भविष्य में जो (होनेवाले) हैं, उनमें भी मेरा निवास होगा। क्या यह कोरा सिद्धान्त है ? (नहीं, यह सत्य है।)

यदि हमें तुम सिद्ध कर सको, तो यह कितना आनन्दायक होगा। कितना अपार हर्ष! वह कौन-सा शरीर इतना महान् है, जिसकी हमें यहां कोई आवश्यकता हो? . . अन्य सभी लोगों के शरीरों में रहने, इस दुनिया में विद्यमान सभी शरीरों का भोग कर लेने के बाद, हमारा क्या होता है? (हम अनादि अनन्त में समा जाते हैं। और) वही हमारा लक्ष्य है। बस वही एक मार्ग है। एक (व्यक्ति) कहता है, "यदि मैं सत्य को जान लूं, तो मैं मक्खन की भांति पिघल जाऊंगा।" मेरी अभिलाषा है कि लोग ऐसे ही हों, पर वे इतने सख्त हैं कि इतनी जल्दी पिघलनेवाले नहीं!

मुक्त होने के लिए हमें क्या करना होगा? मुक्त तो (तुम) हो ही। ...जो मुक्त है, वह कभी बंधन में कैसे पड़ सकता है? यह मिथ्या है। (तुम) कभी बंधन में नहीं (थे)। जो पूर्ण है, वह किसी के द्वारा कभी अपूर्ण कैसे हो सकता है? 'पूर्ण (असंख्य) में पूर्ण का भाग दो, पूर्ण जोड़ो, पूर्ण से गुणा करो, पूर्ण ही (रहेगा)।'[2] तुम पूर्ण हो। ईश्वर पूर्ण है। तुम सब पूर्ण हो। सत्ता एक ही हो सकती है, दो नहीं। पूर्ण को कभी अपूर्ण नहीं बनाया जा सकता। तुम कभी बंधन में नहीं जकड़े जा सकते। बस।... तुम मुक्त ही हो। तुम लक्ष्य तक पहुंच चुके हो—जो भी गन्तव्य है। मन को कदापि न सोचने दो कि तुम लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाये हो।....

हम जो कुछ (सोचते) हैं, वही बन जाते हैं। यदि तुम अपने को हीन पापी सोचते हो, तो तुम अपने को सम्मोहित करते हो; 'मैं दुःखी, रेंगनेवाला कीट हूं।' जो नरक में विश्वास रखते हैं, वे मृत्यु के उपरान्त उसी नरक में पड़ते हैं, जो स्वर्ग जाने को कहते हैं, वे (स्वर्ग जाते हैं)।

यह सब कौतुक है....(तुम कह सकते हो।) हमें कुछ करना है, इसलिए पुण्य कर्म करें। (किन्तु) पाप-पुण्य की परवाह कौन करता है? लीला! सर्वशक्तिमान ईश्वर लीला करता है। बस....तुम सर्वशक्तिमान ईश्वर लीला कर रहे हो। यदि तुम पार्श्व अभिनय करना चाहते हो और किसी भिक्षुक की भूमिका अदा करना चाहते हो, तो (अपनी उस चाह के लिए किसी अन्य को दोष) नहीं दे सकते। भिक्षुक बनने में तुमको रस मिल रहा है। तुम अपने वास्तविक स्वभाव को जानते हो (दिव्य बनना)। तुम हो तो राजा और स्वांग रचते हो भिखमंगे का।....यह सब खिलवाड़ है। इसे जानो और लीला करो। इसका बस यही मर्म है। तब इसे करो। सारा जगत् विराट लीला है। सब कुछ अच्छा है, क्योंकि सब खिलवाड़ है। यह नक्षत्र टूटता है और हमारी पृथिवी से टकराता है, और हम सब मर जाते हैं। (यह भी खिलवाड़

---

2. ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

है।) जिन क्षुद्र वस्तुओं से तुम्हारी इन्द्रियों को सुख मिलता है, उन्हीं को तुम खिलवाड़ मानते हो !....

(हम लोगों से कहा जाता है कि) यहां एक अच्छा देवता और वहां एक खराब देवता है, जो बराबर इस ताक में रहता है कि मुझसे ज्योंही कोई भूल हो त्योंही मुझे दबोच ले....। जब मैं बालक था, तो मुझ से किसी ने कहा कि भगवान् सब कुछ देखता है। मैं बिस्तरे पर सोया तो ऊपर निहारने लगा और इस आशा में था कि कमरे की छत खुलेगी। (हुआ कुछ नहीं।) हमारे अलावा दूसरा कोई हमें नहीं देख रहा है। अपनी (आत्मा के) अतिरिक्त और कोई प्रभु नहीं; हमारी अनुभूति के अतिरिक्त और कोई प्रकृति नहीं। आदत हमारी दूसरी प्रकृति है; वही पहली प्रकृति भी है। बस प्रकृति का अर्थ यही है। मैं (किसी चीज को) दो या तीन बार दुहराता हूं, वह मेरी प्रकृति बन जाती है। दु:खी न हो ! पश्चात्ताप न करो ! जो हो गया, सो हो गया। यदि तुम अपने को जलाओगे (तो उसका फल भोगोगे)।

....समझदार बनो। हम भूल करते हैं, इससे क्या ? यह सब तो खिलवाड़ में है। अपने पूर्वकृत पापों पर वे पागल से होकर कराहते हैं, रोते हैं और क्या-क्या करते हैं। पश्चात्ताप मत करो ! काम कर लेने के बाद उसे ध्यान में मत लाओ। बढ़े चलो ! रुको मत। पीछे मुड़कर मत देखो ! पीछे देखने से लाभ क्या होगा ? तुमको न तो कुछ हानि होती है और न लाभ। तुम मक्खन की भांति गलने नहीं जा रहे हो। स्वर्ग और नरक और शरीर-धारण--सब मूर्खतापूर्ण !

कौन पैदा होता है और कौन मरता है ? तुम खिलवाड़ कर रहे हो। लोकों के साथ लीला कर रहे हो, आदि। तुम जब तक चाहते हो, तब तक इस शरीर को धारण करते हो। यदि इसे नहीं चाहते, तो इसे धारण भी नहीं करते। जो पूर्ण है, वह सत् है; जो अपूर्ण है, वह लीला है। पूर्ण शरीर और अपूर्ण शरीर दोनों की एक में प्रतिष्ठा तुम्हारे रूप में हुई है। इसे जानो ! किन्तु जानने से कोई अन्तर न पड़ेगा, लीला होती रहेगी।....दो शब्दों--आत्मा और शरीर--का संगम हुआ है। (अधूरा) ज्ञान इसका कारण है। समझो कि तुम नित्य मुक्त हो। ज्ञानाग्नि सभी (मलों और सीमाओं) को भस्म कर देती है। मैं वही पूर्ण हूं।....

आरम्भ में तुम जितने मुक्त थे, उतने ही अब भी हो और सदा रहोगे। जो अपने को मुक्त जानता है, वह मुक्त है; जो अपने को बंधन में समझता है, वह बंधन में है।

ईश्वर और उपासना आदि का क्या होगा ? उनका अपना स्थान है। मैंने अपने को ईश्वर और अहं में विभक्त कर रखा है; मैं उपास्य बन जाता हूं और मैं अपनी

ही उपासना करता हूं। क्यों न हो ? 'अहं ब्रह्मास्मि'। अपनी ही आत्मा की उपासना क्यों न की जाय ? परमेश्वर–वह भी मेरी आत्मा है। यह सब खिलवाड है; इसका और कोई अभिप्राय नहीं है।

जीवन का अन्त और उद्देश्य क्या है ? कुछ नहीं, क्योकि मैं (जानता हूं कि मैं पूर्ण हूं)। यदि तुम भिक्षुक हो, तो तुम्हारे उद्देश्य हो सकते हैं। मेरा कोई उद्देश्य नहीं, कोई चाह नहीं, कोई् अभिप्राय नहीं। मैं तुम्हारे देश में आता हूं, व्याख्यान देता हूं–केवल कौतुकवश। अन्य कोई अभिप्राय नहीं। क्या अभिप्राय हो सकता है ? केवल दास दूसरों के लिए काम करते हैं। तुम किसी अन्य के लिए कर्म नहीं करते। जब तुम्हारे अनुकूल होता है तो तुम पूजा करते हो। तुम ईसाइयों, मुसलमानों, चीनियों और जापानियों के साथ शरीक हो सकते हो। तुम प्राचीनकाल के सभी देवताओं की और भविष्य के भी किसी देवता की उपासना कर सकते हो। .

मै सूर्य, चन्द्र और तारों में हूं। मैं परमात्मा के साथ हूं और सभी देवों में हूं, मैं अपनी आत्मा की पूजा करता हूं।

इसका दूसरा पक्ष भी है। मैंने इसे रोक रखा है। मैं वह आदमी हूं जो फांसी पर चढने जा रहा है। मै महादुष्ट हूं। मै नरकों में दंड भोग रहा हूं। वह (भी) लीला है। दर्शन का यही लक्ष्य है (यह जानना कि मैं पूर्ण हूं)। उद्देश्य, नीयत, अभिप्राय और कर्तव्य सब पृष्ठभूमि में रहते हैं। ...

यह सत्य पहले श्रवणीय है, फिर मननीय है। बुद्धि से विचार करो और तर्क की कसौटी पर उसे अच्छी तरह कसो। जो सम्बद्ध हैं, वे उससे अधिक नहीं जानते। इसे तुम निश्चित मानो कि तुम सर्वव्यापी हो। इसी कारण तुम किसी को कष्ट मत दो, क्योकि दूसरों को कष्ट देने में तुम स्वयं अपने को कष्ट देते हो। . अन्ततः यह मननीय है। इस पर मनन करो। क्या तुमको यह बोध हो सकता है कि एक समय ऐसा आयेगा, जब प्रत्येक वस्तु चकनाचूर होकर धूल में मिल जायगी और केवल तुम्हारी सत्ता रह जाएगी ? उस समय का निरतिशय आनन्द तुमसे कभी दूर न होगा। तब सचमुच तुमको प्रतीत होगा कि तुम विदेह हो। शरीर तुम्हारे कभी न थे।

अनन्तकाल में मै एक और अकेला हूं। मैं किससे डरूं ? सब कुछ तो मैं ही हूं। इसका निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। उसके द्वारा साक्षात्कार होता है। ईश्वर-साक्षात्कार द्वारा तुम दूसरों के लिए (आशीर्वाद) बन जाते हो। ...

तेरा मुखमंडल उस व्यक्ति के (मुखमंडल की) तरह चमक रहा है, (जो) ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।'–(छान्दोग्योपनिषद्।।4।9।2।।) यही लक्ष्य है। मेरी तरह यह उपदेश देने की वस्तु नहीं है। 'एक वृक्ष के नीचे मैंने षोडश वर्षीय बालक

गुरु को देखा, शिष्य अस्सी वर्ष का वृद्ध था। गुरु मौन भाव से शिक्षा दे रहा था और शिष्य के संशय मिट गये।'-(दक्षिणामूर्तिस्तोत्रम्।। 12।।) तब कौन बोलता है ? सूर्य को देखने के लिए कौन दीप जलाता है ? जब तत्त्व (ज्ञान) होता है, तब साक्षी की आवश्यकता नहीं पडती। तुम जानते हो।....वही तो तुम करने जा रहे हो....तत्त्वज्ञान। पहले उसका चिन्तन करो। तर्क करो। अपनी जिज्ञासा सन्तुष्ट करो। तब किसी भी अन्य वस्तु का चिन्तन न करो। मैं तो चाहता हूं, हम कुछ न पढ़ें। प्रभो ! हम सबकी सहायता करो ! जरा देखो कि (विद्वान्) पुरुष क्या बन जाता है।

'यह कहा जाता है, वह कहा जाता है।'

'तुम क्या कहते हो, मेरे मित्र ?'

'मैं कुछ नहीं कहता।' वह तमाम दूसरों के विचारों को उद्धृत करता है, पर स्वयं कुछ नहीं सोचता। यदि यही शिक्षा है, तो पागलपन क्या है ? सभी लेखकों पर ध्यान दो !....ये आधुनिक लेखक, अपने दो वाक्य भी नहीं ! सब उद्धरण।....

पुस्तकों की सामग्री का अधिक मूल्य नहीं, और (उच्छिष्ट) धर्म में तो कुछ भी मूल्य नहीं है। वह तो भोजन करने जैसा है। तुम्हारे धर्म से मुझे सन्तोष न होगा। ईसा और बुद्ध ने भगवान् का दर्शन किया। यदि तुमने भगवान् को नहीं देखा, तो तुम नास्तिक से अच्छे नहीं। अन्तर यह है कि वह तो चुप रहता है और तुम बकवास कर उससे दुनिया में झमेला मचाते हो। ग्रंथों, बाइबिलों और धर्म शास्त्रों से कोई लाभ नहीं। जब बालक था, मैं एक वृद्ध से मिला, (उन्होंने कोई शास्त्र नहीं पढ़ा था, लेकिन स्पर्श मात्र से मुझमें ईश्वर-सत्य का संचार कर दिया)।

विश्व के उपदेशको, तुम मौन हो जाओ। ग्रंथो, तुम चुप हो जाओ। प्रभु, तू ही बोल और तेरा सेवक सुनता है। यदि सत्य न होता, तो जीवन का क्या प्रयोजन ? हम सभी सोचते हैं कि पा जाएंगे, पर पाते नहीं। हममें से अधिकांश के हाथ धूल लगती है। ईश्वर नहीं मिलता। यदि ईश्वर ही न मिला, तो जीवन किस काम का ? क्या जगत् में कोई विश्रामस्थल है ? (उसका पता लगाना हमारा काम है), लेकिन इसमें कमी यह है कि हम (उसकी गहरी खोज) नहीं करते। (हम) मझधार में पड़े बहते हुए तिनके के समान (हैं)।

यदि यहां यह सत्य है, यदि यहां ईश्वर है, तो उसे निश्चय ही हमारे हृद्देश में होना चाहिए। (यह कहने में मुझे निश्चय समर्थ होना चाहिए), "मैंने उसे अपनी आंखों से देखा है।" अन्यथा मेरा कोई धर्म नहीं है। विश्वास, धार्मिक व्यवस्थाएं, धर्मादेश धर्म की रचना नहीं करते। तत्त्वज्ञान, ईश्वर का साक्षात्कार (यही धर्म है)। जिन्हें दुनिया पूजती है, उस सब पुरुषों का गौरव क्या है ? (उनके लिए) ईश्वर कोई

धार्मिक व्यवस्था नहीं था। (क्या उनका विश्वास इसलिए था) कि उनके पितामह विश्वास करते थे ? नहीं। शरीर, मन तथा अन्य सबसे परे जो परमेश्वर है, उसका उन्हें बोध हुआ। जिस किंचित् अंश तक यह संसार उस परमेश्वर से प्रतिबिम्बित है, उस अंश तक वह सत् है। हम साधु पुरुष से प्रेम करते हैं, क्योंकि उनके मुखमण्डल में वह प्रतिबिम्ब कुछ अधिक चमकता है। हमें उसको स्वयं ग्रहण करना चाहिए। दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

यही लक्ष्य है। इसके लिए पुरुषार्थ करो ! तुम अपने पास अपनी निजी बाईबिल रखो। अपना निजी ईसा रखो। अन्यथा तुम धार्मिक नहीं हो। धर्म की बातें मत करो। लोग गप्पें हांकते रहते हैं। 'उनमें से कुछ, अन्धकार में पड़े रहकर, अपने गर्वीले हृदय में सोचते हैं, कि उन्हें प्रकाश मिल गया। (इतना) ही नहीं, वे दूसरों का बोझ अपने कंधों पर ले लेते हैं और दोनों गड्ढे में गिरते हैं।'—(कठोपनिषद्।। 1। 2। 5।।)

कोई धर्म संघ स्वयं अकेले कभी उद्धार नहीं कर पाया। किसी मन्दिर में पैदा होना अच्छा है, लेकिन धिक्कार है मन्दिर या गिरजाघर में मरनेवाले को। उससे बाहर आ जाओ।.. .श्रीगणेश शुभ था, पर उसे छोडो। वह बाल्य-काल का स्थान था ....लेकिन उसे रहने दो !...परमेश्वर के पास सीधे पहुंचो। कोई सिद्धान्त नहीं, कोई मतवाद नहीं। 'तभी सब संशय छिन्न होंगे। तभी सारी कुटिलता सीधी हो जाएगी।'—(मुण्डकोपनिषद्।। 2। 2। 8।।)

'नानात्व में जो उस एक का दर्शन करता है, अनन्त मृत्यु में जो उस एक जीवन को देखता है, बहुलता के बीच जो अपनी अन्तरात्मा में उस अव्यय को देखता है—उसी को शाश्वत शान्ति मिलती है।'—(कठोपनिषद्।। 2। 2। 13।।)

लक्ष्य – (2)

द्वैतवाद ब्रह्म और प्रकृति को नित्य पृथक् मानता है; जगत् और प्रकृति ब्रह्म के नित्य आश्रित हैं।

चरम अद्वैतवादी इस प्रकार का भेद नहीं करते। उनका दावा है कि अन्तिम विश्लेषण में सब ब्रह्म हैं; जगत् ब्रह्म में अध्यस्त हो जाता है; ब्रह्म जगत् का नित्य जीवन है।

उनके लिए अनन्त तथा सान्त केवल शब्द मात्र है। जगत्, प्रकृति आदि का अस्तित्व भेद-वृत्ति के कारण है। प्रकृति स्वयं भेद-वृत्ति है।

इस प्रकार के प्रश्न कि, 'ब्रह्म ने इस जगत् की सृष्टि क्यों की ?' 'पूर्ण ने अपूर्ण की सृष्टि क्यों की ?' आदि का कभी उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि इस प्रकार के प्रश्न तार्किक दृष्टि से असंगत हैं। युक्ति का अस्तित्व प्रकृति में है। उसके परे उसका अस्तित्व नहीं। ईश्वर सर्वशक्तिमान है, इसलिए यह पूछना कि उसने ऐसा क्यों किया, उसको सीमित बनाना हुआ; क्योंकि यह अन्तर्निहित है कि जगत् की सृष्टि करने में उसका कोई अभिप्राय है। यदि उसका कोई अभिप्राय है, तो वह किसी साध्य का साधन होगा और इसका अर्थ यह होगा कि साधन के बिना उसके पास साध्य नहीं हो सकता। किसी ऐसी ही वस्तु के लिए क्यों तथा किसलिए का प्रश्न पूछा जा सकता है, जो किसी अन्य वस्तु पर आश्रित हो।

वेदान्त पर टिप्पणियां

विभिन्न वेदों में समाहित, मनन-प्रवण, उद्‌भावना-शक्ति एवं नैतिकता की शिक्षा पर हिन्दू धर्म के आधार-भूत सिद्धान्त स्थापित हैं। वेद इस बात पर बल देते हैं कि जगत् विस्तार में अनन्त है और उसकी सत्ता शाश्वत है। उसका न तो कभी आरम्भ हुआ और न कभी अन्त होगा। जड-जगत् में आत्मा की शक्ति की और ससीम के क्षेत्र में असीम की शक्ति की असंख्य अभिव्यक्तियां हुई हैं, परन्तु स्वयं असीम स्वयंभू, शाश्वत और अपरिवर्तनशील है। कालक्रम शाश्वत की काया पर कोई चिह्न नहीं छोडता। ज्ञान की अति संवेद्य भूमिका मे, जो मानव बुद्धि के नितांत परे है, न भूत है, न भविष्यत्।

वेद हमें बताते है कि मनुष्य की आत्मा अमर है। जन्म-मरण शरीर के धर्म हैं–जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु निश्चित है (जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः)। लेकिन प्रत्यगात्मा असीम और शाश्वत जीवन से सम्बन्धित है, न तो उसका आदि है और न अन्त। वैदिक तथा ईसाई धर्म में एक प्रमुख अन्तर यह है कि ईसाई धर्म के अनुसार इस दुनिया मे पैदा होने पर हर जीवात्मा का आरम्भ होता हैं; जब कि वैदिक धर्म दावे के साथ कहता है कि जीवात्मा उस सनातन परमात्मा से ही निःसृत हुआ है और उसी की भांति जन्म-मरण से परे है। देहान्तरप्राप्ति द्वारा इस आत्मा की असंख्य अभिव्यक्तियां हो चुकी हैं और असंख्य अभिव्यक्तियां होंगी। यह क्रम तब तक आध्यात्मिक विकास के उस महान् नियम के अनुसार चलता रहेगा, जब तक वह पूर्णत्व तक नहीं पहुंच जाती। तब फिर कोई परिवर्तन न होगा।

आधुनिक संसार पर वेदान्त का दावा

(रविवार, 25 फरवरी, सन् 1900 ई० को ओकलैण्ड में दिये गये व्याख्यान की 'दी ओकलैण्ड एनक्वायरर' की सम्पादकीय टिप्पणी सहित रिपोर्ट)

स्वामी विवेकानन्द जी ने ओकलैण्ड के यूनिटैरियन चर्च में 'पार्लियामेन्ट ऑफ रिलिजन्स' के अन्तर्गत अपार जनसमूह के समक्ष भाषण दिया। चर्च में स्वामीजी के भाषण को सुननेवालों की इतनी भीड़ थी कि लोगों को बजाए बैठने के, खड़े होने को भी जगह नहीं बची थी। चर्च के सभी कमरे व वेंड्ट हॉल खोल दिये गये थे तो भी श्रोतागण उसमें नहीं आ पा रहे थे। स्वामीजी ने 'आधुनिक संसार पर वेदान्त का दावा' विषय में अपना प्रभावशाली व उल्लेखनीय भाषण दिया। भाषण के समय श्रोतागणों के द्वारा बार-बार हर्ष ध्वनि हुई। भाषण की समाप्ति पर स्वामी श्रोतागणों से भी मिले। स्वामी का अंशतः भाषण इस प्रकार है : –

आधुनिक संसार से वेदान्त अपेक्षा करता है कि वह उस पर विचार करे। मानव-जाति की महत्तम संख्या इसके प्रभाव की परिधि में है। भारत में इसके अनुयायियों पर बारम्बार कोटि-कोटि लोगों ने दावा किया है और अपनी प्रचंड-शक्ति से उन्हें कुचला है, फिर भी यह धर्म जीवित है।

संसार के सभी राष्ट्रों में क्या इस प्रकार का दर्शन मिल सकता है ? इसकी छत्र-छाया में आने के लिए अन्य दर्शन उत्पन्न हुए हैं। कुकुरमुत्तों की भांति उनकी उत्पत्ति हुई है, आज के जीवित है तथा लहलहा रहे हैं और कल वे विलुप्त हो गये हैं। क्या यह योग्यतम के ही जीवित बच रहने की बात नहीं है ?

यह ऐसा दर्शन है, जो अभी पूर्ण नही है। हजारों वर्षो से वह विकसित हो रहा है और आज भी वर्द्धमान है। इसलिए एक घण्टे के थोड़े समय में मैं जो कुछ कहूंगा, उससे तुम्हारे समक्ष एक आभास मात्र ही प्रस्तुत कर सकता हूं

पहले मैं तुमको वेदान्त के उदय का इतिहास बताऊंगा। इसके उद्‌भव के पूर्व ही भारत ने एक धर्म को पूर्ण विकसित कर लिया था। उसके स्थिर होने की प्रक्रिया

बहुत वर्षों से चल रही थी। विधि-विधानपूर्ण संस्कार पहले से ही मनाये जाने लगे थे। आश्रम-धर्म की आचार-पद्धति परिपक्व हो चुकी थी। लेकिन कालान्तर में अनेक धर्मों में आडम्बरपूर्ण कर्मकाण्ड और हास्यास्पद कुरीतियां घुस ही जाती है। इनके विरुद्ध विद्रोह हुआ और महान् पुरुष वेदों के माध्यम से सत्य धर्म का उद्‌घोष करने के लिए आगे आये। हिन्दुओं ने इन्हीं वेदों के प्रकटीकरण से अपना धर्म पाया। उन्हें बताया गया कि वेद अनादि और अनन्त हैं। इस श्रोतामण्डली को यह हास्यास्पद प्रतीत हो सकता है – एक ग्रंथ अनादि-अनन्त कैसे हो सकता है; किन्तु वेदों से आशय किन्हीं ग्रंथों का नहीं है। उनका अर्थ है आध्यात्मिक नियमों का संचित कोष, जिनकी खोज विभिन्न व्यक्तियों ने विभिन्न कालों में की।

जब तक इन पुरुषों का आविर्भाव नहीं हुआ था, तब तक लोगों में यह आम धारणा थी कि ईश्वर जगत् का शास्ता है और मनुष्य अमर है। लेकिन वहीं वे रुक गये। ऐसा समझा जाने लगा कि उससे और अधिक कुछ नहीं जाना जा सकता। तभी वेदान्त के साहसी व्याख्याकारों का आविर्भाव हुआ। वे जानते थे कि बच्चों के लिए जो धर्म अभिप्रेत है, वह विचारकों के लिए उपयोगी नहीं हो सकता और मनुष्य तथा ईश्वर के विषय में कुछ और भी सत्य है।

नैतिक अज्ञेयवादी केवल बाह्य निर्जीव प्रकृति को ही जानता है। उसी से वह जगत् के नियम का निरूपण करने की चेष्टा करता है। उनकी चले तो वे मेरी नाक काट लें और कहें कि तुम्हारा पूरा शरीर बस यही है और उसी के समर्थन में बहस करें।

उसे अपने भीतर देखना चाहिए। आकाश में जो नक्षत्र विचरण करते हैं, यहां तक कि ब्रह्माण्ड भी, बाल्टी में एक बूंद के समान है। तुम्हारा अज्ञेयवादी उस महत्तम को तो देखता नहीं और जगत् को देखकर भयभीत हो जाता है।

यह अध्यात्म जगत् सबसे बढकर है। विश्वेश्वर जो शासन करता है – हमारा पिता, हमारी माता। संसार कहा जानेवाला यह अबोधों का कर्मकाण्ड है क्या ? सर्वत्र दुःख ही दुःख है। ओठों पर क्रन्दन लेकर शिशु जन्म लेता है; वही उसका प्रथमोच्चार है। यही शिशु प्रौढ व्यक्ति बन जाता है और दुःखों का ऐसा अभ्यस्त हो जाता है कि हृदय की वेदना ओठों पर मुसकान से छिपी रहती है।

इस संसार का हल कहां है ? जिनकी दृष्टि बहिर्मुख है, वे उसे कभी नहीं पा सकते; उन्हें दृष्टि को अन्तर्मुख कर सत्य का पता लगाना चाहिए। धर्म का निवास अभ्यंतर में है।

एक व्यक्ति उपदेश देता है कि यदि तुम अपना सिर काट डालो, तो तुम्हारा उद्धार हो जाएगा। पर क्या उसे कोई अनुयायी मिलता है ? स्वयं तुम्हारे ईसा का कथन

है, 'गरीबों को सब कुछ दे दो और मेरा अनुसरण करो।' तुम लोगों में से कितनों ने ऐसा किया है ? तुमने इस आदेश का पालन नहीं किया है, फिर भी ईसा तुम्हारे धर्म के महान् गुरु हैं। तुममें से प्रत्येक अपने जीवन में व्यावहारिक हो, लेकिन यह तुमको अव्यावहारिक लगता है।

परन्तु वेदान्त तुम्हारे समक्ष कोई ऐसी वस्तु नहीं रखता, जो अव्यावहारिक हो। प्रयोग-कार्य के लिए प्रत्येक विज्ञान के पास अपनी सामग्री होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को कुछ विशेष परिस्थितियों और प्रचुर प्रशिक्षण तथा ज्ञानार्जन की आवश्यकता पडती है; किन्तु सड़क पर फिरनेवाला कोई जैक भी तुमको धर्म के बारे में सब कुछ बता सकता है। तुम धर्म का अनुसरण करना चाह सकते हो और किसी विशेषज्ञ का अनुसरण कर सकते हो, लेकिन जैक से केवल उस पर बातें ही कर सकते हो, क्योंकि वह इस पर सिर्फ बातें ही कर सकता है।

तुम जैसा विज्ञान के प्रति करते हो, वैसा ही तुमको धर्म के प्रति करना चाहिए। तथ्यों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आओ, और उस नींव पर आश्चर्यजनक भवन का निर्माण कर डालो।

सच्चा धर्म पाने के लिए तुम्हारे पास साधन अवश्य होने चाहिए। विश्वास का प्रश्न नहीं उठता; श्रद्धा से तुम कुछ बना नही सकते, क्योंकि विश्वास तो तुम कुछ भी कर सकते हो।

विज्ञान में हम यह जानते हैं कि जब हम वेग बढ़ाते हैं, तब पदार्थ-पिंड घट जाता है, और ज्यों-ज्यों पदार्थ-पिंड बढ़ाते हैं, त्यों-त्यों वेग घटता जाता है। इस प्रकार हमारे पास दो वस्तुएं हैं, पदार्थ और शक्ति। हमें मालूम नहीं कि पदार्थ कैसे शक्ति में विलीन हो जाता है और शक्ति पदार्थ में विलीन हो जाती है। इसलिए कोई एक ऐसी वस्तु है, जो न शक्ति है और न पदार्थ, क्योंकि ये दोनों एक-दूसरे में विलीन हो नहीं सकते। यह वही है जिसे हम मन कहते हैं – विश्व-मन।

तुम कहते हो कि तुम्हारा शरीर और मेरा शरीर भिन्न-भिन्न है। सार्वभौम मानव-जातिरूपी महासागर में मैं एक लघु भंवर मात्र हूं। सच है कि यह एक भंवर मात्र है, पर है उस बृहत् महासागर का ही एक भाग।

तुम ऐसे बहते जल के किनारे खड़े होते हो, जिसका प्रत्येक सीकर परिवर्तित हो रहा है और फिर भी उसे सरिता कहते हैं। जल बदल रहा है, यह सत्य है, लेकिन तट वे ही रहते हैं। मन नहीं बदल रहा है, परन्तु शरीर – कितने शीघ्र उसकी आकारवृद्धि ! मैं शिशु था, किशोर था, तरुण हूं और शीघ्र ही वृद्ध हो जाऊंगा, शरीर झुक जाएगा और जराग्रस्त हो जाऊंगा। शरीर परिवर्तित हो रहा है और तुम पूछते

हो कि क्या मन भी नहीं परिवर्तित हो रहा है ? जब में बालक था, तो सोचता था, मैं बृहत्तर हो गया हूं, क्योंकि मेरा मन संस्कारों का समुद्र है।

प्रकृति के पीछे एक विश्व-मन है। जीवात्मा एक इकाई मात्र है और वह जड़ वस्तु नहीं है। क्योंकि मनुष्य जीवात्मा है। 'मृत्यु के उपरान्त आत्मा कहां जाती है?' इस प्रश्न का उत्तर वैसे ही देना चाहिए, जैसे जब कोई लड़का पूछता है, 'पृथिवी नीचे क्यों नहीं गिर जाती ?' प्रश्न एक जैसे हैं और उनके हल भी एक से, हैं; क्योंकि आत्मा जा कहां सकती है ?

तुम जो अमरता की बात करते हो, तो मैं तुमसे कहूंगा कि जब घर जाओ तो यह कल्पना करने का प्रयत्न करो कि तुम मृत हो। द्रष्टा बनकर मृत शरीर का स्पर्श करो। तुम कर नहीं सकते, क्योंकि तुम अपने से बाहर नहीं निकल सकते। प्रश्न अमरत्व के विषय में नहीं है, बल्कि यह है कि मृत्यु के उपरान्त जैक अपनी जेनी से मिल सकता है या नहीं।

धर्म का एक भारी रहस्य यह स्वयं जानना है कि तुम आत्मा हो। यह प्रलाप मत करो, 'मैं कीट हूं, अकिंचन हूं !' कवि यों कहता है, 'मैं सत्ता हूं, ज्ञान हूं और सत्य हूं।' कोई आदमी दुनिया में यह कहकर कुछ भला नहीं कर सकता, 'मैं उसके पापियों में से एक हूं।' जितने ही अधिक तुम पूर्ण होगे, उतनी ही कम अपूर्णता देखोगे।

मनुष्य अपना भाग्य-विधाता

स्वामीजी ने बताया कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है। इस बारे में उन्होंने दक्षिण भारत के एक शक्तिशाली राजघराने का उदाहरण प्रस्तुत किया। इस घराने के मुख्य व्यक्ति जन्म कुंडलियों की जन्मकाल से गणना करते थे फिर अपने द्वारा की गणना से भविष्यवाणियां करते थे, और भविष्य में होनेवाली घटनाओं से अपनी भविष्यवाणियों का मिलान करते थे। सहस्त्र वर्ष पर्यन्त यह उस समय तक किया गया, जब उन्हें कतिपय सर्वसम्मत तथ्य मिल गये। फ़िर उन्हें नियमबद्ध किया गया और लिख लिया गया और एक बृहत् ग्रंथ रच डाला गया। राजवंश नष्ट हो गया, लेकिन ज्योतिषियों का कुल बना रहा और ग्रंथ उनके पास रहा। यह सम्भव प्रतीत होता है कि इस प्रकार से फलित ज्योतिष का आविर्भाव हुआ। फलित ज्योतिष की सूक्ष्म बातों में भी अत्याधिक ध्यान देना, उन अंधविश्वासों में से एक है, जिससे हिन्दुओं को अत्याधिक क्षति पहुंची है।

मेरा ख्याल है कि सर्वप्रथम यूनानी भारत में फलित ज्योतिष लाये और उन्होंने हिन्दुओं से ज्योतिर्विज्ञान (गणित ज्योतिष) सीखा तथा उसे अपने साथ यूरोप ले गये। चूंकि भारत में तुमको प्राचीन यज्ञवेदियां ज्यामिति की कुछ विशेष आकृतियों के अनुसार मिलेंगी और कुछ कार्य नक्षत्रों की विशेष स्थिति में ही किये जाते थे, इसलिए मेरा ख्याल है कि यूनानियों ने हिन्दुओं को फलित ज्योतिष और हिन्दुओं ने यूनानियों को ज्योतिर्विज्ञान दिया।

मैंने कुछ ऐसे ज्योतिषियों को देखा है, जो आश्चर्यजनक भविष्यवाणियां करते हैं, लेकिन यह विश्वास करने के लिए मेरे पास कोई कारण नहीं है कि वे केवल ग्रहों के या वैसी किसी वस्तु के आधार पर भविष्यवाणी करते हैं कुछ दृष्टातों में तो भविष्यवाणी केवल दूसरे के मन के भावों को पढ़ लेना मात्र रहता है। कभी-कभी आश्चर्यजनक भविष्यवाणियां की जाती हैं, परन्तु अनेक दृष्टातों में ये बिलकुल बेकार होती है।

लंदन में एक युवक मेरे पास आकर पूछा करता था, "अगले साल मेरी दशा कैसी होगी ?'' मैंने प्रश्न किया कि तुम मुझसे ऐसा क्यों पूछते हो। "मेरे सब पैसे

नष्ट हो गये और मै निर्धन हो गया हूं।'' पैसा ही बहुतेरे लोगों का एकमात्र ईश्वर होता है। निर्बल व्यक्ति, जब सब गंवाकर अपने को कमजोर महसूस करते हैं, तब पैसे बनाने की बेसिर-पैर की तरकीबें अपनाते हैं और ज्योतिष एवं इन सब चीजों का सहारा लेते है। संस्कृत में कहावत है : 'जो का पुरुष और मूर्ख है, वह कहता है यह भाग्य है।' लेकिन वह बलवान पुरुष है, जो खड़ा हो जाता है और कहता है, 'मै अपने भाग्य का निर्माण करूंगा।' जो लोग बूढे होने लगते है, वे भाग्य की बातें करते है। साधारणत: जवान आदमी ज्योतिष का सहारा नहीं लेते। हम लोग ग्रहों के प्रभाव में हो सकते हैं, लेकिन इसका हमारे लिए अधिक महत्व नहीं है। बुद्ध का कहना है, 'जो लोग नक्षत्रों की गणना या उस प्रकार की कला और अन्य मिथ्या-प्रपंचों से जीविकोपार्जन करते हैं, उन्हें दूर रखना चाहिए।' और उनको इसका यथार्थ ज्ञान होना ही चाहिए, क्योंकि आज तक जितने हिन्दू जन्में हैं, उनमें वह सबसे महान् थे। नक्षत्रों को आने दो, हानि क्या है ? यदि कोई नक्षत्र मेरे जीवन में उथल-पुथल करता है, तो उसका मूल्य एक कौडी भी नहीं है। तुम अनुभव करोगे कि ज्योतिष और ये सब रहस्यमयी वस्तुएं बहुधा दुर्बल मन की द्योतक हैं; इसलिए जब हमारे मन में इनका उभार हो, तब हमे किसी डॉक्टर के यहां जाना चाहिए, उतम भोजन ग्रहण करना चाहिए और विश्राम करना चाहिए।

यदि किसी गोचर घटना की व्याख्या उसकी प्रकृति के ही घटकों से हो जाती है, तो बाहर से कोई व्याख्या ढूंढना मूर्खता है। अगर संसार स्वयं ही अपनी व्याख्या कर दे, तो व्याख्या के लिए बाहर जाना मूर्खता है। क्या तुमने किसी मनुष्य के जीवन में कोई भी ऐसी घटना देखी है, जिसकी व्याख्या स्वयं मनुष्य के सामर्थ्य के भीतर न हो ? इसलिए ग्रह-नक्षत्रों या दुनिया की अन्य किसी वस्तु को टटोलने से क्या लाभ? मेरी वर्तमान अवस्था के स्पष्टीकरण के लिए मेरा निज का कर्म पर्याप्त है। साक्षात् ईसा पर भी यही लागू होता है। हम जानते हैं कि उनके पिता एक बढ़ई मात्र थे। उनकी शक्ति की व्याख्या कराने के लिए हमें दूसरे किसी के पास जाने की आवश्यकता नहीं है। वह अपने ही अतीत के परिणाम थे, और वह समग्र अतीत उस ईसा के लिए तैयार था। बुद्ध एक-एक कर पशु-योनियों के अपने पूर्व शरीरो का हाल बताते हैं और कहते हैं कि अन्त में वह कैसे बुद्ध बने। इसलिए व्याख्या के लिए ग्रह-नक्षत्रों के पास जाने की क्या आवश्यकता है ? उनका कुछ प्रभाव हो सकता है, किन्तु उनकी उपेक्षा कर देना हमारा कर्त्तव्य है, न कि उनकी सुनना और अपने को उद्विग्न करना। मै जो भी शिक्षा देता हूं, उसके लिए यह मेरी पहली अनिवार्य शर्त है – जिस किसी वस्तु से आध्यात्मिक, मानसिक या शारीरिक दुर्बलता उत्पन्न हो, उसे पैर की अंगुलियो से

भी मत छुओ। मनुष्य में जो स्वाभाविक बल है, उसकी अभिव्यक्ति धर्म है। असीम शक्ति का स्प्रिंग इस छोटी सी काया में कुंडली मारे विद्यमान है और वह स्प्रिंग अपने को फैला रहा है; और ज्यों-ज्यों यह फैलता है, त्यों-त्यों एक के बाद दूसरा शरीर अपर्याप्त होता जाता है; वह उनका परित्याग कर उच्चतर शरीर धारण करता है। यही है मनुष्य का धर्म, सभ्यता या प्रगति का इतिहास। वह भीमकाय बद्धपाश प्रोमीथियस[1] अपने को बंधन-मुक्त कर रहा है। यह सदैव बल की अभिव्यक्ति है और फलित ज्योतिष जैसी समस्त कल्पनाओं को, यद्यपि उनमें सत्य का एक कण हो सकता है, दूर ही रखना चाहिए।

किसी ज्योतिषी के बारे में एक प्राचीन कथा है कि एक राजा के यहां जाकर उसने कहा, "छः महीने में आपकी मृत्यु हो जाएगी।" राजा डरकर हतबुद्धि हो गया और भयवश वहीं तत्काल प्रायः मरणासन्न हो गया। किन्तु उसका मन्त्री चतुर व्यक्ति था। उसने राजा से कहा कि ये ज्योतिषी मूर्ख होते हैं। उस पर राजा का विश्वास नहीं जमा। इससे मन्त्री को इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपास न सूझा कि वह ज्योतिषी को राजप्रासाद में पुनः बुलाये और राजा को समझाये कि ये ज्योतिषी मूर्ख होते हैं। तब उसने उससे पूछा कि क्या तुम्हारी गणना सही है। ज्योतिषी ने कहा कि कोई गलती नहीं हो सकती। परन्तु मन्त्री को संतुष्ट करने के लिए उसने पूरी गणना फिर से की और तब कहा कि वह बिलकुल ठीक है। राजा का चेहरा फीका पड़ गया। मन्त्री ने ज्योतिषी से पूछा, "और आपकी मृत्यु कब होगी, इसके बारे में आप क्या सोचते हैं?" "बारह वर्ष में", जवाब मिला। मन्त्री ने तलवार खींच ली और ज्योतिषी का सिर धड़ से अलग कर दिया और राजा से कहा, "इस मिथ्यावादी को तो आप देख रहे हैं? यह इसी क्षण मर गया।"

यदि तुम अपने राष्ट्र को जीवित रखना चाहते हो, तो इन सब चीजों से दूर रहो। शुभ वस्तुओं की एक ही परख यह है कि वे हमें सबल बनाती हैं। शुभ जीवन है, अशुभ मृत्यु है। तुम्हारे देश में ये अंधविश्वास कुकुरमुत्तों की भांति उग रहे हैं और जिन स्त्रियों में तार्किक विश्लेषण की योग्यता नहीं है, वे उन पर विश्वास करने के लिए उद्यत हैं। इसका कारण यह है कि स्त्रियां मुक्ति के लिए प्रयत्नशील हैं और स्त्रियां अभी तक बौद्धिक स्तर पर अपने को प्रतिष्ठित नहीं कर पायी हैं। एक महिला किसी उपन्यास के सिरे पर अंकित किसी कविता की कुछ पंक्तियों को कंठस्थ कर लेती है

---

1. प्रोमीथियस – यूनानियों का पौराणिक पुरुष विशेष, जिसने मृत्तिका से मनुष्य की रचना की, ओलिम्पस से चुरायी हुई अग्नि उन्हें दी, उन्हें कला आदि सिखाई और दण्ड रूप में जंजीर द्वारा एक चट्टान से बांधा गया।

और कहती है कि ब्राउनिंग के पूरे कृति का उसे ज्ञान है। दूसरी महिला तीन व्याख्यानो को सुनाती है और सोचती है कि दुनिया की सारी जानकारी उसको है। कठिनाई यह है कि महिलाओं मे जो स्वाभाविक अंधविश्वास होते है उनका परित्याग करने में वे असमर्थ है। उनके पास प्रचुर द्रव्य है और थोडी बौद्धिक विद्वत्ता भी, लेकिन जब वे इस संक्रमणकालीन अवस्था के पार हो जाएंगी और दृढ भूमि पर पांव जमा लेंगी, तब वे बिलकुल ठीक हो जाएगी। किन्तु अभी वे धूर्तो द्वारा ठगी जा रही है। दु:खी न हो; किसी का जी दु:खाना मेरा अभिप्राय नहीं है, लेकिन सत्य मुझे कहना है। क्या तुम देखते नहीं, इन सब वस्तुओ के लिए तुम कितने खुले हो ? क्या तुम देखते नहीं कि ये महिलाएं कितनी निश्छल है, और यह दिव्यता, जो सबमें गुप्त रूप से विद्यमान है, कभी नष्ट नहीं होती ? केवल यही जानना है कि उस दिव्यता के प्रति आवेदन किस प्रकार किया जाए।

मेरे जीवन की अवधि जितनी अधिक होती जाती है, दिनानुदिन उतना ही मेरा यह व्रिश्वास दृढतर होता जा रहा है कि प्रत्येक मानव दिव्य है। किसी भी स्त्री या पुरुष मे, चाहे वह कितना भी जघन्य क्यो न हो, वह दिव्यता विनष्ट नहीं होती। उस स्त्री या पुरुष को केवल इतना ही नहीं मालूम है कि वहां तक कैसे पहुंचा जाए और वह सत्य की प्रतीक्षा मे है; और दुष्ट जन सब प्रकार की बेवकूफियों से उस स्त्री या पुरुष को ठगने की कोशिश कर रहे हैं। यदि पैसे के लिए एक आदमी दूसरे को ठगता है तो तुम कहते हो कि वह बेवकूफ और बदमाश है। तो वह जो दूसरो को आध्यात्मिक मूर्ख बनाना चाहता है, उसकी यह कितनी और अधिक बडी दुष्टता है ! यह बहुत बुरा है। केवल एक ही कसौटी है, सत्य तुमको अवश्य बलवान बनायेगा और कुसंस्कार से ऊपर उठायेगा। दार्शनिक का कर्त्तव्य है कि वह तुमको अंधविश्वास से ऊपर उठाये। यहां तक कि यह संसार, यह शरीर और मन अंधविश्वास हैं। तुम हो कितनी असीम आत्मा ! और टिमटिमाते हुए तारों से छले जाना ! यह लज्जास्पद दशा है। तुम दिव्य हो; टिमटिमाते हुए तारों का अस्तित्व तो तुम्हारे कारण है।

एक बार मैं हिमालय के अंचल में यात्रा कर रहा था और सामने लंबी सडक का विस्तार था। हम गरीब साधुओं को कोई ढोनेवाला नहीं मिल सकता था, इसलिए पूरा मार्ग पैदल चलकर पार करना था। हम लोगों के साथ एक वृद्ध था। रास्ता सैकडों मील का है, जिसमें चढाव और उतार है और जब उस वृद्ध साधु ने देखा कि उसके सामने क्या है, तब उसने कहा, "ओह, महाशय, इसे कैसे पार किया जाए, मैं अब जरा भी नहीं चल सकता, मेरी छाती फट जाएगी।'' मैने उससे कहा, "नीचे अपने पांवों को देखिए।'' उसने ऐसा ही किया, और मैंने कहा "आपके पांवों के नीचे जो सडक

है, उसे आप पार कर चुके हैं और आपके सामने जो सड़क दिखायी पड़ रही है वह भी वही है; और वह भी शीघ्र आपके पांवों के नीचे आ जाएगी।'' उच्चतम वस्तुएं तुम्हारे पांवों के तले हैं, क्योंकि तुम दिव्य नक्षत्र हो। यदि तुम चाहो तो मुट्ठियों नक्षत्र चबा सकते हो। ऐसा है तुम्हारा वास्तविक स्वरूप। बलवान बनो, सब अंधविश्वासों से ऊपर उठो और मुक्त हो जाओ।

वेदान्त दर्शन और ईसाई मत
(28 फरवरी, सन् 1900 को यूनिटैरियन चर्च, ओकलैण्ड, कैलिफोर्निया में दिये गये व्याख्यान का लिखित विवरण)

सभी धर्म एक आपस में विस्मयकारी समानता होने के कारण एक-दूसरे की की नकल करते हैं। इसीलिए सभी धर्मों पर एक-दूसरे का अनुकरण करने का आरोप लगाया जा रहा है। आरोप लगाने के कारण निम्न तथ्यों से स्पष्ट हो रहे हैं : –

धर्म मानवता की आत्मा में ही आधारभूत रूप में है और चूंकि जो भीतर है, समस्त जीवन उसी का विकास है, इसलिए विभिन्न जातियों और राष्ट्रों के माध्यम से धर्म अपने को अनिवार्यत: प्रकट करता है।

आत्मा की भाषा एक है, राष्ट्रों की भाषाएं अनेक हैं, उनके रीति-रिवाज और जीवन-प्रणाली एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। धर्म आत्मा की वस्तु है और वह विभिन्न राष्ट्रों, भाषाओं तथा रीति-रिवाजों के माध्यम से अपने को प्रकट करता है। अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि विश्व के धर्मों में अंतर अभिव्यंजना का है, तत्व का नहीं, और उनमें जो समानता तथा एकरूपता है, वह आत्मा की है और उसमें अंतर्निहित है, क्योंकि आत्मा की भाषा, चाहे जिन राष्ट्रों तथा चाहे जिन परिस्थितियों में अपने को अभिव्यक्त करे, एक है। अनेक तथा विभिन्न प्रकार के वाद्ययन्त्रों से जो एक ही मधुर झंकार सुनायी पडती है, वही वहां भी झंकृत होती है।

विश्व के सभी महान् धर्मों की प्रथम समानता यह है कि सबका एक-एक प्रामाणिक ग्रंथ है। जिन धर्मों के पास ऐसा कोई ग्रंथ नहीं रहा, वे लुप्त हो गये। मिस्त्र के धर्मों की यही गति हुई। इसे हम यों कह सकते हैं कि प्रत्येक महान् धर्म का प्रामाणिक ग्रंथ अग्निकुंड का वह पत्थर है, जिसके चतुर्दिक् उस धर्म के अनुयायी एकत्र होते हैं और उससे उक्त धर्म की शक्ति एवं संजीवनी विकीर्ण होती है।

फिर, प्रत्येक धर्म का दावा है कि उसका अपना ग्रंथ ही प्रामाणिक ब्रह्मवाक्य है; अन्य सब धर्म ग्रंथ झूठे हैं और दीन-हीन मानव के विश्वास पर जबरदस्ती थोपे गये हैं, तथा अन्य धर्मों को मानना अज्ञानता एवं आध्यात्मिक अंधता है।

सभी धर्मों के कट्टरपंथियों में इस प्रकार की धर्मान्धता पायी जाती है। उदाहरणार्थ, कट्टर वैदिकमार्गियों का दावा है कि वेद ही ईश्वर का प्रामाणिक वचन है; ईश्वर ने वेदों के द्वारा ही विश्व को उपदेश दिया है; इतना ही नहीं, वरन् वेदों के ही प्रताप से यह लोक टिका है। विश्व की सृष्टि के पूर्व वेद थे। विश्व में सबका अस्तित्व इसलिए है कि वेदों में उनकी विद्यमानता है। गाय का अस्तित्व इसलिए है कि वेदों में गाय का नाम आया है, अर्थात् जिस पशु को हम गाय नाम से जानते हैं, उनका उल्लेख वेदों में है। वैदिक भाषा ईश्वर की आदि भाषा है; अन्य सभी भाषाएं केवल बोलियां हैं और वे ईश्वरीय नहीं हैं। वेदों के प्रत्येक शब्द और मात्रा का उच्चारण सही-सही करना चाहिए, प्रत्येक ध्वनि का स्वर ठीक होना चाहिए तथा इस कठोर शुद्धता का किंचित् भी स्खलन भयानक पाप है और अक्षम्य है।

इस प्रकार, ऐसी धर्मान्धता सभी धर्मों के कठमुल्लों में प्रबल रूप से व्याप्त है। लेकिन जो अनभिज्ञ हैं, जो आध्यात्मिक अंधे हैं, वे ही शब्दों के पीछे लड़ते हैं। जो लोग वास्तव में धार्मिक प्रवृत्ति के हो गये हैं, वे विभिन्न धर्मों के बाह्य शाब्दिक स्वरूप पर झगड़ा नहीं करते। वे जानते हैं कि सब धर्मों का प्राण एक ही है। परिणामस्वरूप, वे किसी से इस कारण झगड़ा नहीं करते कि वह उनकी भाषा नहीं बोलता।

वस्तुतः वेद विश्व के सबसे प्राचीन धर्म ग्रंथ हैं। कोई नहीं जानता कि वे कब लिखे गये और किसके द्वारा लिखे गये। वे कई खंडों में हैं और मुझे संदेह है कि कभी किसी एक व्यक्ति ने सभी वेदों को पढ़ा हो।

वैदिक धर्म हिन्दुओं का धर्म है और समस्त प्राच्य धर्मों का वह आधार है, अर्थात् सभी प्राच्य धर्म वेदों की शाखाएं हैं; पूर्व के सभी धार्मिक वेदों को प्रमाण मानते हैं।

ईसामसीह की वाणी में आस्था रखना और साथ ही यह मानना के उनकी वाणी का अधिकांश आज के युग में व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, युक्तिसंगत नहीं है। यदि तुम यह कहो कि जो उनके वचनों में आस्था रखते हैं, उनको सिद्धियां न मिल पाने का (जब कि ईसा ने कहा था कि वे मिलेंगी) कारण यह है कि उनमें पर्याप्त निष्ठा नहीं है और वे पर्याप्त पवित्र नहीं हैं – तो यह ठीक होगा। लेकिन यह कथन हास्यास्पद है कि वर्तमानकाल में वे अव्यवहार्य हैं।

मैंने ऐसा आदमी कभी नहीं देखा है, जो कम से कम मेरी बराबरी का न रहा हो। मैंने दुनिया भर की यात्रा की है; बुरे से बुरे लोगों के बीच गया हूं – नर भक्षियों के बीच भी – लेकिन मुझे कोई ऐसा आदमी नहीं दिखायी पड़ा, जो कम से कम मेरी बराबरी का रहा हो। वे जो आज कर रहे हैं, वह मैं कर चुका हूं – जब मैं मूर्ख था। उस समय मुझे उसकी अपेक्षा अधिक अच्छे का ज्ञान नहीं था, परन्तु अब है।

इस समय उन्हें उससे अधिक अच्छे का ज्ञान नहीं है, कुछ समय बाद उन्हें हो जाएगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करता है। हम सभी विकास की प्रक्रिया के मध्य है। इस दृष्टि से एक आदमी दूसरे की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ नहीं है।

प्रकृति और मानव

जगत् का जो भाग भौतिक स्तर पर अभिव्यक्त है वो भाग प्रकृति के अन्तर्गत आता है तथा जो प्रकृति के अन्तर्गत नहीं आता है उसे लोग साधारण मन कहते हैं।

इच्छा की स्वतन्त्रता सिद्ध करने के प्रयास में दार्शनिकों ने मन को प्रकृति से बाहर माना है। क्योंकि जब प्रकृति कठोर और दृढ़ नियम से बंधी और शासित है, तब मन को यदि प्रकृति के अन्तर्गत माना जाए, तो वह भी नियमों से बंधा होना चाहिए। इस प्रकार के दावे से इच्छा की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त ध्वस्त हो जाता है, क्योंकि जो नियम में बंधा है, वह स्वतन्त्र कैसे हो सकता है ?

भारतीय दार्शनिकों का मत इसके विपरीत है। उनका मत है कि सभी भौतिक जीवन, चाहे वह व्यक्त हो अथवा अव्यक्त, नियम से आबद्ध है। उनका दावा है कि मन तथा बाह्य-प्रकृति दोनों नियम से, एक तथा समान नियम से आबद्ध है। यदि मन नियम के बंधन में नहीं है, हम जो विचार करते हैं, वे यदि पूर्व विचारों के परिणाम नहीं हैं, यदि एक मानसिक अवस्था दूसरी पूर्वास्था के परिणामस्वरूप उसके बाद ही नहीं आती, तब मन तर्कशून्य होगा, और तब कौन कह सकेगा कि इच्छा स्वतन्त्र है और साथ ही तर्क या बुद्धिसंगतता के व्यापार को अस्वीकार करेगा ? और दूसरी ओर, कौन मान सकता है कि मन कारणता के नियम से शासित होता है और साथ ही दावा कर सकता है कि इच्छा स्वतन्त्र है ?

नियम स्वयं कार्य-कारण का व्यापार है। कुछ पूर्व घटित कार्यो के अनुसार कुछ परवर्ती कार्य होते हैं। प्रत्येक पूर्ववर्ती का अपना अनुवर्ती होता है। प्रकृति में ऐसा ही होता है। यदि नियम की यह क्रिया मन में होती है, तो मन आबद्ध है और इसलिए वह स्वतन्त्र नहीं है। नहीं, इच्छा स्वतन्त्र नहीं है। हो भी कैसे सकती है ? किन्तु हम सभी जानते हैं, हम सभी अनुभव करते हैं कि हम स्वतन्त्र हैं। यदि हम मुक्त न हों तो जीवन का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा और न वह जीने लायक ही होगा।

प्राच्य दार्शनिकों ने इस मत को स्वीकार किया, अथवा यों कहो कि इसका प्रतिपादन किया कि मन तथा इच्छा देश, काल एंव निमित्त के अन्तर्गत ठीक उसी प्रकार है, जैसे तथाकथित जड़ पदार्थ हैं। अतएव, वे कारणता के नियम में आबद्ध हैं।

हम काल में सोचते हैं, हमारे विचार काल में आबद्ध हैं; जो कुछ है, उन सबका अस्तित्व देश और काल में है। सब कुछ कारणवता के नियम से आबद्ध है।

इस तरह जिन्हें हम जड़ पदार्थ और मन कहते हैं, वे दोनों एक ही वस्तु हैं। अन्तर केवल स्पंदन की मात्रा में है। अत्यल्प गति से स्पंदनशील मन को जड़ पदार्थ के रूप में जाना जाता है। जड़ पदार्थ में जब स्पंदन की मात्रा का क्रम अधिक होता है, तो उसे मन के रूप में जाना जाता है। दोनों एक ही वस्तु हैं, और इसलिए जब जड़ पदार्थ देश, काल तथा निमित्त के बंधन में हैं, तब मन भी जो उच्च स्पंदनशील जड वस्तु है, उसी नियम में आबद्ध है।

प्रकृति एकरस है। विविधता अभिव्यक्ति में है। 'नेचर' के लिए संस्कृत शब्द है प्रकृति, जिसका व्युत्पत्त्यात्मक अर्थ है विभेद। सब कुछ एक ही तत्व है, लेकिन वह विविध रूपों में अभिव्यक्त हुआ है।

मन जड़ पदार्थ बन जाता है और फिर क्रमानुसार जड़ पदार्थ मन बन जाता है। यह केवल स्पंदन की बात है।

इस्पात की एक छड़ लो और उसे इतनी पर्याप्त शक्ति से आघात करो, जिससे उसमें कम्पन आरम्भ हो जाए। तब क्या घटित होगा ? यदि ऐसा किसी अंधेरे कमरे में किया जाए तो जिस पहली चीज का तुमको अनुभव होगा, वह होगी ध्वनि, भनभनाहट की ध्वनि। शक्ति की मात्रा बढ़ा दो, तो इस्पात का छड़ प्रकाशमान हो उठेगा तथा उसे और अधिक बढ़ाओ, तो इस्पात बिलकुल लुप्त हो जाएगा। वह मन बन जाएगा।

एक अन्य दृष्टान्त लो – यदि मैं इस दिनों तक निराहार रहूं, तो मैं सोच न सकूंगा। मन में भूले-भटके, इने-गिने विचार आ जाएंगे। मैं बहुत अशक्त हो जाऊंगा और शायद अपना नाम भी न जान सकूंगा। तब मैं थोड़ी रोटी खा लूं, तो कुछ ही क्षणों में सोचने लगूंगा। मेरी मन की शक्ति लौट आयेगी। रोटी मन बन गयी। इसी प्रकार मन अपने स्पंदन की मात्रा कम कर देता है और शरीर में अपने को अभिव्यक्त करता है, तो जड़ पदार्थ बन जाता है।

इनमें पहले कौन हुआ – जड़ वस्तु या मन, इसे मैं सोदाहरण बताता हूं। एक मुर्गी अंडा देती है। अंडे से एक और मुर्गी पैदा होती है और फिर इस क्रम की अनन्त शृंखला बन जाती है। अब प्रश्न उठता है कि पहले कौन हुआ, अंडा या मुर्गी ? तुम किसी ऐसे अंडे की कल्पना नहीं कर सकते, जिसे किसी मुर्गी ने न दिया हो और न किसी मुर्गी की कल्पना कर सकते हो, जो अंडे से न पैदा हुई हो। कौन पहले हुआ, इससे कोई अन्तर नहीं पडता। करीब-करीब हमारे सभी विचार मुर्गी और अंडे के गोरखधंधे जैसे हैं।

अत्यन्त सरल होने के कारण महान् से महान् सत्य विस्मृत हो गये। महान्

सत्य इसलिए सरल होते हैं कि उनकी सार्वभौमिक उपयोगिता होती है। सत्य स्वयं सदैव सरल होता है। जटिलता मनुष्य के अज्ञात से उत्पन्न होती है।

मनुष्य में स्वतन्त्र कर्ता मन नहीं है, क्योंकि वह तो आबद्ध है। वहां स्वतन्त्रता नहीं है। मनुष्य मन नहीं है, वह आत्मा है। आत्मा नित्य मुक्त, असीम और शाश्वत है। मनुष्य की मुक्ति इसी आत्मा में है। आत्मा नित्य मुक्त, असीम और शाश्वत है। मनुष्य की मुक्ति इसी आत्मा में है। आत्मा नित्य मुक्त हैं, किन्तु मन अपनी ही क्षणिक तरंगों से तद्रूपता स्थापित कर आत्मा को अपने से ओझल कर देता है और देश, काल तथा निमित्त की भूलभुलैया – माया में खो जाता है।

हमारे बंधन का कारण यही है। हम लोग सदा मन से तथा मन के क्रियात्मक परिवर्तनों से अपना तादात्म्य कर लेते हैं।

मनुष्य का स्वतन्त्र कर्तृत्व आत्मा में प्रतिष्ठित है और मन के बंधन के बावजूद आत्मा अपनी मुक्ति को समझते हुए बराबर इस तथ्य पर बल देती रहती है, 'मैं मुक्त हूं ! मैं हूं, जो मैं हूं ! मैं हूं, जो मैं हूं ! यह हमारी मुक्ति है। आत्मा – नित्य मुक्त, असीम और शाश्वत – युग-युग से अपने उपकरण मन के माध्यम से अपने को अधिकाधिक अभिव्यक्त करती आयी है।

तब प्रकृति से मानव का क्या सम्बन्ध है ? निकृष्टतम प्राणियों से लेकर मनुष्य-पर्यन्त आत्मा प्रकृति के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करती है। व्यक्त जीवन के निकृष्टतम रूप में भी आत्मा की उच्चतम अभिव्यक्ति अंतर्भूत है और विकास कही जानेवाली प्रक्रिया के माध्यम से वह बाहर प्रकट होने का उद्योग कर रही है।

विकास की सभी प्रक्रिया अपने को अभिव्यक्त करने के निमित्त आत्मा का संघर्ष है। प्रकृति के विरुद्ध यह निरंतर चलते रहनेवाला संघर्ष है। मनुष्य आज जैसा है, वह प्रकृति से अपनी तद्रूपता का नहीं, वरन् उसे अपने संघर्ष का परिणाम है। हम यह बहुत सुनते हैं कि हमें प्रकृति के साथ सामजस्य करके और उससे समस्वरित होकर रहना चाहिए। यह भूल है। यह मेज, यह घड़ा, खनिज पदार्थ, वृक्ष सभी का प्रकृति से सामंजस्य है। पूरा सामजस्य है, कोई वैषम्य नहीं। प्रकृति से सामजस्य का अर्थ है गतिरोध, मृत्यु। आदमी ने यह घर कैसे बनाया ? प्रकृति से समन्वित होकर ? नहीं। प्रकृति से लड़कर बनाया। मानवीय प्रगति प्रकृति के साथ सतत संघर्ष से निर्मित हुई है, उसके अनुसरण द्वारा नहीं।

नियम और मुक्ति

नाम-रूप द्वारा जगत् की सृष्टि होने के कारण संघर्ष ही हमारा प्रमुख कर्त्तव्य है। लेकिन मुक्त पुरुषों के लिए संघर्ष निरर्थक है। भय के लिए वेदान्त में कोई स्थान है, जबकि संघर्ष के लिए उपर्युक्त स्थान है। मनुष्य बद्ध एवं मुक्ति के बारे में जैसा सोचेगा वैसा ही हो जाएगा। इस प्रंपचमय संसार में सच्ची स्वतन्त्रता नहीं है। केवल कल्पित स्वतन्त्रता है।

मैं इससे सहमत नहीं कि 'प्रकृति के नियमों का आज्ञापालन स्वतन्त्रता है।' मैं नहीं जानता कि इस कथन का तात्पर्य क्या है। यदि हम मानव-जाति की उन्नति के इतिहास का अध्ययन करें, तो मालूम हो जाएगा कि वह प्रकृति के नियमों का उल्लंघन ही है, जो उस उन्नति का कारण है। यह कहा जा सकता है कि निम्नतर नियमों पर उच्चतर नियमो द्वारा विजय प्राप्त की गयी। पर वहां भी, विजयेच्छु मन केवल मुक्त होने का ही प्रयत्न कर रहा था; और ज्योंही उसे ज्ञात हुआ कि संघर्ष भी नियम ही के अंतर्गत है, उसने उसे भी जीतने का प्रयत्न किया। अत: प्रत्येक दशा में मुक्ति ही अभीष्ट थी – आदर्श थी। वृक्ष कभी भी नियम का उल्लंघन नहीं करते। मैंने गाय को चोरी करते कभी नहीं देखा, घोंघे को झूठ बोलते कभी नहीं सुना। किन्तु तो भी वे मानव से बढकर नहीं हैं। यह जीवन मानो मुक्ति की – स्वतन्त्रता की – एक महान् घोषणा है। यदि नियमों की आज्ञानुवर्तिता पर्याप्त मात्रा में की जाए, तो वह हमें केवल जड बना देगी, निर्जीव कर देगी – वह चाहे समाज के क्षेत्र में हो, राजनीति के या धर्म के। बहुत से नियमों का होना मृत्यु का निश्चित लक्षण है। किसी समाज में यदि नियमों की संख्या आवश्यकता से अधिक बढ़ जाए, तो वह उसके शीघ्र विनाश का निश्चित चिह्न है। यदि तुम भारत की विशेषताओं का अध्ययन करो, तो देखोगे कि हिन्दुओं के समान किसी भी जाति में इतने अधिक नियम नहीं हैं, और इसका परिणाम हुआ है राष्ट्रीय मृत्यु। पर हिन्दुओं में एक विशेष बात रही है – उन्होंने धर्म के क्षेत्र में लोगों को किसी विशेष मत या सिद्धान्त में जकडने की चेष्टा नहीं की; और इसीलिए उनके धर्म का सबसे अधिक विकास हुआ है। शाश्वत नियम स्वतन्त्रता नहीं हो सकता, क्योंकि यह कहना कि शाश्वत भी नियम के अंतर्गत है, उसे अशाश्वत

– समिति – बना देना है।

सृष्टि-कार्य में ईश्वर का कोई हेतु नहीं है, क्योकि यदि हो तो उसमें और मनुष्य में फिर अन्तर ही क्या रहा ? उसे किसी हेतु की आवश्यकता ही क्या ? यदि होती, तो वह उससे बद्ध हो जाता; और तब तो हमें उसके अतिरिक्त उससे भी बड़ी कोई वस्तु माननी पड़ती। उदाहरणार्थ, गलीचा बुननेवाला एक गलीचा तैयार करता है। गलीचा बुनने का जो विचार था, वह उसके बाहर और उसके अधिक ऊंचा था। पर अब यह बताओ कि ऐसा विचार कहां है, जिसका कि ईश्वर अनुसरण करे ? जिस प्रकार एक महान् सम्राट् भी कभी-कभी गुड़ियों से खेल लेता है, उसी प्रकार ईश्वर भी इस प्रकृति के साथ खेल रहा है। इसे ही हम नियम कहते हैं। क्यों ? इसलिए कि हम इस खेल के निर्विघ्न घटित होनेवाले केवल छोटे-छोटे अंशों को ही देख सकते है। नियम की हमारी समस्त धारणाएं एक छोटे से अंश में ही प्रतिबद्ध है। यह कहना बुद्धिहीनता है कि नियम अनन्त है, या सदैव पत्थर नीचे की ही ओर गिरता रहेगा। यदि तर्क-बुद्धि का आधार अनुभव हो, तो पचास लाख वर्ष पहले यह देखने के लिए कौन था कि पत्थर गिरते या नहीं ? अतएव, नियम मनुष्य में स्वभावसिद्ध नहीं है। मनुष्य के संबध में यह एक विज्ञानसिद्ध बात है कि हम जहां से प्रारम्भ करते हैं, वहीं समाप्त भी होते हैं। वास्तव में, हम क्रमश: नियम के बाहर होते जाते हैं; और अन्त में हम उससे पूर्णतया मुक्त हो जाते हैं। पर हमें पूरे जीवन के अनुभव भी साथ ही मिल जाते हैं। हमारा प्रारम्भ परमात्मा और मुक्ति से होता है, और लय भी इन्हीं में होगा। ये नियम बीच की स्थिति के ही लिए हैं, जहां से होकर हमें मार्ग तय करना है। हमारा वेदान्त सदैव मुक्ति की ही घोषणा करता है। नियम का विचार मात्र ही वेदान्ती को डरा देता है; और शाश्वत हो, तो उससे छुटकारे की सम्भावना ही नहीं। यदि उसे चिरकाल के लिए बन्धन में जकड़ देनेवाला कोई शाश्वत नियम हो, तो फिर उसमें और एक तृण में अन्तर ही क्या रहा ? हम नियम के इस अमूर्त विचार में विश्वास नहीं करते।

हम कहते है कि हमें मुक्ति की ही खोज करनी है, और वह मुक्ति है परमात्मा। यह वही आनन्द है, जो हर वस्तु में निहित है; किन्तु जब मनुष्य उसे किसी ससीम वस्तु में ढूंढ़ता है, तो उसका कण मात्र पाता है। चोर को चोरी करने में वही आनन्द मिलता है, जो भक्त को भगवान् में; किन्तु चोर उस आनन्द का केवल कण मात्र पाता है और साथ ही दु:ख का ढेर भी। यथार्थ आनन्द परमात्मा है। ईश्वर आनन्दस्वरूप है, प्रेमस्वरूप है, मुक्तिस्वरूप है; और जो कुछ भी बंधनकारक है, वह ईश्वर नहीं है।

मनुष्य तो मुक्त ही है किन्तु उसे इस सत्य को खोजना पड़ेगा। वह प्रति क्षण

इसे भूल जाता है। जाने या बिना जाने अपने इस मुक्तस्वरूप को पहचान लेना – यही प्रत्येक मानव का सम्पूर्ण जीवन है। ज्ञानी और अज्ञानी में भेद यही है कि ज्ञानी इसको जान-बूझकर करता है और अज्ञानी बिना जाने। अणु से लेकर नक्षत्र तक – सभी मुक्त होने का ही प्रयत्न कर रहे हैं। अज्ञानी पुरुष एक छोटी सी परिधि में स्वतन्त्र होने से ही – भूख-प्यास के बंधनों से मुक्त होने से ही – सन्तुष्ट हो जाता है। किन्तु ज्ञानी अनुभव करता है कि इनसे भी दृढ़तर बन्धन हैं, जिन्हें छिन्न करना है। वह रेड इण्डियनों (अमेरिका की एक आदिवासी जाति) की स्वतन्त्रता को स्वतन्त्रता समझेगा ही नहीं।

हमारे दार्शनिकों के मतानुसार, मुक्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है। ज्ञान लक्ष्य नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान एक मिश्रण या यौगिक पदार्थ है। वह शक्ति और स्वतन्त्रता – इन दोनों का योग है, पर अभीष्ट केवल स्वतन्त्रता ही है। मनुष्य इसी के लिए प्रयत्न करता है। केवल शक्ति का होना ही ज्ञान नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, वैज्ञानिक विद्युत्-शक्ति के धक्के को कुछ मीलों तक ही भेज सकता है, परन्तु प्रकृति तो उसे अपरिमित दूरी तक भेज सकती है। तो फिर, प्रकृति की मूर्ति स्थापित कर हम उसकी पूजा क्यों नहीं करते ? हम नियम नहीं चाहते, हम चाहते हैं नियम तो तोड़ने की सामर्थ्य। हम नियमों से बाहर चले जाना चाहते हैं। यदि तुम नियमों से बंधे हो, तो मिट्टी के ढेले की भांति निर्जीव हो। प्रश्न यह नहीं है कि तुम नियमातीत हो या नहीं; किन्तु यह धारणा कि हम नियमातीत हैं, समस्त मानव इतिहास की आधारशिला है। उदाहरणार्थ, कोई मनुष्य जंगल में रहता है, उसकी न कोई शिक्षा हुई है और न उसे कुछ ज्ञान है। वह एक पत्थर के गिरने की प्राकृतिक घटना को देखता है, और समझता है कि यह स्वतन्त्रता है। वह समझता है कि पत्थर में जीव या आत्मा है, और इसका केंद्रीय भाव है स्वतन्त्रता। पर ज्योंही उसे पता लगता है कि पत्थर का गिरना उसके वश की बात न होकर अवश्यम्भावी है, त्योंही वह उसे प्राकृतिक व्यापार – निर्जीव यान्त्रिक कार्य – कहने लगता है। मै चाहूं तो सड़क पर जाऊं या न जाऊं – यह मेरे मन की बात है। मनुष्य होने के नाते मेरी यही महानता है। पर यदि यह बात हो कि मुझे वहां जाना ही पड़े, तो मैं अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता हूं और एक यन्त्र सा बन जाता हूं। अनन्त शक्ति सम्पन्न होते हुए भी प्रकृति केवल एक यन्त्र ही है। एकमात्र स्वतन्त्रता ही – मुक्ति ही – चेतन जीवन का सार है।

वेदान्त कहता है कि जंगल में रहनेवाले उस मनुष्य का विचार ठीक है; उसकी सूझ ठीक है, यद्यपि उसकी व्याख्या ठीक नहीं। वह प्रकृति को स्वतन्त्रता के रूप में देखता है, नियमबद्ध नहीं। हम भी इन सब मानवी-अनुभवों के पश्चात् वैसा ही सोचने

लगेंगे, पर एक अधिक दार्शनिक अर्थ में। उदाहरणार्थ, मैं सड़क पर जाना चाहता हूं। मुझे अपनी इच्छा-शक्ति से प्रेरणा मिलती है, और मैं रुक जाता हूं। अब, सडक पर जाने की इच्छा और वहां पहुंचने के बीच की अवधि में मैं एक समरूपता से कार्य कर रहा हूं। व्यापार (कार्य) की समरूपता को ही नियम कहा जाता है। मैं देखता हूं कि मेरे व्यापारों की यह एकरूपता समय के अत्यन्त छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटी हुई है, और इसलिए मैं अपने कार्यो को नियमाधीन नहीं कहता। मुझे प्रतीत होता है कि मैं स्वतन्त्र रूप से कार्य करता हूं। मैं पांच मिनट तक चलता हूं; किन्तु उस पांच मिनट चलने के कार्य के पहले – जो कि एकरूप व्यापार है – इच्छा-शक्ति का व्यापार हुआ था, जिसने मुझे चलने की प्रेरणा दी। यही कारण है कि मनुष्य अपने को मुक्त समझता है, क्योंकि उसके सभी कार्य समय के छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त किये जा सकते हैं; और यद्यपि इन छोटे-छोटे टुकड़ों में से प्रत्येक के भीतर समरूपता है, उसके बाहर वह समरूपता नहीं। इस असमरूपता के अनुभव में ही स्वतन्त्रता का भाव निहित है। प्रकृति में हम एक समान रूप से घटनेवाले कार्यो के अति दीर्घ खंडों को देखते हैं; पर इन खंड़ों में से भी प्रत्येक के आरम्भ और अन्त में स्वतन्त्र प्रेरणाएं अवश्य होनी चाहिए। यह स्वतन्त्र प्रेरणा प्रारम्भ में ही दी गयी, और तब से यह कार्य करती रही है; पर ये समय-खंड़ हमारे समय-खंड़ों से कहीं अधिक दीर्घ होते हैं। दार्शनिक रूप से विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि हम स्वतन्त्र नहीं है। फिर भी, हमारे भीतर यह भाव बना ही रहता है कि हम स्वतन्त्र हैं – मुक्त हैं। अब हमें यह समझना है कि यह भाव आता कैसे है। हम देखते है। कि हममें से दो प्रेरणाएं हैं। हमारी बुद्धि बतलाती है कि हमारे प्रत्येक कार्य का कुछ कारण होता है, और साथ ही साथ, प्रत्येक मन:स्पन्दन के साथ हम अपने स्वतन्त्र स्वभाव की घोषणा भी कर रहे हैं। इस पर वेदान्त का समाधान यह है कि अन्दर तो स्वतन्त्रता है – आत्मा वास्तव में मुक्त है – पर इस आत्मा के कार्य शरीर और मन के द्वारा होते हैं, जो स्वतन्त्र नहीं हैं।

ज्योंही हम प्रतिक्रिया करते हैं, हम दास बन जाते हैं। कोई व्यक्ति मुझे दोष देता है, तो मैं तुरन्त क्रोध के रूप में प्रतिक्रिया करता हूं। यह जो थोड़ी सी उत्तेजना उसने मुझमें उत्पन्न कर दी, मुझे गुलाम बना लेती है। अत: हमें अपनी स्वतन्त्रता प्रमाणित करनी पड़ेगी। महात्मा वे ही हैं, जो श्रेष्ठ महाविद्वान व्यक्ति, या नीच, दुष्ट मनुष्य, या क्षुद्रतम पशु में न तो महात्मा देखते हैं, न मनुष्य, न पशु, किन्तु सभी में उसी एक ईश्वर को देखते हैं। इस जीवन में ही उन्होंने संसार पर विजय प्राप्त कर ली है, और वे इस समता में दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित हो गये हैं। ईश्वर पवित्र और सबके लिए समान है। अत: ऐसा महात्मा मनुष्य देह में प्रकट प्रत्यक्ष ईश्वर ही है। हम

सब इसी लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं; और प्रत्येक प्रकार की उपासना, मानव का प्रत्येक कार्य इसी की प्राप्ति का साधन है। धनार्थी भी मुक्त होने का प्रयत्न कर रहा है – वह गरीबी के बन्धन से मुक्त होना चाहता है। मनुष्य का प्रत्येक कार्य उपासना है, क्योंकि निहित भाव है मुक्ति की प्राप्ति; और सभी कार्यो का उद्देश्य, अपरोक्ष या परोक्ष रूप से, वही होता है। केवल यह बात ध्यान में रखनी होगी कि उसमें बाधा पहुंचानेवाले सभी कार्य निषिद्ध हैं। समस्त विश्व ज्ञात या अज्ञात रूप से उपासना ही कर रहा है – उसे केवल इस बात का ज्ञान नहीं है कि जब वह गाली देता है, तो भी उसी भगवान् की एक प्रकार से उपासना ही कर रहा है, जिसे उसने गाली दी; क्योंकि जो लोग गाली दे रहे हैं, वे भी मुक्ति के लिए ही प्रयत्न कर रहे हैं। वे कभी यह नहीं सोचते कि किसी वस्तु की प्रतिक्रिया करने से वे अपने आप को उसका दास बना रहे हैं। किसी प्रकार की प्रतिक्रिया न होने देना एक कठिन बात है।

यदि हम अपनी ससीमता के विश्वास को दूर कर सकें, तो हमारे लिए सब कुछ करना अभी सम्भव हो जाए। यह केवल समय का प्रश्न है। शक्ति बढ़ाओ, तो समय कम लगेगा। उस प्रोफेसर की बात याद रखो, जिसने संगमर्मर के बनाने का रहस्य जानकर बारह वर्ष में ही संगमर्मर तैयार कर लिया, जब कि प्रकृति उसको बनाने में शताब्दियां लगा देती है।

वेदान्त और बौद्ध मत

भारत के सभी मतों का आधार वेदान्त दर्शन है। आधुनिक पण्डितों के अद्वैत दर्शन में बौद्धों के बहुत से सिद्धान्तों का समावेश है। सनातनी हिन्दुओं के मतानुसार सभी बौद्ध नास्तिक हैं। परन्तु वेदान्त दर्शन में नास्तिकों के लिए भी व्यापक स्थान है।

वेदान्त का बौद्ध मत से कोई झगड़ा नहीं। वेदान्त का उद्देश्य ही है, सभी का समन्वय करना। उत्तर के बौद्धों के साथ हमारा तनिक भी झगड़ा नहीं है। किन्तु ब्रह्मदेश, स्याम तथा अन्य दक्षिण देशों के बौद्ध कहते हैं कि इन्द्रियग्राह्य परिदृश्यमान जगत् का ही अस्तित्व है, और वे हमसे पूछते हैं, 'इस परिदृश्यमान जगत् के पीछे एक शाश्वत और अपरिवर्तनशील सत्ता की – एक अतीन्द्रिय जगत् की कल्पना करने का तुम्हें क्या अधिकार है ?' इसके प्रत्युत्तर में वेदान्त कहता है कि वह आरोप मिथ्या है। वेदान्त का कभी भी यह मत नहीं रहा कि इन्द्रियग्राह्य तथा अतीन्द्रिय ये दो जगत् हैं। उसका कहना है कि जगत् केवल एक है। इन्द्रियों द्वारा देखे जाने पर वही प्रपंचमय और अनित्य भासता है, किन्तु वास्तव में वह सर्वदा अपरिवर्तनशील और नित्य ही है। जैसे मान लो, किसी को रस्सी से सर्प का भ्रम हो गया। जब तक उसे सर्प का बोध है, तब तक उसे रस्सी दिखेगी ही नहीं – वह उसे सर्प ही समझता रहेगा। पर यदि उसे ज्ञात हो जाए कि वह सर्प नहीं रस्सी है, तो फिर वह रस्सी में सर्प कभी नहीं देख सकेगा – उसे केवल रस्सी ही दिखेगी। वह या तो रस्सी है, या सर्प ही; किन्तु दोनों का बोध एक साथ कभी नहीं होगा। अतएव, बौद्धों का हम लोगों पर यह जो आरोप है कि हम दो जगत् में विश्वास करते हैं, सर्वथा मिथ्या है। यदि उनकी इच्छा हो तो वे इतना कह सकते हैं कि वह जगत् इन्द्रियग्राह्य है – परिदृश्यमान है; किन्तु वे यह नहीं कह सकते कि दूसरों को उसे अतीन्द्रिय कहने का अधिकार नहीं।

बौद्ध लोग इन्द्रियग्राह्य प्रपंचमय जगत् के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते। इस प्रपंचमय जगत् में ही कामना है। कामना ही इन सबकी सृष्टि कर रही है। आधुनिक वेदान्ती इसे बिलकुल नहीं मानते। हम लोगों का मत है कि कोई ऐसी वस्तु है, जो इच्छा के रूप में परिणत हुई है। इच्छा एक परिणाम है, एक यौगिक पदार्थ है – 'मौलिक' नहीं। बिना किसी बाह्य पदार्थ के इच्छा हो ही नहीं सकती। अत: यह सिद्धान्त कि

जगत् की उत्पत्ति इच्छा से हुई है, असम्भव है। यह कैसे हो सकता है ? क्या तुमने किसी बाह्य उत्तेजना के बिना कभी इच्छा का अनुभव किया है ? बाह्य उत्तेजना के बिना – या आधुनिक दार्शनिक भाषा में कहे तो स्नायविक उत्तेजना के बिना – कभी इच्छा या कामना का उदय नहीं होता। इच्छा मस्तिष्क की एक प्रकार की प्रतिक्रिया है, जिसे सांख्य के मतानुयायी दार्शनिक 'बुद्धि' कहते हैं। इस प्रतिक्रिया के पहले किसी क्रिया का होना आवश्यक है, और क्रिया या कार्य के लिए बाह्य-जगत् का होना जरूरी है। यदि बाह्य-जगत् न हो, तो इच्छा भी नहीं हो सकती; किन्तु फिर भी, तुम्हारे (बौद्धों के) सिद्धान्त के अनुसार इच्छा ने जगत् की सृष्टि की ! अच्छा, इच्छा को कौन उत्पन्न करता है ? इच्छा तो जगत् की सहवर्तिनी है। जिस शक्ति ने जगत् की सृष्टि की, उसी ने इच्छा का भी सर्जन किया है। किन्तु दर्शन को यही नहीं रुक जाना चाहिए। इच्छा बिलकुल व्यक्तिगत वस्तु है; अतः हम शापेनहॉवर (एक प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक) से समहत नहीं हो सकते। इच्छा बाह्य और आन्तरिक का योग है – एक मिश्रण है। मान लो, एक आदमी ने बिना किसी इन्द्रिय के जन्म लिया, तो उसमें कुछ भी इच्छा न होगी। इच्छा के लिए पहले कोई बाह्य वस्तु आवश्यक है, और मस्तिष्क अन्दर से कुछ शक्ति लेकर उसमें योग देता है; अत. इच्छा एक समवाय या सम्मिश्रण है, ठीक वैसे ही, जैसे दीवाल या अन्य कोई वस्तु। इन जर्मन दार्शनिकों के इच्छा के सिद्धान्त से हम बिलकुल सहमत नहीं। इच्छा स्वयं प्रपंचमय है – सापेक्ष है, वह निरपेक्ष नहीं हो सकती। वह अनेक प्रक्षेपणों में से एक है। मैं यह समझ सकता हूं कि कोई ऐसी वस्तु है, जो इच्छा नहीं है, परन्तु उसके रूप में अभिव्यक्त हो रही है। पर यह बात मेरी समझ में नहीं आती कि इच्छा ही अपने को अन्य सभी वस्तुओं के रूप में अभिव्यक्त कर रही है – यह देखते हुए कि जगत् से अलग इच्छा की हम कल्पना ही नहीं कर सकते। देश, काल, निमित्त के कारण ही वह 'पूर्ण स्वतन्त्र' वस्तु इच्छा का रूप धारण कर लेती है। कान्ट के विश्लेषण को लो। इच्छा देश, काल और निमित्त के अन्तर्गत है। तब वह निरपेक्ष कैसे हो सकती है ? यदि कोई इच्छा प्रकट करे, तो उसकी यह क्रिया समय के अन्दर ही सम्भव है – समय के बहिर्भूत नहीं।

यदि हम अपने समस्त विचारों का उपशमन कर सके – अपनी समस्त चित्तवृत्ति शान्त कर सके, तो हम जान जाएंगे कि हम विचार से परे हैं। हम 'नेति-नेति' के द्वारा इस अनुभव पर पहुंचते हैं। जब 'नेति-नेति' कहकर समस्त प्रपंच का त्याग कर दिया जाता है, तब जो कुछ बचा रहता है वही 'वह' है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, उसे प्रकट नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रकटीकरण पुनः इच्छा हो जाएगी।

व्यावहारिक जीवन में वेदान्त – (1)
(10 नवम्बर, सन् 1896 ई० को लन्दन में दिया हुआ व्याख्यान)

स्वामी विवेकानन्द ने अपने व्याख्यान में बताया कि हम (बहिर्जगत् व अन्तर्जगत्) दोनों में ही निवास करते हैं। इन दोनों जगतों में ही मनुष्य प्राचीनकाल से काफी उन्नति करता हुआ आया है। मनुष्य ने सर्वप्रथम बहिर्जगत् की खोज की व दुरूहत्तर समस्याओं के उत्तर बाह्य समस्याओं से प्राप्त करने की कोशिश की। मैं तुम लोगों से पहले ही कह चुका हूं, सिद्धान्त बिलकुल ठीक होने पर भी उसे कार्यरूप में परिणत करना एक समस्या हो जाती है। यदि उसे कार्य रूप में परिणत नहीं किया जा संकता, तो बौद्धिक व्यायाम के अतिरिक्त उसका और कोई मूल्य नहीं। अतएव वेदान्त यदि धर्म के स्थान पर आरूढ़ होना चाहता है, तो उसे सम्पूर्ण रूप से व्यावहारिक होना चाहिए। हमें अपने जीवन की सभी अवस्थाओं में उसे कार्य रूप में परिणत कर सकना चाहिए। केवल यही नहीं, अपितु आध्यात्मिक और व्यावहारिक जीवन के बीच जो एक काल्पनिक भेद है, उसे भी मिट जाना चाहिए; क्योंकि वेदान्त एक अखण्ड वस्तु के सम्बन्ध में उपदेश देता है – वेदान्त कहता है कि एक ही प्राण सर्वत्र विद्यमान है। धर्म के आदर्शों को सम्पूर्ण जीवन को आविष्ट करना, हमारे प्रत्येक विचार के भीतर प्रवेश करना और कर्म को अधिकाधिक प्रभावित करना चाहिए। मैं व्यावहारिक पक्ष पर क्रमश: प्रकाश डालूंगा। किन्तु ये व्याख्यान भावी व्याख्यानों की उपक्रमणिका के रूप में हैं, अत: पहले हमें वेदान्त-सिद्धान्त का परिचय प्राप्त करना होगा और यह समझना होगा कि ये सिद्धान्त किस प्रकार पर्वतों की गुफाओं और घने जंगलों में से निकल कर कोलाहलपूर्ण नगरों की व्यस्तताओं में भी कार्यान्वित हुए हैं। इन सिद्धांतों में एक विशेषता यह है कि इनमें से अधिकांश निर्जन अरण्यवास के फलस्वरूप प्राप्त नहीं हुए, किन्तु जिन व्यक्तियों को हम सबसे अधिक कर्मण्य मानते हैं, वे ही राज-सिंहासन पर बैठनेवाले राज-राजर्षि इनके प्रणेता है।

श्वेतकेतु आरुणि ऋषि के पुत्र थे। ये ऋषि सम्भवत: वानप्रस्थी थे। श्वेतकेतु

का लालन-पालन वन में ही हुआ; किन्तु वे पांचालों के नगर में गये और राजा प्रवाहन जैवलि की राजसभा में उपस्थित हुए। राजा ने उनसे पूछा, "मरते समय प्राणी इस लोक से किस प्रकार गमन करता है, क्या यह तुम जानते हो ?'' – "नहीं।'' "किस प्रकार यहां उसका पुनर्जन्म होता है, जानते हो ?'' – "नहीं।'' "पितृयान' और देवयान' के विषय में कुछ जानते हो ?'' – आदि-आदि। इस प्रकार राजा ने और भी अनेक प्रश्न किये। श्वेतकेतु किसी भी प्रश्न का उत्तर न दे सका। जब राजा ने कहा, "तुम कुछ नहीं जानते।'' बालक ने लौटकर पिता से सब हाल कह सुनाया। पिता ने कहा, "मैं भी इन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानता। अगर जानता तो क्या तुम्हें न सिखाता ?'' तब वह राजा के पास गया और उनसे इस गुप्त विषय की शिक्षा देने के लिए प्रार्थना की। राजा ने कहा, "यह' विद्या – यह ब्रह्मविद्या केवल राजाओं को ही ज्ञात थी, पुरोहितों को इसका कभी ज्ञान न था।'' ज़ो हो, इसके बारे में उसने जो कुछ जानना चाहा, वे उसकी शिक्षा देने लगे। इस प्रकार हम अनेक उपनिषदों में यही पाते हैं कि वेदान्त दर्शन केवल वन में ध्यान द्वारा ही नही जाना गया, किन्तु उसके सर्वोत्कृष्ट भिन्न-भिन्न अंश सांसारिक कर्मो में विशेष व्यस्त मनीषी लोगों द्वारा ही चिन्तित तथा प्रकाशित किये गये। लाखों मनुष्यों के निरंकुश शासक इन राजाओं की अपेक्षा अधिक कार्यव्यस्त और कौन हो सकता है ? किन्तु साथ ही इन शासकों मे से कोई-कोई गम्भीर चिन्तक भी थे।

इन सब बातों से यही स्पष्ट होता है कि यह दर्शन व्यावहारिक है। परवर्तीकाल की भगवद्गीता को तो शायद तुम लोगों में से बहुतों ने पढ़ा होगा। यह वेदान्त दर्शन का एक सर्वोत्तम भाष्यस्वरूप है। कितने आश्चर्य की बात है कि इस उपदेश का केन्द्र है संग्राम-स्थल, जहां श्री कृष्ण ने अर्जुन को इस दर्शन का उपदेश दिया है और गीता के प्रत्येक पृष्ठ पर जो मत उज्ज्वल रूप से प्रकाशित है, वह है तीव्र कर्मण्यता, किन्तु उसी के बीच अनन्त शांतभाव। इसी तत्व को कर्म रहस्य कहा गया है और इस अवस्था को पाना ही वेदान्त का लक्ष्य है। हम साधारणत या अकर्म का अर्थ करते हैं निश्चेष्टता, पर यह हमारा आदर्श नहीं हो सकता। यदि यही होता तो हमारे चारों ओर दीवालें भी परमज्ञानी होतीं, वे भी तो निश्चेष्ट हैं। मिट्टी के ढेले और पेड़ों के तने भी जगत् के महातपस्वी गिने जाते, क्योंकि वे भी तो निश्चेष्ट हैं; और यह भी नहीं कि किसी भी तरह कामनायुक्त होकर किये जानेवाले कार्य कर्म कहलाये जा सकते। वेदान्त का आदर्श जो प्रकृत कर्म है, वह अनन्त-शांति के साथ संयुक्त है। किसी भी प्रकार की परिस्थिति में वह स्थिरता कभी नष्ट नहीं होती – चित्त का वह साम्यभाव कभी भंग नहीं होता। हम लोग भी बहुत कुछ देखने-सुनने के बाद यही समझ पाये हैं कि कार्य करने के लिए इस

प्रकार की मनोवृत्ति ही सबसे अधिक उपयोगी होती है।

लोगों ने मुझसे यह प्रश्न अनेक बार किया है कि हम कार्य के लिए जो एक प्रकार का आवेग अनुभव करते हैं, यदि वह न रहे तो हम कार्य कैसे करेंगे ? मैं भी बहुत दिन पहले यही सोचता था, किन्तु जैसे-जैसे मेरी आयु बढ़ रही है, जितना अनुभव बढ़ता जा रहा है, उतना ही मैं देखता हूं कि यह सत्य नहीं है। कार्य के भीतर आवेग जितना अनुभव बढ़ता जा रहा है, उतना ही मैं देखता हूं कि यह सत्य नही है। कार्य के भीतर आवेग जितना ही कम रहता है, उतना ही उत्कृष्ट वह होता है। हम लोग जितने अधिक शांत होते हैं, उतना ही हम लोगों का आत्मकल्याण होता है और हम काम भी अधिक अच्छी तरह कर पाते हैं। जब हम लोग भावनाओं के अधीन हो जाते हैं, तब अपनी शक्ति का अपव्यय करते हैं, अपने स्नायुसमूह को विकृत कर डालते हैं, मन को चंचल बना डालते हैं, किन्तु काम बहुत कम कर पाते हैं। जिस शक्ति का कार्यरूप में परिणत होना उचित था, वह वृथा भावुकता मात्र में पर्यवसित होकर क्षय हो जाती है। जब मन अत्यंत शान्त और एकाग्र रहता है, केवल तभी हम लोगों की समस्त शक्ति सत्कार्य में व्यय होती है। यदि तुम जगत् के महान् कार्यकुशल व्यक्तियों की जीवनी कभी पढो, तो देखोगे कि वे अद्भुत शान्त प्रकृति के लोग थे। कोई भी वस्तु उनके चित्त की स्थिरता भंग नहीं कर पाती थी। इसीलिए जो व्यक्ति शीघ्र ही क्रोध, घृणा या किसी अन्य आवेग से अभिभूत हो जाता है, वह कोई काम नहीं कर पाता, अपने को चूर-चूर कर डालता है और कुछ भी व्यावहारिक नहीं कर पाता। केवल शान्त, क्षमाशील, स्थिरचित्त व्यक्ति ही सबसे अधिक काम कर पाता है।

वेदान्त आदर्श का उपदेश देता है, और आदर्श वास्तविक की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च होता है। हम लोगों के जीवन में दो प्रवृत्तियां देखी जाती हैं। एक है अपने आदर्श का सामंजस्य जीवन से करना, और दूसरी है जीवन को आदर्श के अनुरूप उच्च बनाना। इन दोनों का भेद भली-भांति समझ लेना चाहिए – क्योंकि पहली प्रवृत्ति हमारे जीवन का एक प्रमुख प्रलोभन है। मैं सोचता हूं कि मैं कोई विशेण प्रकार का कार्य कर सकता हूं – शायद उसका अधिकांश ही बुरा है और उसके पीछे शायद क्रोध, घृणा अथवा स्वार्थपरता का आवेग ही विद्यमान है। अब मानो किसी व्यक्ति ने मुझे विशेष आदर्श के सम्बन्ध में उपेदश दिया – निश्चय ही उसका पहला उपदेश यही होगा कि स्वार्थपरता तथा आत्मसुख का त्याग करो। मैं सोचता हूं कि यह करना तो असम्भव है। किन्तु यदि किसी एक ऐसे आदर्श के सम्बन्ध में उपदेश दिया जो मेरी स्वार्थपरता और निम्न भावों का समर्थन करे, तो मैं उसी समय कह उठता हूं, 'यही है मेरा आदर्श' और मैं उसी आदर्श का अनुसरण करने के लिए तत्पर हो जाता हूं।

इसी प्रकार 'शास्त्रीय' बात को लेकर लोग आपस में झगड़ते रहते हैं; और कहते हैं कि जो मै समझता हूं, वहीं शास्त्रीय है, तथा जो तुम समझते हो वह अशास्त्रीय है। 'व्यवहार्य (practical) शब्द को लेकर भी ऐसा ही अनर्थ होता रहता है जिस बात को मैं कार्यरूप में परिणत करने योग्य समझता हूं, जगत् में एकमात्र वही व्यवहार्य है, ऐसी मेरी धारण होती है। उदाहरणार्थ. यदि मैं एक दूकानदार हूं, तो सोचता हूं कि संसार में दूकानदारी ही एकमात्र व्यावहारिक कर्म है। यदि मैं चोर हूं तो चोरी के बारे में भी यही सोचता हूं। तुम लोग जानते हो कि हम सब इस 'व्यवहार्य' शब्द का प्रयोग केवल उन्हीं कर्मो के लिए करते हैं, जिनकी ओर हमारी प्रवृत्ति है और जो हमसे किये जा सकते हैं। इसी कारण मैं तुम लोगों को यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि यद्यपि वेदान्त पूर्ण रूप से व्यवहार्य है, तथापि साधारण अर्थ में नहीं, बल्कि आदर्श के दृष्टिकोण से। वेदान्त का आदर्श कितना ही उच्च क्यों न हो, वह किसी असम्भव आदर्श को हमारे सामने नहीं रखता; और वास्तव में यही आदर्श ठीक-ठीक आदर्श है। एक शब्द में इसका उपदेश है 'तत्त्वमसि' – 'तुम्हीं वह ब्रह्म हो' और इसके समुदय उपदेश की अन्तिम परिणति यही है।

समस्त बौद्धिक वाद-विवाद और विस्तार के पश्चात् तुम्हें इसमें यही सिद्धान्त मिलेगा कि मानवात्मा शुद्ध स्वभाव और सर्वज्ञ है। आत्मा के सम्बन्ध में जन्म अथवा मृत्यु की बात करना भी कोरी विडम्बना मात्र है। आत्मा का न कभी जन्म होता है, न मृत्यु; मैं मरूंगा अथवा मरने में डर लगता है, यह सब केवल कुसंस्कार मात्र है। और मै यह कर सकता हूं, यह नहीं कर सकता, ये सब भी कुसंस्कार है। मैं सब कुछ कर सकता हूं। वेदान्त सबसे पहले मनुष्य को अपने ऊपर विश्वास करने के लिए कहता है। जिस प्रकार संसार का कोई-कोई धर्म कहता है कि जो व्यक्ति अपने से बाहर सगुण ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता, वह नास्तिक है, उसी प्रकार वेदान्त भी कहता है कि जो व्यक्ति अपने आप पर विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक है। अपनी आत्मा की महिमा में विश्वास न करने को ही वेदान्त में नास्तिकता कहते हैं। बहुत से लोगों के लिए यह एक भीषण विचार है, इसमें कोई सन्देह नहीं; और हममें अधिकांश सोचते हैं कि यह कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु वेदान्त दृढ़ रूप से कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति इस सत्य को जीवन में प्रत्यक्ष कर सकता है। इसकी उपलब्धि में स्त्री-पुरुष बालक-बालिका, जाति या लिंग आदि से सम्बद्ध किसी प्रकार का विभेद बाधक नहीं है – क्योंकि वेदान्त दिखा देता है कि वह सत्य पहले से ही सिद्ध है और पहले से ही विद्यमान है।

हममें ब्रह्माण्ड की समूची शक्ति पहले से ही है। हम लोग स्वयं ही अपने नेत्रों

पर हाथ रखकर 'अंधकार' 'अंधकार' कहकर चीत्कार करते हैं। जान लो कि तुम्हारे चारों ओर कोई अंधकार नहीं है। हाथ हटाने पर ही तुम देखोगे कि वहां प्रकाश पहले से ही वर्तमान था। अंधकार कभी था ही नहीं, दुर्बलता कभी नहीं थी, हम लोग मूर्ख होने के कारण ही चिल्लाते हैं कि हम दुर्बल हैं, मूर्खतावश ही चिल्लाते हैं कि हम अपवित्र हैं। इस प्रकार वेदान्त, 'आदर्श को कार्यान्वित किया जा सकता है,' केवल यही नहीं कहता, किन्तु यह भी कहता है कि वह आदर्श हम लोगों को पहले से ही प्राप्त है; और जिसे हम अब आदर्श कहते हैं वही हमारी प्रकृत सत्ता है – वही हम लोगों का स्वरूप है; और जो कुछ हम देखते हैं, वह सम्पूर्ण मिथ्या है। जिस क्षण तुम कहते हो, 'मैं मर्त्य क्षुद्र जीवन हूं', तुम झूठ बोलते हो; तुम मानो सम्मोहन के द्वारा अपने को अधम, दुर्बल, अभागा बना डालते हो।

वेदान्त पाप स्वीकार नहीं करता, भ्रम स्वीकार करता है; और वेदान्त कहता है कि सबसे बड़ा भ्रम है – अपने को दुर्बल, पापी, हतभाग्य कहना – यह कहना कि मुझमें कुछ भी शक्ति नहीं है, मैं यह नहीं कर सकता आदि-आदि। कारण, जब तुम इस प्रकार सोचने लगते हो, तभी तुम मानो बन्धन-शृंखला में एक कड़ी और जोड़ देते हो, अपनी आत्मा पर सम्मोहन की एक पर्त और जमा देते हो। अतएव जो कोई अपने को दुर्बल समझता है, वह भ्रान्त है, जो अपने को अपवित्र मानता है, वह भ्रान्त है; वह जगत् में एक असत् विचार प्रवाहित करता है। हमें सदा याद रखना चाहिए कि वेदान्त में हमारे इस प्रस्तुत सम्मोहित जीवन का – हमारे द्वारा स्वीकृत मिथ्या जीवन का, आदर्श के साथ समझौता कराने की कोई चेष्टा नहीं है। उसका तो परित्याग करने के लिए कहा गया है और ऐसा होने पर ही उसके पीछे जो सत्य-जीवन सदा वर्तमान है, वह प्रकाशित होगा, व्यक्त होगा। यह नहीं कि मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिक पवित्र हो जाता है, बात केवल अधिकाधिक अभिव्यक्ति की है। आवरण हटता जाता है और आत्मा की स्वाभाविक पवित्रता प्रकाशित होने लगती है। यह अनन्त पवित्रता, मुक्त स्वभाव, प्रेम और ऐश्वर्य पहले से ही हम में हैं।

वेदान्त यह भी कहता है कि ऐसा नहीं कि यह केवल वन अथवा पहाड़ी गुफाओं में उपलब्ध हो सकता है, वरन् हम यह देख ही चुके हैं कि पहले जिन लोगों ने इस सत्यसमूह का आविष्कार किया था वे वन अथवा पहाड़ी गुफाओं में नहीं रहते थे, साथ ही वे सामान्य मनुष्य भी नहीं थे, वरन् वे लोग ऐसे थे (हम लोगों के इस विश्वास का विशेष कारण है), जो विशेष रूप से कर्मठ जीवन बिताते थे, जिन्हें सैन्य-संचालन करना पड़ता था, जिन्हें सिंहासन पर बैठकर प्रजावर्ग का हानि-लाभ देखना होता था। इसके अतिरिक्त उस समय राजागण ही सर्वेसर्वा थे – आजकल जैसे कठपुतली नहीं।

फिर भी वे लोग इन सब तत्वों का चिन्तन करने तथा उनको जीवन में परिणत करने और मानव-जाति को शिक्षा देने का समय निकाल लेते थे। अतएव उनकी अपेक्षा हम लोगों को इन सब तत्वों का अनुभव होना तो और भी सहज है, क्योंकि हमारा जीवन उनकी तुलना में अवकाश का जीवन है। हम अपेक्षाकृत सारे समय खाली ही रहते है, हमारे पास करने को बहुत काम रहता है, अतः हमारे लिए उस सत्य का साक्षात्कार न कर सकना बडी लज्जाजनक बात है। पुरातन सर्वेसर्वा सम्राटो की आवश्यकताओ की तुलना में हमारी आवश्यकताएं तो कुछ भी नहीं है। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अवस्थित विराट सेना के परिचालक अर्जुन की जितनी आवश्यकता थी, हमारी आवश्यकता उसकी तुलना में नगण्य है, तब भी उस युद्ध-कोलाहल के बीच में भी, वे उच्चतम दर्शन को सुनने और उसे कार्यान्वित करने का समय पा सके – इसलिए अपने इस अपेक्षाकृत स्वाधीन आराममय जीवन में हमें उतना कर सकना चाहिए। हम लोग यदि ठीक प्रकार से समय बितायें, तो हम देखेगे कि हम जितना सोचते और समझते हैं उसकी अपेक्षा हमारे पास कहीं अधिक समय है। हम लोगों को जितना अवकाश है, उसमें यदि हम सचमुच चाहें, तो एक नहीं पचास आदर्शो का अनुसरण कर सकते हैं, किन्तु आदर्श को हमें कभी नीचा नहीं करना चाहिए। हमारे जीवन की सबसे बडी विपत्ति की आशंका है ऐसे व्यक्तियों से जो हमारे व्यर्थ अभावों और वासनाओं के लिए अनेक प्रकार के वृथा कारण दिखाते हैं; और हम लोग भी यही सोचते हैं कि हम लोगों का इससे बडा और कोई आदर्श नहीं हो सकता, किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। वेदान्त इस प्रकार की शिक्षा कभी नहीं देता। प्रत्यक्ष जीवन को आदर्श के साथ समन्वित करना पडेगा – वर्तमान जीवन को अनन्त जीवन के साथ एकरूप करना होगा।

कारण, तुम्हे सदा स्मरण रखना होगा कि वेदान्त का मूल सिद्धान्त यह एकत्व अथवा अखण्ड भाव है। द्वित्व कहीं नहीं है, दो प्रकार का जीवन अथवा जगत् भी नहीं है। तुम देखोगे कि वेद पहले स्वर्गादि के विषय में कहते हैं, किन्तु अन्त में जब वे अपने दर्शन के उच्चतम आदर्शो पर आते है तो वे उन सब बातों को बिलकुल त्याग देते हैं। एकमात्र जीवन है, एकमात्र जगत् है, एकमात्र सत् है। सब कुछ वही एक सत्तामात्र है; भेद केवल परिणाम का है, प्रकार का नहीं। हमारे जीवन में अंतर प्रकारगत नहीं है। वेदान्त इस बात को बिलकुल नहीं मानता कि पशु मनुष्य से पूर्णतया पृथक् है और उन्हें ईश्वर ने हमारे भोज्यरूप में बनाया है।

कुछ व्यक्तियों ने वैज्ञानिक शोध के निमित्त चीरफाड करने के लिए मारे जानेवाले पशुओं की हत्या का विरोध करने के लिए एक संस्था (Antivivisection Society) स्थापित की है। मैंने एक दिन इस सभा के एक सदस्य से पूछा, “भाई,

आप भोजन के लिए पशु हत्या को पूर्णतया न्यायसंगत मानते हैं, किन्तु वैज्ञानिक प्रयोगों के लिए दो-एक पशुओं की हत्या के इतने विरुद्ध क्यों हैं ?'' उसने उत्तर दिया, ''जीवित की चीरफाड़ बहुत बीभत्स कार्य है. किन्तु पशु तो हमारे भोजनार्थ ही बनाये गये हैं।'' पशु भी तो उसी अखण्ड सत्ता के अंशरूप है। यदि मनुष्य का जीवन अनन्त है, तो पशु-जीवन भी उसी प्रकार है। प्रभेद केवल परिणामगत है, प्रकारगत नहीं। देखने पर यह अमीबा और मैं एक ही हूं, अंतर परिणाम का है, और सर्वोच्च जीवन की दृष्टि से देखने पर सारे विभेद मिट जाते हैं। मनुष्य एक तिनके और पौधे में बहुत अंतर देख सकता है, किन्तु यदि तुम खूब ऊंचे चढ़कर देखो तो यह तिनका तथा एक बड़ा वृक्ष दोनों ही समान दिखेंगे। इसी प्रकार उस उच्चतम सत्ता के दृष्टिकोण से निम्नतम पशु और उच्चतम मनुष्य सभी समान हैं और यदि तुम एक ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हो, तो तुमको पशुओं से लेकर उच्चतम प्राणी तक समत्व मानना पड़ेगा। जो ईश्वर अपनी मनुष्य-सन्तान के प्रति पक्षपाती है और पशु नामक अपनी सन्तान के प्रति निर्दय है, वह तो फिर दानवों से भी अधम हुआ। इस प्रकार के ईश्वर की उपासना करने की अपेक्षा मुझे सैकड़ों बार मरना भी पसन्द है। मेरा समस्त जीवन इस प्रकार के ईश्वर के विरुद्ध युद्ध में ही बीतेगा। किन्तु ऐसा विभेद है ही नहीं, और जो लोग ऐसा कहते हैं, वे दायित्वहीन और हृदयहीन व्यक्ति हैं; उन्हें सत्य का ज्ञान नहीं है। यहां फिर 'व्यावहारिकता' शब्द गलत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मैं स्वयं एक कट्टर शाकाहारी न भी होऊं, किन्तु मैं उस आदर्श को समझता हूं। जब मैं मांस खाता हूं, तब जानता हूं कि यह ठीक नहीं है। परिस्थितिवश उसे खाने को बाध्य होने पर भी मैं यह जानता हूं कि यह क्रूरता है। आदर्श नीचा करके अपनी दुर्बलता का समर्थन मुझे नहीं करना चाहिए। आदर्श यही है – मांस न खाया जाए; किसी भी प्राणी का अनिष्ट न किया जाए, क्योंकि पशुगण भी हमारे भाई हैं। यदि उनको अपना भाई मान सकते हो, तो तुम मानव की बंधुता की बात ही क्या, प्राणिमात्र के भातृभाव की ओर बहुत कुछ अग्रसर हो गये। यह तो बच्चों का खेल है। तुम संसार में देखोगे कि इस प्रकार का उपदेश लोग पसन्द नहीं करते, क्योंकि उनसे वह प्रस्तुत को छोड़कर आदर्श की ओर जाने के लिए कहता है। किन्तु यदि तुम एक ऐसा सिद्धान्त उनके सामने रखो, जिससे उनके प्रस्तुत आचरण का समर्थन होता हो, तो वे उसे एकदम व्यावहारिक मान लेंगे।

मनुष्य स्वभाव में पुरातनरक्षण की प्रवृत्ति बहुत होती है। हम लोग आगे एक कदम भी नहीं बढ़ना चाहते। हिम में जम गये व्यक्तियों के सम्बन्ध में मैंने जो पढ़ा है, वहीं मैं मनुष्य-जाति के बारे में भी सोचता हूं। सुना जाता है कि इस अवस्था में

आदमी सोना चाहता है। यदि उसे कोई खींचकर उठाना चाहता है तो वह कहता है, 'मुझे सोने दो – बर्फ में सोने से बडा आराम मिलता है !' – और उसी दशा में उसकी मृत्यु हो जाती है। हम लोगों का स्वभाव भी ऐसा ही है। हम लोग भी सारे जीवन यही करते रहते है – सिर से लेकर पैर तक बर्फ में जमे जा रहे हैं तो भी हम लोग सोना चाहते हैं। अतएव आदर्श अवस्था को तुम्हारे निम्न स्तर पर खींच लाये, यदि कोई तुम्हें ऐसा धर्म सिखाये, जो कि उच्चतम आदर्श की शिक्षा नहीं देता, तो उसकी बात कान में भी न पड़ने दो। मेरे लिए वे नितांत अव्यावहारिक धर्म होगा। किन्तु यदि कोई मुझे ऐसा धर्म सिखाये, जो जीवन का सर्वोच्च आदर्श दर्शाता हो तो मैं उसकी बातें सुनने के लिए प्रस्तुत हूं। जब कभी कोई व्यक्ति भोगपरक दुर्बलताओं और निस्सारताओं की वकालत करे, तो उससे सावधान रहो। एक तो हम अपने को इन्द्रियजाल में फंसाकर एकदम निकम्मे बन जाते हैं, उस पर यदि कोई आकर हमें वैसी शिक्षा दे, तो उसका अनुसरण करके हम कुछ भी उन्नति नहीं कर सकेंगे। मैंने ऐसी बाते बहुत देखी हैं, जगत् के सम्बन्ध में मुझे कुछ ज्ञान है, और मेरा देश ऐसा देश है जहां सम्प्रदाय कुकुरमुत्तो के समान बढ़ते रहते हैं। प्रति वर्ष नये-नये सम्प्रदाय जन्म लेते हैं। किन्तु मैंने यही देखा है कि जो सम्प्रदाय भोगाकांक्षी मानव का सत्याकांक्षी मानव से समझौता कराने की चेष्टा नहीं करते, वे ही उन्नति करते हैं। जहां परमोच्च आदर्शो का झूठी सांसारिक वासनाओं के साथ सामजस्य करने की – ईश्वर को मनुष्य के स्तर पर खींच लाने की मिथ्या चेष्टा करती है, वहीं क्षय का आरम्भ हो जाता है। मनुष्य को सांसारिक दासता के स्तर पर नहीं घसीट लाना चाहिए, उसे ईश्वर के स्तर तक उठाना चाहिए।

साथ ही इस प्रश्न का एक और पहलू है। हमें दूसरों को घृणा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। हम सभी उसी एक लक्ष्य की ओर बढ रहे हैं। दुर्बलता और सबलता में केवल परिणामगत भेद है। प्रकाश और अंधकार में भेद केवल परिणामगत – पाप और पुण्य के बीच भी भेद केवल परिणामगत – जीवन और मृत्यु के बीच में भेद केवल परिणामगत – एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद केवल परिणामगत ही है, प्रकारगत नहीं, क्योंकि, वास्तव में सभी वस्तुएं वहीं एक अखण्ड वस्तुमात्र है। सब वही एक है, जो अपने को विचार, जीवन, आत्मा या देह के रूप में अभिव्यक्त करता है, और उनमें अंतर केवल परिणाम का है। अत: जो किसी कारणवश हमारे समान उन्नति नहीं कर पाये, उनके प्रति घृणा करने का अधिकार हमें नहीं है। किसी की निन्दा मत करो किसी की सहायता कर सकते हो तो करो, नहीं कर सकते हो तो हाथ रखकर चुपचाप बैठे रहो, उन्हें आशीर्वाद दो, अपने रास्ते जाने दो। गाली देने अथवा निन्दा करने

से कोई उन्नति नहीं होती। इस प्रकार से कभी कोई कार्य नहीं होता। दूसरे की निन्दा करने में हम अपनी शक्ति लगाते हैं। आलोचना और निन्दा अपनी शक्ति खर्च करने का निस्सार उपाय है, क्योंकि अन्त में हम देखते हैं कि सभी लोग एक ही वस्तु देख रहे हैं, कमबेश उसी आदर्श की ओर पहुंच रहे हैं और हम लोगों में जो अंतर हैं, वे केवल अभिव्यक्ति के हैं।

'पाप' की बात लो। मैं अभी वेदान्त के अनुसार पाप की धारणा तथा इस धारणा की कि मनुष्य पापी है, चर्चा कर रहा था। दोनों वास्तव में एक ही हैं केवल एक सकारात्मक है, दूसरी नकारात्मक है। एक, मनुष्य को उसकी दुर्बलता दिखा देती है और दूसरी, उसकी शक्ति। वेदान्त कहता है कि यदि दुर्बलता है, तो कोई चिन्ता नहीं, हमें तो विकास करना है। जब मनुष्य पहले-पहल जन्मा, तभी उसका रोग क्या है, जान लिया गया। सभी अपना-अपना रोग जानते हैं – किसी दूसरे को बतलाने की आवश्यकता नहीं होती। सारे समय – हम रोगी हैं – यह सोचते रहने से हम स्वस्थ नहीं हो सकते, उसके लिए औषध आवश्यक है। बाहर की हम सारी चीजें भूल जा सकते हैं, बाह्यजगत् के प्रति हम कपटाचारी हो सकते हैं, किंतु अपने मन के अंतराल में हम सब अपनी दुर्बलताओ को जानते हैं। वेदान्त कहता है कि फिर भी मनुष्य को सदैव उसकी दुर्बलता की याद कराते रहना अधिक सहायता नहीं करता, उसको बल प्रदान करो, और बल सदैव निर्बलता का चिंतन करते रहने से नहीं प्राप्त होता। दुर्बलता का उपचार सदैव उसका चिंतन करते रहना नहीं है, वरन् बल का चिंतन करना है। मनुष्य में जो शक्ति पहले से ही विद्यमान है, उसे उसकी याद दिला दो, मनुष्य को पापी न बतलाकर वेदान्त ठीक उसका विपरीत मार्ग ग्रहण करता है और कहता है, 'तुम पूर्ण और शुद्धस्वरूप हो और जिसे तुम कहते हो, वह तुममें नहीं है।' जिसे तुम 'पाप' कहते थे, वह तुम्हारी आत्माभिव्यक्ति का निम्नतम रूप है; अपनी आत्मा को उच्चतर भाव में प्रकाशित करो। यह एक बात हम सबको सदैव याद रखनी चाहिए और इसे हम सब कर सकते हैं। कभी 'नहीं' मत कहना, 'मैं नहीं कर सकता' यह कभी न कहना, क्योंकि तुम अनन्तस्वरूप हो। तुम्हारे स्वरूप की तुलना में देश-काल भी कुछ नहीं है। तुम सब कुछ कर सकते हो, तुम सर्वशक्तिमान हो।

ये नीतिशास्त्र के सिद्धान्त हैं, अब हमें नीचे उतरकर ब्योरों का निरूपण करना होगा। हमें देखना है कि किस प्रकार यह वेदान्त हमारे दैनिक जीवन में, नागरिक जीवन में, ग्राम्य जीवन में, राष्ट्रीय जीवन में, और प्रत्येक राष्ट्र के घरेलू जीवन में परिणत किया जा सकता है। कारण, यदि धर्म मनुष्य को जहां भी और जिस स्थिति में भी वह है, सहायता नहीं दे सकता, तो उसकी उपयोगिता अधिक नहीं – तब वह

केवल कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के लिए कोरा सिद्धान्त होकर रह जाएगा। धर्म यदि मानवता का कल्याण करना चाहता है, तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह मनुष्य की सहायता उसकी प्रत्येक दशा में कर सकने में तत्पर और सक्षम हो – चाहे गुलामी हो या आजादी, घोर पतन हो या अत्यन्त पवित्रता, उसे सर्वत्र मानव की सहायता कर सकने में समर्थ होना चाहिए। केवल तभी वेदान्त के सिद्धान्त अथवा धर्म के आदर्श – उन्हें तुम किसी भी नाम से पुकारो – कृतार्थ हो सकेंगे।

आत्मविश्वास का आदर्श ही हमारी सबसे अधिक सहायता कर सकता है। यदि इस आत्मविश्वास का और भी विस्तृत रूप से प्रचार होता और यह कार्यरूप में परिणत हो जाता, तो मेरा दृढ़ विश्वास है कि जगत् में जितना दुःख और अशुभ है, उसका अधिकांश गायब हो जाता। मानव-जाति के समग्र इतिहास में सभी महान् स्त्री-पुरुषों में यदि कोई महान् प्रेरणा सबसे अधिक सशक्त रही है तो वह है यही आत्मविश्वास। वे इस ज्ञान के साथ पैदा हुए थे कि वे महान् बनेंगे और वे महान् बने भी। मनुष्य कितनी ही अवनति की अवस्था में क्यों न पहुंच जाए, एक समय ऐसा अवश्य आता है, जब वह उससे बेहद आर्त होकर एक ऊर्ध्वगामी मोड लेता है और अपने में विश्वास करना सीखता है। किन्तु हम लोगों को इसे शुरू से ही जान लेना अच्छा है। हम आत्मविश्वास सीखने के लिए इतने कटु अनुभव क्यों प्राप्त करें ?

मनुष्य-मनुष्य के बीच जो भेद है वह केवल आत्मविश्वास की उपस्थिति तथा अभाव के कारण ही है, यह सरलता से ही समझ में आ सकता है। इस आत्मविश्वास के द्वारा सब कुछ हो सकता है। मैंने अपने जीवन में ही इसका अनुभव किया है, अब भी कर रहा हूं; और जैसे-जैसे आयु बढ़ती जा रही है, उतना ही यह विश्वास दृढ़तर होता जा रहा है। जिसमें आत्मविश्वास नहीं है, वही नास्तिक है। प्राचीन धर्मों के अनुसार जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता, वही नास्तिक है। नूतन धर्म कहता है, जो आत्मविश्वास नहीं रखता, वही नास्तिक है। किन्तु यह विश्वास केवल इस क्षुद्र 'मै' को लेकर नहीं है, क्योंकि वेदान्त एकत्ववाद की भी शिक्षा देता है। इस विश्वास का अर्थ है – सबके प्रति विश्वास, क्योकि तुम सभी एक हो। अपने प्रति प्रेम का अर्थ है सब प्राणियों से प्रेम, समस्त पशुपक्षियों से प्रेम, सब वस्तुओं से प्रेम – क्योंकि तुम सब एक हो। यही महान् विश्वास जगत् को अधिक अच्छा बना सकेगा। यही मेरा विश्वास है। वही सर्वश्रेष्ठ मनुष्य है, जो सच्चाई के साथ कह सकता है, "मैं अपने सम्बन्ध में सब कुछ जानता हूं।" क्या तुम जानते हो कि तुम्हारी इस देह के भीतर कितनी ऊर्जा, कितनी शक्तियां, कितने प्रकार के बल अब भी छिपे पड़े हैं ? मनुष्य में जो हैं, उस सबका ज्ञान कौन सा वैज्ञानिक प्राप्त कर सकता है ? लाखों वर्षों से

मनुष्य पृथिवी पर है, किन्तु अभी तक उसकी शक्ति का पारमाणविक अंश मात्र ही प्रकाशित हुआ है। अतएव तुम कैसे अपने को जबरदस्ती दुर्बल कहते हो ? ऊपर से दिखनेवाली इस पतितावस्था के पीछे क्या सम्भावना है, क्या तुम यह जानते हो ? तुम्हारे अन्दर जो है, उसका थोड़ा सा तुम जानते हो। तुम्हारे पीछे है शक्ति और आनन्द का अपार सागर।

आत्मा वा अरे श्रोतव्यः – इस आत्मा के बारे में पहले सुनना चाहिए। दिन-रात श्रवण करो कि तुम्हीं वह आत्मा हो। दिन-रात यही भाव अपने में व्याप्त किये रहो, यहां तक कि वह तुम्हारे रक्त की प्रत्येक बूंद में और तुम्हारी नस-नस में समां जाए। सम्पूर्ण शरीर को इसी एक आदर्श के भाव से पूर्ण कर दो – 'मैं अज, अविनाशी, आनन्दमय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान नित्य ज्योतिर्मय आत्मा हूं' – दिन-रात यही चिन्तन करते रहो, जब तक कि यह भाव तुम्हारे जीवन का अविच्छेद्य अंग नहीं बन जाता। इसी का ध्यान करते रहो – और इसी से तुम कर्म करने में समर्थ हो सकोगे। 'हृदय पूर्ण होने पर मुंह बात करता है – हृदय पूर्ण होने पर हाथ भी काम करते हैं।' अतएव इस प्रकार की अवस्था में ही यथार्थ कार्य सम्पूर्ण हो सकेगा। अपने को इस आदर्श के भाव से ओतप्रोत कर डालो – जो कुछ करो उसी का चिंतन करते रहो। तब इस विचार-शक्ति के प्रभाव से तुम्हारे सम्पूर्ण कर्म वृहत्, परिवर्तित और देवभावापन्न हो जाएंगे। अगर 'जड़' शक्तिशाली है, तो 'विचार' सर्वशक्तिमान है। इस विचार से अपने जीवन को प्रेरित कर डालो, स्वयं को अपनी तेजस्विता, सर्व- शक्तिमत्ता और गरिमा के भाव से पूर्णतः भर लो। ईश्वरेच्छा से काश कुसंस्कारपूर्ण भाव तुम्हारे अन्दर प्रवेश न कर पाते ! ईश्वरकृपा से काश कुसंस्कारपूर्ण के प्रभाव तथा दुर्बलता और नीचता के भाव से परिवेष्टित न होते ! ईश्वरेच्छा के काश, मनुष्य अपेक्षाकृत सहज उपाय द्वारा उच्चतम, महत्तम सत्यों को प्राप्त कर सकता ! किन्तु उसे इन सब में से होकर ही जाना पड़ता है; जो लोग तुम्हारे पीछे आ रहे हैं, उनके लिए रास्ता अधिक दुर्गम न बनाओ।

कभी-कभी इन सत्यों का उपदेश बड़ा भयानक होता है। मैं जानता हूं, बहुत से लोग ये उपदेश सुनकर भयभीत हो जाते हैं, किन्तु जो व्यावहारिक स्तर पर अभ्यास करना चाहते हैं, उनके लिए यही पहला पाठ है। अपने से अथवा किसी दूसरे से कभी यह न कहो कि तुम दुर्बल हो। यदि कर सको तो जगत् का कल्याण करो, पर उसका अनिष्ट न करो। अपने अंतरतम से यह समझ लो कि तुम्हारे ये सीमित विचार एवं काल्पनिक पुरुषों के सामने घुटने टेक कर तुम्हारा रोना या प्रार्थना करना केवल अंधविश्वास है। मुझे एक ऐसा उदाहरण बताओ, जहां बाहर से इन प्रार्थनाओं का उत्तर

मिला हो। जो भी उत्तर पाते हो, वह अपने हृदय से ही। तुम जानते हो कि भूत नहीं होते, किन्तु अंधकार में जाते ही शरीर कुछ कांप सा जाता है। इसका कारण यह है कि बिलकुल बचपन से ही हम लोगों के सिर में यह भय घुसा दिया गया है। किन्तु समाज के भय से, संसार के कहने-सुनने के भय से, यह सब हम दूसरो को सिखायें। इन सबको जीत लो। धर्म के विषय में विश्व-ब्रह्माण्ड के एकत्व और आत्मविश्वास के अतिरिक्त और क्या शिक्षा आवश्यक है ? शिक्षा केवल इतनी ही देनी है। सहस्रों वर्षों से मनुष्य इसी लक्ष्य प्राप्ति की चेष्टा करता आ रहा है और अभी भी कर रहा है। अब तुम्हारी बारी है; और सत्य को तुम जानते हो। क्योंकि सब ओर से हम उसी की शिक्षा पाते हैं। केवल दर्शन और मनोविज्ञान ही नहीं, भौतिक विज्ञान भी उसी की घोषणा करते हैं। आज ऐसा वैज्ञानिक कहां है, जो जगत् के एकत्व के सत्य को स्वीकार करने से डरता हो ? आज कौन अनेक जगतों की बातें कहने का साहस कर सकता है ? यह सब अंधविश्वास मात्र है केवल एक ही जीवन है, एक ही जगत् है और वही हम लोगों के सामने अनेकवत् प्रतीत होता है। यह अनेकता एक स्वप्न सदृश है। स्वप्न देखते समय एक के बाद दूसरा स्वप्न आता है। स्वप्न में जो देखा जाता है, वह सत्य तो नहीं है। एक स्वप्न के बाद दूसरा स्वप्न दिखायी पड़ता है – विभिन्न दृश्य तुम्हारी आंखों के सामने उद्‌भासित होते रहते हैं। इसी प्रकार यह पन्द्रह आने दुःखरूप और एक आना सुखरूप जगत् जान पड़ता है। शायद कुछ दिन बाद ही यह पन्द्रह आने सुखरूप प्रतीत होगा – तब हम इसे स्वर्ग कहेंगे। किन्तु साधक को सिद्धावस्था प्राप्त होने पर एक ऐसी अवस्था आती है, जिसमें यह सब अन्तर्हित हो जाता है – यह जगत् और अपनी आत्मा साक्षात् ब्रह्मरूप अनुभव होती है। अतएव जगत् अनेक नहीं हैं, जीवन अनेक नहीं है। यह बहुत्व उस एकत्व की ही अभिव्यक्ति है। केवल वह 'एक' ही अपने को बहुरूप में – जड़, चेतन, मन, विचार अथवा अन्य विविध रूपों में व्यक्त कर रहा है। अतएव हम लोगों का प्रथम कर्त्तव्य है – इस तत्व की अपने को तथा दूसरों को शिक्षा देना।

जगत् इस महान् आदर्श की घोषणा से प्रतिध्वनित हो – सब कुसंस्कार दूर हों। दुर्बल मनुष्यों को यही सुनाते रहो – लगातार सुनाते रहो – 'तुम शुद्धस्वरूप हो, उठो, जागृत हो जाओ। हे शक्तिमान, यह नींद तुम्हें शोभा नहीं देती। जागो, उठो, यह तुम्हें शोभा नहीं देता। तुम अपने को दुर्बल और दुःखी मत समझो। हे सर्वशक्तिमान, उठो, जागृत होओ, अपना स्वरूप प्रकाशित करो। तुम अपने को पापी समझते हो, यह तुम्हें शोभा नहीं देता। तुम अपने को दुर्बल समझते हो, यह तुम्हारे लिए उचित नहीं है।' जगत् से यही कहते रहो, अपने से यही कहते रहो – देखो, इसका क्या व्यावहारिक

फल होता है, देखो, कैसे बिजली के प्रकाश से सभी वस्तुएं प्रकाशित हो उठती हैं, और सब कुछ कैसे परिवर्तित हो जाता है। मनुष्य-जाति से यह बतलाओ और उसे उसकी शक्ति दिखा दो। तभी हम अपने दैन-दिन जीवन में उसका प्रयोग करना सीख सकेंगे।

जिसे हम विवेक या सदसत् विचार कहते हैं, उसका अपने जीवन के प्रतिक्षण में एवं प्रत्येक कार्य में उपयोग करने की क्षमता प्राप्त करने के लिए हमें सत्य की कसौटी जान लेनी चाहिए – और वह है पवित्रता तथा एकत्व का ज्ञान। जिससे एकत्व की प्राप्ति हो, वही सत्य है। प्रेम सत्य है; घृणा असत्य है, क्योंकि वह अनेकत्व को जन्म देती है। घृणा ही मनुष्य को मनुष्य से पृथक् करती है – अतएव वह गलत और मिथ्या है; यह एक विघटक शक्ति है; वह पृथक् करती है – नाश करती है।

प्रेम जोड़ता है, प्रेम एकत्व स्थापित करता है। सभी एक हो जाते हैं – मां सन्तान के साथ, परिवार नगर के साथ, सम्पूर्ण जगत् पशु-पक्षियों के साथ एकीभूत हो जाता है, क्योंकि प्रेम ही सत् है, प्रेम ही भगवान् है और यह सभी कुछ उसी एक प्रेम का ही न्यूनाधिक प्रस्फुटन है। प्रभेद केवल मात्रा के तारतम्य में है, किन्तु वास्तव में सभी कुछ उसी एक प्रेम की ही अभिव्यक्ति है। अतएव हम लोगों को यह देखना चाहिए कि हमारे कर्म अनेकत्व-विधायक हैं अथवा एकत्व सम्पादक। यदि वे अनेकत्व-विधायक हैं, तो उनका त्याग करना होगा और यदि वे एकत्व-सम्पादक हैं, तो उन्हें सत्कर्म समझना चाहिए। इसी प्रकार विचारों के सम्बन्ध में भी सोचना चाहिए। देखना चाहिए कि उनसे विघटन या अनेकत्व उत्पन्न होता है या एकत्व, और वे एक आत्मा को दूसरी आत्मा से मिलाकर एक महान् शक्ति उत्पन्न करते हैं या नहीं। यदि करते हैं, तो ऐसे विचारों को अंगीकार करना चाहिए अन्यथा उन्हें अपराध मानकर त्याग देना चाहिए।

वेदान्त का नीति-शास्त्र किसी अज्ञेय तत्व पर आधारित नहीं है, वह किसी अज्ञात तत्व का उपदेश नहीं करता, वरन् उपनिषदों की भाषा में, 'जिस ईश्वर की हम एक अज्ञात ईश्वर के रूप में उपासना करते हैं, मैं उनको उसी का उपदेश कर रहा हूं।' तुम जो कुछ जानते हो, आत्मा के द्वारा ही जानते हो। देखने से पहले मुझे अपने स्वयं का ज्ञान होता है, उसके बाद कुर्सी का। इस आत्मा में और उसके द्वारा ही इस कुर्सी का ज्ञान होता है। इस आत्मा में और उसके द्वारा ही मुझे तुम्हारा ज्ञान होता है, सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान होता है। अतएव आत्मा को अज्ञात कहना केवल प्रलाप है। आत्मा को हटा लेने से सम्पूर्ण जगत् ही विलुप्त हो जाता है। आत्मा के द्वारा ही सम्पूर्ण ज्ञान होता है – अतएव यही सबसे अधिक ज्ञात है। यही वह 'तुम' हो, जिसको

तुम 'मैं' कैसे हो सकता है; तुम्हें आश्चर्य होता है कि यह सान्त 'मैं' किस प्रकार अनन्त असीमस्वरूप हो सकता है ? किन्तु वास्तव में यही बात सत्य है। सान्त 'मैं' केवल भ्रम मात्र है, गल्पकथा मात्र है। उस अनन्त के ऊपर मानो एक आवरण पडा हुआ है और उसका कुछ अंश इस 'मै' रूप में प्रकाशित हो रहा है, किन्तु वास्तव में वह उसी अनन्त का अंश है। यथार्थ में असीम कभी ससीम नहीं होता – 'ससीम' केवल बात की बात है। अतएव यह आत्मा नर-नारी, बालक-बालिका, यहां तक कि पशु-पक्षी सभी को ज्ञात है। उसको बिना जाने हम क्षणमात्र भी जीवित नहीं रह सकते। उस सर्वेश्वर प्रभु को बिना जाने हम लोग एक क्षण भी श्वास-प्रश्वास तक नहीं ले सकते, न गतिशील हो सकते, न अपना अस्तित्व बनाये रख सकते हैं। वेदान्त का ईश्वर सब चीजों की अपेक्षा अधिक ज्ञात है; वह कल्पनाप्रसूत नहीं है।

यदि यह एक व्यावहारिक ईश्वर की शिक्षा नहीं है, तो फिर और किस प्रकार से तुम उसकी शिक्षा दे सकोगे ? जो ईश्वर, सब प्राणियों में विराजमान है, हमारी इन्द्रियों से भी अधिक सत्य है, मैं जिसे सम्मुख देख रहा हूं, उससे भी अधिक ईश्वर और व्यावहारिक कहां होगा ? क्योंकि तुम्हीं वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान ईश्वर हो, और यदि यह कहूं कि तुम वह नहीं हो, तो मैं झूठ बोलता हूं। सारे समय में इसकी अनुभूति करूं या न करूं, सत्य यही है, वह एक, अखण्ड वस्तुस्वरूप, सर्व वस्तुओं की एकता, समस्त जीवन और समस्त अस्तित्व का सत्यस्वरूप है।

वेदान्त के नीति-शास्त्र के इन सभी विचारो को और भी विस्तृत रूप से कहना पडेगा। अतएव थोडा सा धैर्य रखना आवश्यक है। पहले ही कह चुका हूं, हम लोगों को इसका विस्तृत निरूपण करना पड़ेगा – और यह भी देखना है कि किस प्रकार यह आदर्श निम्नतर आदर्शो से क्रमशः विकसित हुआ है, और किस प्रकार पूरा एकत्व का आदर्श धीरे-धीरे विकसित होकर विश्व प्रेम में परिणत हो गया है। खतरों से बचने के लिए इन सब तत्वों का अध्ययन आवश्यक है। दुनिया तो धीरे-धीरे निम्नतम आदर्श से ऊपर उठने के लिए रुकी नहीं रह सकती; किन्तु हमारे ऊंचे सोपान पर चढने का फल ही क्या, यदि हम यह सत्य बाद में आनेवाली पीढ़ियों को न दे सकें ? इसलिए इसकी आलोचना हमें विशेष रूप से विस्तारपूर्वक करनी होगी, और प्रथमतः उसके बौद्धिक पक्ष को स्पष्ट करना परम आवश्यक है, यद्यपि हम जानते है कि बौद्धिकता का विशेष मूल्य नहीं, हृदय ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। हृदय के द्वारा ही भगवत्साक्षात्कार होता है, बुद्धि के द्वारा नहीं। बुद्धि केवल जमादार के समान रास्ता साफ कर देती है – वह गौण सहायक है, पुलिस के समान है – किन्तु समाज के सुन्दर परिचालन के लिए पुलिस की सकारात्मक आवश्यकता नहीं होती। उसका

कार्य उपद्रव रोकना और अन्याय निवारण करना है। बुद्धि का कार्य भी इतना ही है। जब बौद्धिक पुस्तकें पढ़ते हो, तब उन पर अधिकार कर लेने पर तुम यही सोचते हो कि 'ईश्वर को धन्यवाद है, मैं उनके बाहर निकल आया।' इसका कारण यह है कि बुद्धि अन्धी है, उसकी अपनी गति-शक्ति नहीं है, उसके हाथ-पैर नहीं है। भावना ही वास्तव में कार्य करती है, उसकी गति बिजली अथवा उससे भी अधिक वेगवान पदार्थ की अपेक्षा श्रेष्ठ होती है। अब प्रश्न यह है कि क्या तुम्हारे भावना है ? यदि है तो तुम ईश्वर को देखोगे। आज तुम्हारी जितनी भी भावना है, वही प्रबल होती जाएगी – देवभावापन्न होती रहेगी, उच्चतम भूमिका में प्रतिष्ठित होगी, और अंततः वह प्रत्येक वस्तु का अनुभव करेगी, हर वस्तु में एकत्व, स्वयं में तथा प्रत्येक वस्तु में ईश्वर का अनुभव करने लगेगी। बुद्धि यह नहीं कर सकती। 'शब्दों के प्रयोग के विभिन्न तरीके, शास्त्र-व्याख्या की विभिन्न शैलियां केवल पण्डितों के लिए हैं, हमारे लिए नहीं, आत्मा की मुक्ति के लिए नहीं।'

तुम लोगों में से जिन्होंने टॉमस-आ-केम्पिस की 'ईसा-अनुसरण' नामक पुस्तक पढ़ी है, वे जानते हैं कि प्रत्येक पृष्ठ पर किस प्रकार उन्होंने इस बात पर जोर दिया है; संसार के प्रायः प्रत्येक संत ने इसी पर जोर दिया है। बुद्धि आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना हम अनेक भ्रमों में पड़ जाते हैं और गलतियां करते हैं। विचार-शक्ति उसका निवारण करती है, इसके अतिरिक्त बुद्धि की नींव पर और कुछ निर्माण करने की चेष्टा करती है,इसके अतिरिक्त बुद्धि की नींव पर और कुछ निर्माण करने की चेष्टा न करना। वह केवल एक गौण सहायक मात्र है, निष्क्रिय है, वास्तविक सहायता भावना से, प्रेम से प्राप्त होती है। तुम क्या किसी दूसरे के लिए हृदय से अनुभव करते हो ? यदि करते हो तो एकत्व के भाव में तुम विकास कर रहे हो। यदि नहीं, तो तुम भूतो न भविष्यति एक बौद्धिक दैत्य भले ही हो, तुम कुछ हो नहीं सकोगे, केवल शुष्क बुद्धि हो और वही बने रहोगे। यदि तुम हृदय से अनुभव करते हो, तो एक भी पुस्तक न पढ़ सकने पर, कोई भाषा न जानने पर भी, तुम ठीक रास्ते पर चल रहे हो। ईश्वर तुम्हारा है।

क्या विश्व के इतिहास में तुम्हें पैगम्बरों की शक्ति के स्रोत का पता नहीं चला ? बुद्धि में ? उनमें से क्या कोई दर्शन सम्बन्धी सुन्दर पुस्तक लिखकर छोड़ गया है; अथवा न्याय के कूट विचार लेकर कोई पुस्तक लिख गया है ? किसी ने ऐसा नहीं किया। वे केवल कुछ थोड़ी सी बातें कह गये हैं। ईसा की भांति भावना करो, तुम भी ईसा हो जाओगे; बुद्ध के समान भावना करो, तुम भी बुद्ध बन जाओगे। भावना ही जीवन है, भावना ही बल है, भावना ही तेज है – भावना के विना कितनी ही बुद्धि

क्यो न लगाओ, ईश्वर-प्राप्ति नहीं होगी। बुद्धि चलनशक्ति-शून्य अंग-प्रत्यंग के समान है। जब भावना उसे अनुप्राणित करके गतियुक्त करती है, तभी वह दूसरे के हृदय को स्पर्श करती है। जगत् में सदा से ऐसा ही होता आया है, अतएव यह तुम्हें भली-भांति याद रखना चाहिए। वेदान्ती नीति-शास्त्र में यह एक सर्वाधिक व्यावहारिक बात है, क्योंकि वेदान्त कहता है, तुम सब पैगम्बर हो – तुम सबको पैगम्बर होना ही पडेगा। कोई ग्रंथ तुम्हारे कार्यों का प्रमाण नहीं, किन्तु तुम्हीं ग्रंथों के प्रमाण स्वरूप हो। कोई पुस्तक सत्य की ही शिक्षा देती है, यह किस प्रकार जानते हो ? क्योकि तुम सत्य हो और तुम भी ठीक वैसा ही अनुभव करते हो। वेदान्त यही शिक्षा देता है। जगत् के ईसा और बुद्धगणों का प्रमाण क्या है ? – यही कि हम-तुम भी वैसा ही अनुभव करते है। इसी कारण हम-तुम समझते हैं कि ये सब सत्य है। हम लोगों की पैगम्बर आत्मा ही उन लोगों की पैगम्बर आत्मा का प्रमाण हैं, यहां तक कि तुम्हारा ईश्वरत्व ही ईश्वर का भी प्रमाण है। यदि तुम वास्तविक महापुरुष नहीं हो, तो ईश्वर के सम्बन्ध में भी कोई बात सत्य नहीं। तुम यदि ईश्वर नहीं हो, तो कोई ईश्वर भी नहीं है और कभी होगा भी नहीं। वेदान्त कहता है, इसी आदर्श का अनुसरण करना चाहिए। हम लोगों मे से प्रत्येक को पैगम्बर बनना पडेगा – और तुम स्वरूपत: वही हो। बस केवल यह 'जान' लो ? यह कभी न सोचना कि आत्मा के लिए कुछ असम्भव है। ऐसा सोचना ही भयानक नास्तिकता है। यदि पाप नामक कोई वस्तु है, तो वह यह कहना है कि मै दुर्बल हूं अथवा अन्य कोई दुर्बल है।

व्यावहारिक जीवन में वेदान्त –(2)

(12 नवम्बर, सन् 1896 ई० को लन्दन में दिया हुआ व्याख्यान)

12 नवम्बर 1896 ई० को स्वामी जी ने अपने भाषण में छान्दोग्य उपनिषद् द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेवाले एक बालक की अनुत्कृष्ट शैली की कहानी सुनाई। जो इस प्रकार है –

एक छोटे बालक ने अपनी माता से कहा, "मां, मैं वेद-शिक्षा पाने के लिए जाना चाहता हूं, मेरे पिता का नाम और मेरा गोत्र क्या है, बताओ।" उसकी मां विवाहिता स्त्री नहीं थी, और भारत में अविवाहित स्त्री की सन्तान जाति बहिष्कृत मानी जाती है – समाज उसे अंगीकार नहीं करता, और उसे वेदों के अध्ययन का अधिकार नहीं होता। अतएव बेचारी मां ने कहा, "मैंने अनेक व्यक्तियों की सेवा की है, उसी अवस्था में तुम्हारा जन्म हुआ, अतएव मैं तुम्हारे पिता का नाम एवं तुम्हारा गोत्र क्या है, यह नहीं जानती; इतना ही जानती हूं कि मेरा नाम जबाला है और तुम्हारा सत्यकाम।" बालक एक ऋषि के पास गया और उसने उनसे प्रार्थना की कि वे उसे ब्रह्मचारी शिष्य के रूप में ग्रहण करें। तब उन्होंने उससे पूछा, "तुम्हारे पिता का नाम और तुम्हारा गोत्र क्या है ?" बालक ने जो उसकी मां ने कहा था वही दुहराया। यह सुनकर ऋषि ने तुरन्त ही कहा, "वत्स, एक ब्राह्मण के अतिरिक्त और कोई अपने सम्बन्ध में ऐसा लांछनकारी सत्य नहीं कह सकता था। तुम ब्राह्मण हो, मैं तुम्हें शिक्षा दूंगा। तुम सत्य से विचलित नहीं हुए।" यह कहकर वे उसे अपने निकट रखकर शिक्षा देने लगे।

अब हमें प्राचीन भारत में प्रचलित शिक्षा-पद्धतियों के कुछ दृष्टांत अवगत होंगे। गुरु ने सत्यकाम को चार सौ क्षीण और दुर्बल गायें देकर कहा, "इन्हें लेकर तुम वन में चले जाओ, जब सब गायें एक हजार हो जाएं, तब लौटकर चले आना।" उसने आज्ञा पालन की और वह गायें लेकर वन में चला गया। कई साल बाद इस झुण्ड में से एक प्रधान वृषभ ने सत्यकाम से कहा, "हम अब एक हजार हो गये हैं, हमें तुम अपने गुरु के पास ले चलो। मैं तुम्हें ब्रह्म के विषय में कुछ शिक्षा दूंगा।" सत्यकाम

ने कहा, "कहिए प्रभु।" वृषभ ने कहा, "उत्तर दिशा ब्रह्म का एक अंश है, उसी प्रकार पूर्व दिशा, दक्षिण दिशा, पश्चिम दिशा भी उसके एक एक अंश हैं। चारों दिशाएं ब्रह्म के चार अंश हैं। अब अग्नि तुम्हें और कुछ शिक्षा देंगे।" उस समय अग्नि की पूजा एक विशिष्ट प्रतीक-रूप में होती थी। प्रत्येक ब्रह्मचारी को अग्नि-चयन करके उसमें आहुति देनी पडती थी। अत: अगले दिन सत्यकाम ने अपने गुरु के घर की ओर प्रस्थान किया, और जब संध्या समय वह स्नानादि करके अग्नि में होम कर उसके निकट बैठ गया, तो उसे अग्नि से आती एक वाणी सुनाई पडी – "सत्यकाम !" सत्यकाम ने कहा, "प्रभो, आज्ञा !" (तुम लोगो को शायद याद हो कि बाईबिल के प्राचीन व्यवस्थान में भी इसी प्रकार की एक कथा है। सेपुएल ने ऐसी ही एक अद्भुत वाणी सुनी थी)। अग्नि ने कहा, "मै तुम्हें ब्रह्म के सम्बन्ध मे कुछ शिक्षा देने आया हूं। यह पृथिवी ब्रह्म का एक अंश है, अन्तरिक्ष एक अंश है, स्वर्ग एक अंश है, समुद्र एक अंश है।" फिर अग्नि ने कहा, "अब एकपक्षी तुम्हें कुछ शिक्षा देगा।" सत्यकाम ने अपनी यात्रा जारी रखी और अगले दिन जब वह सांध्य अग्निहोत्र कर चुका था, तब एक हंस उसके निकट आया और बोला, "मै तुम्हें ब्रह्म के विषय में कुछ शिक्षा दूंगा। हे सत्काम, यह अग्नि जिसकी तुम उपासना करते हो, ब्रह्म का एक अंश है, सूर्य एक अंश है, चन्द्र एक अंश है, विद्युत भी एक अंश है।" फिर हंस ने कहा, "अब मद्गू नामक एक पक्षी भी तुम्हे कुछ शिक्षा देगा।" निदान एक दिन यह पक्षी आकर सत्यकाम से बोला, "मैं तुम्हें ब्रह्म के सम्बन्ध में कुछ शिक्षा दूंगा। 'प्राण' उसका एक अंश है, चक्षु एक अंश है, श्रवण एक अंश एवं मन एक अंश है।" तदन्तर बालक अपने गुरु के पास पहुंचा, गुरु ने उसे देखते ही कहा, "वत्स, तुम्हारा मुख ब्रह्मवेत्ता के समान चमक रहा है। तुम्हे किसने शिक्षा दी है।" सत्यकाम ने उत्तर दिया "मानवेतर प्राणियों ने, किन्तु मै चाहता हूं कि गुरु से प्राप्त ज्ञान ही श्रेयस की ओर ले जाता है।" तब ऋषि ने उसे उसी ज्ञान की शिक्षा दी, जो उसे देवताओं से प्राप्त हो चुका था, "अब कुछ भी शेष नहीं रहा।"

यहां यदि हम इन रूपकों को थोडी देर के लिए हटा दे कि वृष ने क्या सिखाया, अग्नि ने क्या सिखाया तथा अन्य सबने क्या सिखाया – और केवल केन्द्रीय तत्व की ओर ध्यान दे, तो हमको तत्कालीन विचार धारा की दिशा का कुछ पता लग सकता है। हमें जिस महान् विचार का बीज यहां मिलता है, वह यह है कि ये सारी ध्वनियां हमारे अन्दर ही है। इन सत्यों को और अधिक समझने से अन्त में हम यही तत्व पाएंगे कि यह वाणी वास्तव में हम लोगों के हृदय में से ही उठी है। शिष्य सारे समय यही समझता रहा कि वह सत्य के सम्बन्ध में उपदेश सुन रहा है, किन्तु उसका ऐसा

समझना ठीक नहीं है। उसने इन वाणियों को बाह्य जगत् से आती हुई समझा, लेकिन वे सदा उसी के अन्दर थीं। और भी एक तत्व इससे पाया जाता है, और वह है ब्रह्मज्ञान को व्यावहारिक बनाना। व्यावहारिक जीवन में धर्म से क्या पाया जा सकता है, जगत् इस खोज में सदा व्यस्त रहता है; और इन सब कथाओं में हम यह भी पाते हैं कि दिन-प्रतिदिन किस प्रकार यह सत्य व्यवहारोपयोगी बनता जा रहा था। शिष्य को जिन समस्त वस्तुओं के संसर्ग में आना पड़ता है, वे उन्हीं से ब्रह्मोपलब्धि करते हैं। अग्नि, जिसमें वे प्रतिदिन होम करते हैं, उसी में वे ब्रह्म-साक्षात्कार कर रहे हैं। इसी प्रकार परिदृश्यमान् पृथिवी को वे ब्रह्म के एक अंश के रूप में अनुभव कर रहे हैं – इत्यादि-इत्यादि।

इसके बाद एक कहानी इन सत्यकाम के एक शिष्य उपकोशल कमलायन के सम्बन्ध में है। यह शिष्य सत्यकाम से शिक्षा प्राप्त करने के लिए उनके पास कुछ दिन रहा था। सत्यकाम कार्यवश कहीं बाहर गये। इससे शिष्य को बहुत कष्ट हुआ। जब गुरु पत्नी ने उसके समीप आकर पूछा, "वत्स, तुम खाते क्यों नहीं ?" तब बालक ने कहा, "मेरा मन कुछ ठीक नहीं है, इसलिए कुछ खाना नहीं चाहता।" इसी समय वह जिस अग्नि में हवन कर रहा था, उसमें से एक आवाज आयी, "प्राण ब्रह्म है, सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है, तुम ब्रह्म को जानो।" तब उसने उत्तर दिया, "प्राण ब्रह्म है, यह मैं जानता हूं, किन्तु वे आकाश और सुखस्वरूप हैं, यह मैं नहीं जानता।" तब अग्नि ने समझाया कि आकाश और सुख, इन दो शब्दों का अर्थ वस्तुतः एक ही है, यानी हृदय में निवास करनेवाला चिदाकाश (अथवा विशुद्ध बुद्धि)। इस प्रकार अग्नि के प्राण और चिदाकाश के रूप में उसे ब्रह्म का उपदेश किया। तदुपरान्त अग्नि ने फिर उपदेश दिया : "यह पृथिवी, यह अन्न, यह सूर्य जिसकी तुम उपासना करते हो, सब ब्रह्म के ही रूप हैं। जो पुरुष सूर्य में दिखलायी पड़ता है, वह मैं ही हूं। जो यह जानते हैं और उस ब्रह्म का ध्यान करते हैं, उनके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, वे दीर्घ जीवन प्राप्त करते और सुखी होते हैं। जो समस्त दिशाओं में वास करता है, मैं भी वही हूं। जो इस प्राण में है, इस आकाश में है, स्वर्ग समूह और विद्युत में बसता है, मैं भी वही हूं।" यहां भी हमें व्यवहारोपयोगी धर्म का उदाहरण मिलता है। अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि जिन-जिन वस्तुओं की वे उपासना करते थे, और वह वाणी जिससे वे परिचित थे, उन कथाओं का आधार है, जो उनकी व्याख्या करती हैं और उन्हें उच्चतर अर्थ प्रदान करती है। यही वेदान्त का सच्चा, व्यावहारिक पक्ष है। वेदान्त जगत् को उड़ा नहीं देता, उसकी व्याख्या करता है। वह व्यक्ति को उड़ा नहीं देता – उसकी व्याख्या करता है। वह व्यक्तित्व को मिटाता नहीं, वरन् वास्तविक व्यक्तित्व

का स्वरूप सामने रख कर उसकी व्याख्या कर देता है। वह यह नहीं कहता कि जगत् वृथा है और उसका अस्तित्व नहीं है, किन्तु कहता है, "जगत् क्या है, यह समझो, जिससे वह तुम्हारा कोई अनिष्ट न कर सके।" उस वाणी ने उपकोशल से यह नहीं कहा था कि सूर्य, चन्द्र, विद्युत अथवा और कुछ, जिसकी वे उपासना करते थे, वह एकदम भूल है, किन्तु यही कहा कि जो चैतन्य सूर्य, चन्द्र, विद्युत, अग्नि और पृथिवी के भीतर है, वही उसके अन्दर भी है। अतएव उपकोशल की दृष्टि में सभी मानो रूपान्तरित हो गया! जो अग्नि पहले केवल हवन करने के जड़ अग्नि-मात्र थी, उसने एक नय रूप धारण कर लिया और वह ईश्वर हो गयी। पृथिवी ने एक नया रूप धारण कर लिया, प्राण, सूर्य, चन्द्र, तारा, विद्युत सभी ने एक नया रूप धारण कर लिया, सब ब्रह्मभावापन्न हो गये और तभी उनका वास्तविक स्वरूप समझ में आया। वेदान्त का उद्देश्य ही इन सब वस्तुओं में भगवान् का दर्शन करना है, उनका जो रूप आपातत: प्रतीत होता है, वह न देखकर उनको उनके प्रकृत स्वरूप में जानना है। तदन्तर उपनिषदों में एक दूसरा उपदेश है : 'जो आंखों में चमक रहा है, वह ब्रह्म है; वह रमणीय और ज्योतिर्मय है। वह सम्पूर्ण जगत् में प्रकाशित हो रहा है।' यहां भाष्यकार कहता है, पवित्रात्मा पुरुषों की आंखों में जो एकविशेष प्रकार की ज्योति का आविर्भाव होता है, वह वास्तव में अन्तःस्थ सर्वव्यापी आत्मा की ही ज्योति है। वह ज्योति ही ग्रहों, सूर्य-चन्द्र और तारों में प्रकाशित हो रही है।

अब मैं तुम लोगों से जन्म-मृत्यु आदि के सम्बन्ध में इन प्राचीन उपनिषदों की कुछ अद्भुत कथाएं कहूंगा। शायद ये तुमको अच्छी लगें। श्वेतकेतु पांचालराज के पास गया। राजा ने उससे पूछा, "क्या तुम जानते हो मृत्यु होने के पश्चात् मनुष्य कहां जाते हैं ? क्या जानते हो कि वे किस प्रकार फिर लौट आते हैं ? क्या जानते हो कि परलोक एकदम भर क्यों नहीं जाता ?" बालक ने कहा, "नहीं, मैं यह सब नहीं जानता।" उसने अपने पिता से जाकर यही सब प्रश्न पूछे। पिता ने कहा, "इन सब प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर तो मुझे भी मालूम नहीं।" तब वह राजा के पास लौट गया। राजा ने कहा, "यह ज्ञान ब्राह्मणों के पास कभी नहीं रहा, केवल राजागण ही इसे जानते थे, और इसी ज्ञान के बल पर राजागण पृथिवी पर शासन करते रहे हैं।" वह तब राजा के पास कुछ दिन रहा, क्योंकि राजा ने शिक्षा देने का वचन दिया। राजा ने कहा, 'हे गौतम परलोक अग्नि है। सूर्य ईंधन है। धूम्र किरणें हैं। दिन ज्वाला है। चन्द्रमा भस्म है। तारागण चिनगारियां हैं। इस अग्नि में देवता श्रद्धा की आहुति देते हैं, जिससे राजा सोम की उत्पत्ति होती है।" इसी प्रकार वह कहता गया, "तुम्हारा इस क्षुद्र अग्नि में होम करने का कोई प्रयोजन नहीं, सम्पूर्ण जगत् ही वह अग्नि है

और दिन-रात उसमें होम हो रहा है। देवता, मनुष्य सभी दिन-रात उसी की उपासना करते हैं। मनुष्य का शरीर ही अग्नि का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है।'' हम यहां भी देखते हैं कि धर्म को व्यवहार में परिणत किया जा रहा है, ब्रह्म को प्रत्येक वस्तु में देखा जा रहा है। इन सब रूपकों में यही एक तत्व निहित है कि आविष्कृत प्रतीक हितकारी और शुभ हो सकते हैं, किन्तु उनसे भी श्रेष्ठ प्रतीक पहले से ही विद्यमान है। यदि ईश्वरोपासना करने के लिए प्रतिमा आवश्यक है, तो उससे कहीं श्रेष्ठ मानव-प्रतिमा मौजूद ही है। यदि ईश्वरोपासना के लिए मन्दिर निर्माण करना चाहते हो, तो करो, किन्तु सोच लो कि उससे भी उच्चतर, उससे भी महान् मानव देह रूपी मन्दिर तो पहले से ही मौजूद है।

हम लोगों को याद रखना चाहिए कि वेद के दो भाग हैं – कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। उपनिषदों के अभ्युदय-काल में कर्म-काण्ड इतना जटिल और विस्तार-पूर्ण हो गया था कि उससे मुक्त होना असम्भव सा कार्य हो गया। उपनिषदों में कर्मकाण्ड बिलकुल छोड़ दिया गया है ऐसा कहा जा सकता है, किन्तु धीरे-धीरे; और प्रत्येक कर्मकाण्ड के अन्दर एक उच्चतर अर्थगाम्भीर्य दिखाने की चेष्टा की गयी है। अत्यन्त प्राचीनकाल में यह सब यज्ञादिक कर्मकाण्ड प्रचलित थे, किन्तु उपनिषद्काल में ज्ञानियों का अभ्युदय हुआ। उन लोगों ने क्या किया ? आधुनिक सुधारकों के समान उन लोगों ने यज्ञादि के विरुद्ध प्रचार करके उसे एकदम मिथ्या या पाखण्ड कहकर उड़ा देने की चेष्टा नहीं की, किन्तु उन्हीं का उच्चतर तात्पर्य समझाकर लोगों को एक ग्रहण करने योग्य वस्तु दी। उन्होंने कहा, 'अग्नि में हवन करो, बहुत अच्छी बात है, किन्तु इस पृथिवी पर दिन रात हवन हो रहा है। यह क्षुद्र मन्दिर है, ठीक है, किन्तु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही हमारा मन्दिर है, हम कहीं भी उपासना कर सकते हैं। तुम लोग वेदी बनाते हो – किन्तु हम लोगों के मत में, जीवित चेतन मनुष्य देह रूपी वेदी वर्तमान है और इस मनुष्य देह रूपी वेदी पर की गयी पूजा, दूसरी अचेतन, मृतजड़ प्रतीक की पूजा की अपेक्षा श्रेयस्कर है।

अब मैं एक विचित्र सिद्धान्त की चर्चा करूंगा।

मैं स्वयं ही इसका अधिकांश नहीं समझता। उपनिषद् का यह अंश मैं पढ़ता हूं, तुम लोग इसे कुछ समझ सको तो समझो। जो व्यक्ति ध्यान-बल से विशुद्धचित होकर ज्ञानलाभ कर चुका है, वह जब मरता है, तो पहले अर्चि, उसके बाद दिन, फिर क्रमशः शुक्लपक्ष में और उत्तरायण षण्मास में जाता है; वहां से संवत्सर, संवत्सर से सूर्यलोक, और सूर्यलोक से चन्द्रलोक, तथा चन्द्रलोक से विद्युल्लोक में जाता है। वहां से एक दिव्य पुरुष उसे ब्रह्मलोक में ले जाते हैं। इसी का नाम देवयान है। जब साधु

और ज्ञानियों की मृत्यु होती है, तो वे इसी मार्ग द्वारा जाते हैं; और फिर वापस नहीं आते। इन मास, संवत्सर आदि शब्दों का क्या अर्थ है, यह कोई भी भली-भांति नहीं समझता। सभी अपने-अपने मस्तिष्क से कल्पित अर्थ लगाते रहते हैं। बहुत से लोग यह भी कहते हैं कि ये बेकार की बातें है। इन चंद्रलोक, सूर्यलोक आदि में जाने का क्या अर्थ है ? और यह दिव्यपुरुष आकर विद्युल्लोक से ब्रह्मलोक में ले जाता है, इसका भी क्या अर्थ है ? हिन्दुओं में एक धारणा थी कि चन्द्रलोक मे जीवन है – इसके बाद हम लोग यह देखेगे कि किस प्रकार चन्द्रलोक से पतित होकर मनुष्य पृथिवी पर वापस आता है। जो ज्ञान प्राप्त नहीं करते है किन्तु इस जीवन मे शुभ कर्म कर चुके हैं, वे जब मरते है, तो पहले धूम्र मे जाते हैं, फिर रात्रि में, तदन्तर कृष्ण-पक्ष, फिर दक्षिणायन षण्मास, और उसके बाद संवत्सर में से होकर वे पितृलोक में चले जाते हैं। वहां से आकाश में और फिर वे चन्द्रलोक में गमन करते हैं। वहां देवताओं के खाद्य रूप होकर देवजन्म ग्रहण करते हैं जब तक उनका पुण्य क्षय नहीं होता, तब तक वहीं रहते हैं। कर्मफल समाप्त होने पर फिर उन्हें पृथिवी पर आना पड़ता है। वे पहले आकाश रूप में परिणत होते हैं, फिर वायु में, फिर धूम्र, उसके बाद मेघ आदि के रूप में परिणत होकर अन्त में, वृष्टिकण का आश्रय लेकर पृथिवी पर गिर पडते हैं, वहां शस्यक्षेत्र मे गिरकर शस्य-रूप में परिणत होकर मनुष्य के खाद्य-रूप मे परिगृहीत होते हैं और अन्त में उनकी सन्तानादि बन जाते है। जिन लोगों ने खूब सत्कर्म किये थे, वे सद्वंश में जन्म ग्रहण करते हैं और जिन लोगो ने अत्यन्त असत् कर्म किये थे, उनका अत्यन्त नीच जन्म होता है, यहां तक कि उनको कभी-कभी पशु जन्म लेना पडता है। पशु बार-बार जन्म ग्रहण करते रहते है तथा बार-बार मृत्यु के मुह में पडते रहते हैं। इसी कारण पृथिवी न तो एकदम सूनी होती है और न परिपूर्ण ही।

हम लोग इससे भी कुछ विचार प्राप्त कर सकते हैं और बाद में शायद हम इसको अधिक समझ सकेगे। अभी हम इसके अर्थ पर कुछ अटकल लगा सकते है। स्वर्ग मे जाकर जीव फिर से किस प्रकार लौट आते है। इससे सम्बन्ध रखनेवाला अंश पहले अश की अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है, किन्तु इन सब उक्तियों का सार तत्व यही जान पडता है कि ब्रह्मानुभूति के बिना स्वर्गादि प्राप्ति स्थायी नहीं होती। ऐसे व्यक्ति जिन्हें अभी तक ब्रह्मानुभव नहीं हो सका, किन्तु इस लोक में सत्कर्म कर चुके हैं और वह कर्म भी सकाम किया गया है, तो मृत्यु होने पर इधर-उधर अनेक स्थानों में घूम फिरकर स्वर्ग पहुंचते है और हम लोग जिस प्रकार पैदा होते हैं ठीक उसी प्रकार वे भी देवताओं की सन्तान के रूप में पैदा होते हैं, और जितने दिन उनके शुभ कर्मफल की समाप्ति नहीं होती, उतने दिन में वहां रहते हैं। इसी से वेदान्त का

एक मूल तत्व यह पाया जाता है कि जिसका नाम रूप है, वही नश्वर है। अतएव स्वर्ग भी नश्वर होगा, क्योंकि उसका भी तो नाम-रूप है, अनन्त स्वर्ग स्वविरोधी वाक्य मात्र है, जिस प्रकार यह पृथिवी अनन्त नहीं हो सकती; क्योंकि जिस वस्तु का भी नाम-रूप है, उसी की उत्पत्ति काल में है, स्थिति काल में है, विनाश काल में है। वेदान्त का यह स्थिर सिद्धान्त है – अतएव अनन्त स्वर्ग की धारणा व्यर्थ है।

वेद के संहिता भाग में चिंरतन स्वर्ग का वर्णन है, जिस प्रकार मुसलमान और ईसाइयों के धर्म-ग्रंथों में है। मुसलमानों की स्वर्ग-धारणा और भी स्थूल है। वे लोग कहते हैं, स्वर्ग में बाग-बगीचे हैं, उनके नीचे नदियां बह रही हैं। अरबवासियों के रेगिस्तान में जल एक बहुत ही वांछनीय पदार्थ है। इसीलिए मुसलमान सदा जलपूर्ण स्वर्ग की कल्पना करते हैं। मेरा जहां जन्म हुआ, वहां साल में छः महीने जल बरसता रहता है। मैं स्वर्ग की कल्पना में शायद शुष्क स्थान सोचूंगा, अंग्रेज भी यह सोचेंगे। संहिता का यह स्वर्ग अनन्त है, वहां मृत व्यक्ति जाकर रहते हैं। वे लोग वहां सुन्दर देह पाकर अपने पितृगण के साथ अत्यन्त सुख सहित चिरकाल तक रहते हैं, वहां उनके माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि भी आ मिलते हैं; और वे बहुत कुछ यहीं के समान रहते हैं; हां, उनका जीवन अपेक्षाकृत अधिक सुखमय होता है। उन लोगों की स्वर्ग की धारणा भी यही है कि इस जीवन में सुखप्राप्ति में जो सब विघ्न-बाधाएं हैं, वे सब मिट जाएंगी, केवल इसका जो सुखमय अंश है, वह शेष रहेगा। स्वर्ग की यह धारणा हमें सुखकर भले ही प्रतीत हो, किन्तु सुखकर और सत्य ये दोनों पूर्ण रूप से भिन्न वस्तुएं हैं। वास्तव में चरम सीमा पर पहुंचे बिना सत्य कभी सुखकर नहीं होता। मनुष्य का स्वभाव बड़ा रूढ़िवादी है। मनुष्य कोई विशेष काम करता रहता है तो एक बार उसे शुरू करने पर फिर उसे छोड़ना उसके लिए बहुत कठिन हो जाता है। मन कोई नया विचार नहीं ग्रहण करता, क्योंकि वह बहुत कष्टकर होता है।

उपनिषदों मे हमें पूर्वप्रचलित धारणाओं की तुलना में विराट अंतर मिलता है। उपनिषदों में कहा है, यह सब स्वर्ग जहां मनुष्य जाकर पितृगण के साथ रहता है, कभी नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि नाम-रूपात्मक सभी वस्तुएं अनित्य हैं। यदि स्वर्ग साकार है, तो काल के अनुसार उस स्वर्ग का अवश्य नाश होगा। हो सकता है, वह लाखों वर्ष रहे, किन्तु अन्त में ऐसा एक समय अवश्य आयेगा कि उसका नाश होगा, और अवश्य होगा। इसी के साथ एक और भी धारणा लोगों के मन में आयी और वह यह कि ये सब आत्माएं दुबारा इसी पृथिवी पर लौट आती हैं। स्वर्ग केवल उनके शुभ कर्मों के फलभोग का स्थान मात्र है, फलभोग शेष होने पर वे फिर पृथिवी पर ही जन्म ग्रहण करती है। एक बात इसी से स्पष्ट प्रतीत होती है कि मनुष्य को अत्यन्त

प्राचीनकाल से ही कार्य-कारण-विज्ञान विदित था। बाद में हम लोग देखेंगे कि हमारे दार्शनिकों ने इसी तत्व का वर्णन दर्शन तथा न्याय की भाषा में किया है, किन्तु इस स्थान में मानो एक शिशु की अस्पष्ट भाषा में इसे कहा गया है। इन ग्रंथों का पाठ करते समय तुमको लगेगा कि ये सब तत्व आंतरिक अनुभूति के फलस्वरूप हैं। यदि तुम यह पूछो कि ये सब कार्य रूप में परिणत हो सकते हैं या नहीं, तो मैं कहूंगा कि पहले ये सब कार्य रूप में परिणत हुए है और बाद में दर्शन के रूप में आविर्भूत हुए है। तुमने देखा कि ये सब पहले अनुभूत हुए, बाद में लिखे गये। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्राचीन ऋषियों के साथ मानो बातें करता था। पक्षिगण उनसे बोलते, पशुगण भी उनसे बातचीत करते और चन्द्र-सूर्य से भी उनका सम्भाषण होता था। उन्होने क्रमशः समस्त वस्तुओं का अनुभव किया और वे प्रकृति के अन्तस्तल में प्रविष्ट हो गये। उन्होंने सत्य की उपलब्धि चिन्तन अथवा तर्क द्वारा, या आजकल की प्रथा के अनुसार दूसरो के विचारों द्वारा रचित ग्रंथों अथवा मैं आज जैसे उन्हीं के एक ग्रंथ को लेकर लम्बी चौडी वक्तृता दे डालता हूं, ऐसी वक्तृताओं द्वारा नहीं की थी, वरन् धैर्ययुक्त अनुसंधान और आविष्कार द्वारा की थी। इसकी सारस्वरूप पद्धति थी साधना – और चिरकाल तक वहीं रहेगी। धर्म सदैव एक व्यावहारिक विज्ञान रहा है; शास्त्र पर निर्भर रहनेवाला धर्म न कोई कभी हुआ है, न होगा। पहले साधना, उसके बाद ज्ञान। जीवगण यहां लौट आते हैं, यह धारणा मैं पहले से ही विद्यमान पाता हूं। जो फल की कामना से कुछ सत्कर्म करते हैं, उन्हें उस सत्कर्म का फल प्राप्त होता है, किन्तु यह फल नित्य नहीं होता। कार्य-कारणवाद यहां बहुत सुन्दर रूप में वर्णित हुआ है, क्योंकि कहा गया है कि कार्य कारण के अनुसार ही होता है। जैसा कारण है, कार्य भी वैसा ही होगा; कारण जब अनित्य है, तो कार्य भी अनित्य है। कारण नित्य होने पर कार्य भी नित्य होगा। किन्तु सत्कर्म रूपी ये कारण ससीम हैं, अतएव उनका फल भी कभी असीम नहीं हो सकता।

इस तत्व का एक और पहलू देखने से यह भली-भांति समझ में आ जाएगा कि जिस कारण चिरंतन स्वर्ग नहीं हो सकता, उसी कारण चिरंतन नरक भी नहीं हो सकता। मान लो, मैं एक बहुत दुष्ट आदमी हूं और समस्त जीवन अन्यायपूर्ण कर्म करता रहा हूं, तो भी यह सारा जीवन अनन्त-जीवन के साथ तुलना करने पर कुछ भी नहीं है। यदि दण्ड अनन्त हो, तो इसका यह अर्थ होगा कि ससीम कारण से असीम फल की उत्पत्ति हुई। इस जीवन के ससीम कार्य रूप कारण द्वारा असीम फल की उत्पत्ति हुई। यह नहीं हो सकता। यदि यह मान लिया जाए कि समस्त जीवनपर्यन्त सत्कर्म करते रहने पर अनन्त स्वर्ग लाभ होता है, तो भी यह दोष बना रहेगा। किन्तु

उन लोगों के लिए, जिन्होंने सत्य को जान लिया है, और भी एक तीसरा मार्ग है। मायावरण से बाहर निकलने का यही एकमात्र मार्ग है – 'सत्य का अनुभव करना।' और सब उपनिषद्, यह सत्यानुभव किसे कहते हैं, यही समझाते हैं।

अच्छा बुरा कुछ न देखो, सभी वस्तुएं और सभी कार्य आत्मा से उत्पन्न होते हैं, यही विचार करो। आत्मा सभी में है। यही कहो कि जगत् नामक कोई चीज नहीं है। बाह्य दृष्टि बन्द करो; उसी प्रभु की स्वर्ग और नरक में, मृत्यु और जीवन में सर्वत्र उसी की उपलब्धि करो। मैंने पहले जो तुम्हें पढकर सुनाया है, उसमें भी यही भाव है – यह पृथिवी उसी भगवान् का एक प्रतीक है, आकाश भी भगवान् का एक दूसरा प्रतीक है, इत्यादि-इत्यादि। ये सब ब्रह्म हैं। परन्तु यह देखना पड़ेगा, अनुभव करना पड़ेगा, इस विषय की केवल आलोचना अथवा चिन्ता करने से कुछ नहीं होगा। मान लो, जब आत्मा ने जगत् की प्रत्येक वस्तु का स्वरूप समझ लिया और उसे यह अनुभव होने लगा कि प्रत्येक वस्तु ही ब्रह्ममय है, तब वह स्वर्ग में जाए अथवा नरक में, या अन्यत्र और कहीं चली जाए, तो इससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं। मैं पृथिवी पर जन्मूं अथवा स्वर्ग में जाऊं, इससे कोई अन्तर नहीं होता। मेरे लिए ये सब निरर्थक हैं, क्योंकि मेरे लिए सभी स्थान समान हैं, सभी स्थान भगवान् के मन्दिर हैं, सभी स्थान पवित्र हैं, कारण स्वर्ग, नरक अथवा अन्यत्र मैं केवल भगवत्सत्ता का ही अनुभव कर रहा हूं। भला-बुरा अथवा जीवनमरण मुझे कुछ नहीं दिखायी देते, एकमात्र ब्रह्म का अस्तित्व है। वेदान्त-मत में मनुष्य जब ऐसी अनुभूति प्राप्त कर लेता है, तब वह मुक्त हो जाता है और वेदान्त कहता है, केवल वही व्यक्ति संसार में रहने योग्य है, दूसरा नहीं। जो व्यक्ति जगत् में केवल अशुभ देखता है, वह भला संसार में कैसे वास कर सकता है ? उसका जीवन तो सर्वदा दुःखमय होगा। जो व्यक्ति यहां अनेकानेक विघ्न-बाधाओं तथा विपत्तियों को देखता है, मृत्यु देखता है, उसका जीवन तो दुःखमय होगा ही, परन्तु जो व्यक्ति प्रत्येक वस्तु में उसी सत्यस्वरूप को देखता है, वही संसार में रहने योग्य है; वही यह कह सकता है कि मैं इस जीवन का उपयोग कर रहा हूं, मैं इस जीवन में खूब सुखी हूं। यहां मैं यह कह देना चाहता हूं कि वेद में कहीं भी नरक का उल्लेख नहीं है। वेद के बहुत परवर्तीकाल में रचित पुराणों में यह नरक प्रसंग दिया गया है। वेद में सबसे बडा दण्ड है – पुनर्जन्म अर्थात् इस जगत् में एक बार और आना, यहां एक दूसरा अवसर पाना। हम देखते हैं कि पहले से ही यह निर्गुण भाव चलता आ रहा है। पुरस्कार और दण्ड का भाव बहुत ही जड़ भावात्मक है और यह भाव केवल मनुष्य के समान सगुण ईश्वरवाद में ही सम्भव है – जो ईश्वर हमारे समान एक को प्रेम करते हैं, दूसरे को नहीं। इस प्रकार की ईश्वर-धारणा के साथ

ही पुरस्कार और दण्ड का भाव संगत हो सकता है। संहिताओं में ईश्वर का वर्णन इसी प्रकार दिया गया है। वहां इस धारणा के साथ भय भी मिला हुआ था, किन्तु उपनिषदों में यह भयभाव बिलकुल नहीं मिलता; इसके साथ ही उपनिषदों में हम निर्गुण की धारणा पाते हैं – और प्रत्येक दशा में यह निर्गुण की धारणा ही विशेष कठिन होती है। मनुष्य सर्वदा ही सगुण से चिपका रहना चाहता है। बहुत बडे-बडे विचारक भी, कम से कम संसार जिन्हें बहुत बडे विचारक मानता है, इस निर्गुण ईश्वर से सहमत नहीं है। किन्तु देहधारी ईश्वर की कल्पना मुझे अत्यन्त हास्यास्पद प्रतीत होती है। उच्चतर भाव कौन सा है – जीवित ईश्वर या मृत ईश्वर ? – जिस ईश्वर को कोई देख नहीं सकता, जान नहीं पाता – अथवा जो ईश्वर हमारे सम्मुख चारों ओर प्रकट एवं ज्ञात है ?

निर्गुण ईश्वर जीवंत ईश्वर है, वह एक तत्व मात्र है। सगुण-निर्गुण के बीच मे भेद यही है कि सगुण ईश्वर मानवविशेष मात्र है, और निर्गुण ईश्वर है मनुष्य, पशु, देवता तथा कुछ और अधिक जो हम नहीं देख पाते हैं, क्योंकि सगुण निर्गुण के अंतर्गत है और निर्गुण सगुण व्यष्टि, समष्टि एव उसके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है। 'जिस प्रकार एक ही अग्नि जगत् में भिन्न-भिन्न रूप में प्रकाशित होती है, और उसके अतिरिक्त भी अग्नि का अस्तित्व है, इसी प्रकार निर्गुण भी है।' हम जीवित ईश्वर की पूजा करना चाहते हैं। मैंने सम्पूर्ण जीवन ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखा। तुमने भी नहीं देखा। इस कुर्सी को देखने से पहले तुम्हें ईश्वर को देखना पडता है, उसके बाद उसी में और उसके माध्यम से कुर्सी को देखना पडता है। वह दिन-रात जगत् मे रहकर प्रतिक्षण 'मैं हूं' 'मैं हूं' कह रहा है। जिस क्षण तुम बोलते हो 'मै हूं', उसी क्षण तुम उस सत्ता को जान रहे हो। तुम ईश्वर को कहां ढूंढने जाओगे, यदि तुम उसे अपने हृदय में, हर प्राणी मे नहीं देख पाते ? त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि, त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।। – – 'तुम स्त्री, तुम पुरुष, तुम कुमार, तुम कुमारी हो, तुम्हीं वृद्ध होकर लाठी के सहारे चल रहे हो, तुम्हीं सम्पूर्ण जगत् में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हुए हो। तुम्हीं यह सब हो।' कितना अद्भुत 'जीवित ईश्वर' है – संसार में वह ही एक मात्र सत्य है। यह धारणा अनेक लोगो को उस परंपरीण ईश्वर से घोर विरोधात्मक लगती है, जो किसी विशेष स्थान में किसी पर्दे के पीछे छिपा बैठा है, और जिसे कोई नहीं देख सकता। पुरोहित लोग हमे केवल यही आश्वासन देते हैं कि यदि हम लोग उनका अनुसरण करें, उनकी भर्त्सना सुनते रहें, और उनके द्वारा निर्दिष्ट लीक पर चलते रहें, तो मरते समय वे हमे एक मुक्ति पत्र देंगे और तब हम ईश्वर-दर्शन कर सकेंगे। इससे यह

स्पष्ट हो जाता है कि यह सारा स्वर्गवाद इस अनर्गल पुरोहित-प्रपंच के विविध रूपों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

निर्गुणवाद निस्सन्देह अनेक चीजें नष्ट कर डालता है; वह पुरोहितों, धर्मसंघों और मन्दिरो के हाथ से सारा व्यवसाय छीन लेता है। भारत में इस समय दुर्भिक्ष है, किन्तु वहां ऐसे बहुत से मन्दिर हैं, जिनमें से प्रत्येक में एक राजा को भी खरीद लेने योग्य बहुमूल्य रत्नों की राशि सुरक्षित है। यदि पुरोहित लोग इस निर्गुण ब्रह्म की शिक्षा दें, तो उनका व्यवसाय छिन जाएगा। किन्तु हमें उसकी शिक्षा निःस्वार्थ भाव से, बिना पुरोहित-प्रपंच के देनी होगी। तुम भी ईश्वर, मैं भी वहीं – तब कौन किसकी आज्ञा पालन करे ? कौन किसी उपासना करे ? तुम्हीं ईश्वर के सर्वश्रेष्ठ मन्दिर हो; मैं किसी मन्दिर, किसी प्रतिमा या किसी बाईबिल की उपासना न कर तुम्हारी ही उपासना करूंगा। लोग इतना परस्पर विरोधी विचार क्यों करते हैं ? लोग कहते हैं, हम ठेठ प्रत्यक्षवादी हैं; ठीक बात है, किन्तु तुम्हारी उपासना करने की अपेक्षा और अधिक प्रत्यक्ष क्या हो सकता है ? मैं तुम्हें देख रहा हूं, तुम्हारा अनुभव कर रहा हूं और जानता हूं कि तुम ईश्वर हो। मुसलमान कहते हैं अल्लाह के सिवाय और कोई ईश्वर नहीं है; किन्तु वेदान्त कहता है, ऐसा कुछ है ही नहीं जो ईश्वर न हो। यह सुनकर तुममें से बहुतों को भय हो सकता है, किन्तु तुम लोग धीरे-धीरे यह समझ जाओगे। जीवित ईश्वर तुम लोगों के भीतर रहते हैं, तब भी तुम मन्दिर, गिरजाघर आदि बनाते हो और सब प्रकार की काल्पनिक झूठी चीजों में विश्वास करते हो। मनुष्य देह में स्थित मानव-आत्मा ही एकमात्र उपास्य ईश्वर है। पशु भी भगवान् के मन्दिर हैं, किन्तु मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है – ताजमहल जैसा। यदि मैं उसकी उपासना नहीं कर सका, तो अन्य किसी भी मन्दिर से कुछ भी उपकार नहीं होगा। जिस क्षण मैं प्रत्येक मनुष्य देहरूपी मन्दिर में उपविष्ट ईश्वर की उपलब्धि कर सकूंगा, जिस क्षण मैं प्रत्येक मनुष्य के सम्मुख भक्तिभाव से खड़ा हो सकूंगा और वास्तव में उनमें ईश्वर देख सकूंगा, जिस क्षण मेरे अन्दर यह भाव आ जाएगा उसी क्षण मैं सम्पूर्ण बंधनों से मुक्त हो जाऊंगा – बांधनेवाले पदार्थ हट जाएंगे और मैं मुक्त हो जाऊंगा।

यही सबसे अधिक व्यावहारिक उपासना है। मत-मतान्तर से इसका कोई प्रयोजन नहीं। किन्तु यह बात कहने से अनेक लोग डर जाते हैं। वे कहते हैं, यह ठीक नहीं है। उनके पितामह जनों ने उन्हें जो यह बतला दिया था कि स्वर्ग के किसी स्थान पर बैठे हुए एक ईश्वर ने किसी व्यक्ति से कहा – मैं ईश्वर हूं, और वे उसी के सम्बन्ध में बौद्धिक माथापच्ची किये चले आ रहे हैं। उसी समय से केवल मत-मतान्तरों की आलोचना ही चल रही है। उनके मत में यही व्यावहारिक बात है –

और हम लोगों का मत व्यावहारिक नहीं है। वेदान्त कहता है, सब अपने-अपने मार्ग पर चलें, कोई हरज नहीं है, किन्तु मार्ग ही लक्ष्य नहीं है। किसी स्वर्गस्थ ईश्वर की उपासना करना आदि बुरा नहीं, किन्तु ये सब केवल सत्य की दिशा में सोपान मात्र है, साध्य सत्य नहीं। ये सब सुन्दर एवं शुभ हैं, इनमें कुछ अद्भुत भाव हैं, किन्तु वेदान्त पग-पग पर कहता है, 'बन्धु. तुम जिसकी अज्ञात कहकर उपासना करते हो, उसकी उपासना मैं तुम्हारे रूप में करता हूं। जिसकी उपासना तुम अज्ञात कह कर करते हो और जिसकी खोज विश्व भर में कर रहे हो, वह सदैव तुम्हारे पास ही रहा है। तुम उसी में जीवित हो, वह जगत् का नित्यसाक्षी है।' 'सम्पूर्ण वेद जिसकी उपासना करते हैं, केवल यही नहीं, जो नित्य 'मैं' में सदा वर्तमान है, वह ही है; उसके होने से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी है। वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रकाश और प्राण है। यदि (वह) 'मैं' तुम्हारे भीतर न हो तो तुम सूर्य को भी न देख पाते, सभी कुछ तुम्हारे लिए अंधकारमय जडराशि – शून्य के समान प्रतीत होता। वह प्रकाशमान है, इसीलिए तुम जगत् को देख पाते हो।'

इस विषय में साधारणतया एक प्रश्न पूछः जाता है और वह यह है कि इस विचार-धारा से बहुत गड़बडी हो जाने की संभावना है। हम सभी यह सोचेंगे कि मैं ईश्वर हूं – जो कुछ मैं सोचता हूं या करता हूं वही अच्छा है – क्योंकि ईश्वर को भला पाप क्या ? इसका उत्तर यह है कि पहले यदि इस प्रकार की विपरीत व्याख्यारूप आशंका की संभावना मान भी ली जाए, तब भी क्या यह प्रमाणित किया जा सकता है कि दूसरे पक्ष में भी यही आशंका नहीं उत्पन्न होगी ? लोग अपने से पृथक स्वर्गस्थित ईश्वर की उपासना करते हैं, उससे खूब डरते भी हैं। लोग भय से कांपते रहते हैं और सारा जीवन इसी प्रकार कांपते हुए काट देते हैं। तो क्या दुनिया ऐसा मान लेने पर भी पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी हो गयी है ? तुम भी दूसरे से यही पूछ रहे थे। विचार करो कि जो ईश्वर को सगुण मानकर उसकी उपासना करते हैं और जो उसे निर्गुण मान कर उसकी उपासना करते हैं, इन दोनों में किसके सम्प्रदाय में संसार के बडे-बड़े महापुरुष हो गये हैं ? महान् कर्मयोगी – महान् चरित्रवान् ! निश्चय ही ऐसे महापुरुष निर्गुण साधकों के बीच ही हुए हैं। भय से तुम नैतिकता के प्रस्फुटन की संभावना कैसे मान सकते हो ? नहीं, कभी नहीं। "जहां एक-दूसरे को देखता है, जहां एक दूसरे को सुनाता है, वही माया है। जहां एक-दूसरे को नहीं देखता, एक दूसरे को सुनता नहीं, जहां सर्व आत्ममय हो जाता है, वहां कौन किसे देखेगा, कौन किसे सुनेगा ?'' तब सभी 'वह' अथवा सभी 'मैं' हो जाता है। तब आत्मा पवित्र हो जाती है। तभी – और केवल तभी हम प्रेम किसे कहते हैं, यह समझ सकते हैं। डर

से क्या प्रेम हो सकता है ? प्रेम की भित्ति है, स्वाधीनता। स्वाधीनता – मुक्तस्वभाव होने पर ही प्रेम होता है। जब हम लोग वास्तव में जगत् को स्नेह करना प्रारम्भ करते हैं, तभी विश्वबन्धुत्व का अर्थ समझते हैं – अन्यथा नहीं।

इसलिए यह कहना उचित नहीं है कि इस निर्गुण मत से समस्त संसार में भयानक पाप-धारा बह उठेगी, जैसे दूसरे मत से दुनिया कभी अन्याय की ओर गयी ही नहीं अथवा वह सारी दुनिया को रक्त से आप्लावित तथा मनुष्य को परस्पर टुकड़े टुकड़े कर डालनेवाली साम्प्रदायिकता की ओर कभी ले ही नहीं गया। वे कहते हैं, मेरा ईश्वर ही सर्वश्रेष्ठ है। इसका प्रमाण ? आओ, हम दोनों लड़ लें – यही प्रमाण है। द्वैतवाद से यही गड़बड़ी सारी दुनिया में फैल गयी है। क्षुद्र और संकीर्ण रास्तों में न जाकर प्रशान्त उज्ज्वल दिन के प्रकाश में आओ। महान् अनन्त आत्मा संकीर्ण भावों में कैसे बंधी रह सकती है ? हमारे सम्मुख यह प्रकाशमय ब्रह्माण्ड है, इसकी प्रत्येक वस्तु हमारी है। अपनी बाहें फैलाकर सम्पूर्ण जगत् का प्रेमालिंगन करने की चेष्टा करो। यदि कभी ऐसा करने की इच्छा हो, तभी समझो कि तुम्हें ईश्वर का अनुभव हुआ है।

बुद्धदेव के उपदेश का वह अंश तुमको स्मरण होगा कि वे किस प्रकार उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, ऊपर, नीचे सर्वत्र ही प्रेम की भावना प्रवाहित कर देते थे, यहां तक कि चारों ओर वही महान् अनन्त प्रेम सम्पूर्ण विश्व में छा जाता था। इसी प्रकार जब तुम लोगों का भी यही भाव होगा, तब तुम्हारा भी यथार्थ व्यक्तित्व प्रकट होगा। तभी सम्पूर्ण जगत् एक व्यक्ति बन जाएगा – क्षुद्र वस्तुओं की ओर फिर मन नहीं जाएगा। इस अनन्त सुख के लिए छोटी-छोटी वस्तुओं का परित्याग कर दो। इन सब क्षुद्र सुखों से तुम्हें क्या लाभ होगा ? और वास्तव में तो तुम्हें इन छोटे-छोटे सुखों को भी छोड़ना नहीं पड़ता, कारण, तुम लोगों को कैसे याद होगा कि सगुण निर्गुण के अंतर्गत है, जो मैं पहले ही कह चुका हूं। अतएव ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों ही हैं। मनुष्य – अनन्तस्वरूप निर्गुण मनुष्य भी – अपने को सगुण रूप में, व्यक्ति रूप में देख रहा है; मानो हम अनन्तस्वरूप होकर भी अपने को क्षुद्र रूपों में सीमाबद्ध बना डालते हैं। वेदान्त कहता है कि असीमता ही हमारा सच्चा स्वरूप है, वह कभी लुप्त नहीं हो सकती, सदा रहेगी। किन्तु हम अपने कर्म द्वारा अपने को सीमाबद्ध कर डालते हैं और उसी ने मानो हमारे गले में शृंखला डाल कर हमें आबद्ध कर रखा है। शृंखला तोड़ डालो और मुक्त हो जाओ। नियम को पैरों तले कुचल डालो। मनुष्य के प्रकृतस्वरूप में कोई विधि नहीं, कोई दैव नहीं, कोई अदृष्ट नहीं। अनन्त में विधान या नियम कैसे रह सकते हैं ? स्वाधीनता ही इसका मूलमंत्र है, स्वाधीनता ही इसका

स्वरूप है – इसका जन्म सिद्ध अधिकार है। पहले मुक्त बनो, तब फिर जितने व्यक्तित्व रखना चाहो, रखो। तब हम लोग रंगमंच पर अभिनेताओं के समान अभिनय करेंगे, जैसे अभिनेता भिखारी का अभिनय करता है। उसकी तुलना गलियों में भटकनेवाले वास्तविक भिखारी से करो। यद्यपि दृश्य दोनों ओर एक है, वर्णन करने में भी एक सा है, किन्तु दोनों में कितना भेद है! एक व्यक्ति भिक्षुक का अभिनय कर आनन्द ले रहा है, और दूसरा सचमुच दुःख-कष्ट से पीड़ित है। ऐसा भेद क्यों होता है? कारण, एक मुक्त है और दूसरा बद्ध। अभिनेता जानता है कि उसका यह भिखारीपन सत्य नहीं है, उसने यह केवल अभिनय के लिए स्वीकार किया है, किन्तु यथार्थ भिक्षुक जानता है कि यह उसकी चिरपरिचित अवस्था है, एवं उसकी इच्छा हो या न हो, उसे वह कष्ट सहना ही पडेगा। उसके लिए यह अभेद्य नियम के समान है और इसीलिए उसे कष्ट उठाना ही पडता है। हम जब तक अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक हम लोग केवल भिक्षुक हैं, प्रकृति के अंतर्गत प्रत्येक वस्तु ने ही हमें दास बना रखा है। हम सम्पूर्ण जगत् में सहायता के लिए चीत्कार करते फिरते है – अन्त में काल्पनिक सत्ताओं से भी हम सहायता मांगते हैं, पर सहायता कभी नहीं मिलती; तो भी हम सोचते हैं कि इस बार सहायता मिलेगी। इस प्रकार हम सर्वदा आशा लगाये बैठे रहते हैं बस, इसी बीच एक जीवन रोते, कलपते, आशा की लौ लगाये बीत जाता हे और फिर वहीं खेल चलने लगता है।

स्वाधीन होओ; किसी दूसरे से कुछ आशा न करो। मैं यह निश्चित रूप से कह सकता हूं कि यदि तुम अपने जीवन की अतीत घटनाएं याद करो, तो देखोगे कि तुम सदैव व्यर्थ ही दूसरों से सहायता पाने की चेष्टा करते रहे, किन्तु कभी पा नहीं सके; जो कुछ सहायता मिली वह तुम्हारे अपने अन्दर से ही आयी थी। तुम स्वयं जिसके लिए चेष्टा करते हो, उसे ही फलरूप में पाते हो; तथापि कितना आश्चर्य है कि तुम सदैव ही दूसरे से सहायता की भीख मांगते रहते हो! धनियों की बैठक सदा भरी ही रहती है, किन्तु यदि ध्यान दो तो देखोगे, सदा वे ही लोग वहां दिखायी नहीं पडेंगे। किन्तु ऐसा कर नहीं पाते। हमारा जीवन भी उसी प्रकार का है, हम केवल आशाएं किये चले जा रहे हैं, उनका अन्त नहीं। वेदान्त कहता है, इसी आशा का परित्याग करो। क्यों आशा करते हो? तुम्हारे पास सब कुछ है। तुम्हीं सब कुछ हो। तुम आत्मा हो, तुम सम्राटस्वरूप हो, तुम भला किसकी आशा करते हो? यदि राजा पागल होकर अपने में 'राजा कहां है, राजा कहां है' कहकर खोजता फिरे, तो वह कभी राजा को नहीं पा सकता, क्योकि वह स्वयं ही राजा है। वह अपने राज्य के प्रत्येक ग्राम में, प्रत्येक नगर में – यहां तक कि प्रत्येक घर में खोज करे, खूब रोए – चिल्लाए

फिर भी राजा का पता नहीं लग सकता; क्योंकि वह व्यक्ति स्वयं ही राजा है। इसी प्रकार हम लोग यदि जान सकें कि हम ईश्वर हैं और इस अन्वेषणरूपी व्यर्थ चेष्टा को छोड़ सकें, तो बहुत ही अच्छा हो। इस प्रकार अपने को ईश्वरस्वरूप जान लेने पर ही हम सन्तुष्ट और सुखी हो सकते हैं। यह सब पागलों जैसी चेष्टा छोड़कर जगत्‌रूपी मंच पर एक अभिनेता के समान कार्य करते चलो।

इस प्रकार की अवस्था आने से हम लोगों की सम्पूर्ण दृष्टि परिवर्तित हो जाती है। अनन्त कारागारस्वरूप न होकर यह जगत् खेलने का स्थान बन जाता है। प्रतियोगिता की जगह न बनकर यह भौरों के गुंजन से परिपूर्ण वसन्तकाल का रूप धारण कर लेता है। पहले जो जगत् नरककुण्ड जैसा लगता था, वही अब स्वर्ग बन जाता है। बद्ध जीव की दृष्टि में यह एक महायंत्रणा का स्थान है, किन्तु मुक्त व्यक्ति की दृष्टि में यही स्वर्ग है; स्वर्ग अन्यत्र नहीं है। एक ही प्राण सर्वत्र विराजित है। पुनर्जन्म आदि जो कुछ है, सब यहीं होता है। देवतागण सब यहीं हैं – वे मनुष्य के आदर्श के अनुसार कल्पित हैं। देवताओं ने मनुष्यों को अपने आदर्श के अनुसार नहीं बनाया, किन्तु मनुष्यों ने ही देवताओं की सृष्टि की है। इन्द्र, वरुण और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के देवता सब यहीं हैं। तुम्हीं लोग अपने एक अशं को बाहर प्रक्षिप्त करते हो, किन्तु वास्तव में तुम्हीं असली वस्तु हो – तुम्हीं प्रकृत उपास्य देवता हो। यही वेदान्त का मत है और यही यथार्थ में व्यावहारिक है। मुक्त होने पर उन्मत्त होकर समाज त्याग करने और जंगलों अथवा गुफाओं में जाकर मर जाने की आवश्यकता नहीं। तुम जहां हो वहीं रहोगे, किन्तु भेद इतना ही होगा कि तुम सम्पूर्ण जगत् का रहस्य समझ जाओगे। पहले देखी हुई समस्त वस्तुएं जैसी की तैसी ही रहेंगी, किन्तु उनका एक नवीन अर्थ समझने लगोगे। तुम अभी जगत का स्वरूप नहीं जानते हो; केवल मुक्त होने पर ही इसका स्वरूप जान सकोगे। हम देखेंगे कि यह तथाकथित विधि, दैव या अदृष्ट हम लोगों की प्रकृति का एक अत्यन्त क्षुद्र अंश मात्र है। यह हम लोगों की प्रकृति का केवल एक पहलू मात्र है, दूसरी दिशा में मुक्ति सदा विद्यमान रही है और हम लोग शिकारी द्वारा पीछा किये गये खरगोश के समान मिट्टी में अपना सिर छिपाकर अपने को अशुभ से बचाने की चेष्टा करते रहे हैं।

हम भ्रमवश अपना स्वरूप भूलने की चेष्टा करते हैं, किन्तु वह एकदम भूला नहीं जा सकता – सदैव ही वह किसी न किसी रूप में हमारे सामने आता ही है। हम जिन देवता, ईश्वर आदि का अनुसन्धान करते हैं, बाह्यजगत् में स्वाधीनता पाने के लिए हम जो प्राणपण से चेष्टा करते रहते हैं, वह सब और कुछ नहीं – हम लोगों की मुक्त प्रकृति ही मानो किसी न किसी रूप में अपने को प्रकाशित करने का यत्न

कर रही है। कहां से यह आवाज आ रही है, यह जानने में हम लोगों ने भूल की है। हम लोग पहले सोचते हैं, यह आवाज अग्नि, सूर्य, चन्द्र, तारा अथवा किसी देवता से आती है – अन्त में हम लोग देखते हैं कि यह तो हम लोगों के अन्दर ही है। यह वही अनन्त-वाणी अनन्त-मुक्ति का समाचार देती है। यह संगीत अनन्तकाल से चला आ रहा है। आत्म संगीत का कुछ अंश इस नियमाबद्ध ब्रह्माण्ड, इस पृथिवी के रूप मे परिणत हुआ है, किन्तु यथार्थत: हम लोग आत्मस्वरूप हैं और चिरकाल तक आत्म-स्वरूप ही रहेंगे। एक शब्द में वेदान्त का आदर्श है – मनुष्य को उसके वास्तविक स्वरूप में जानना, और उसका सन्देश है कि यदि तुम अपने भाई मनुष्य की, व्यक्त ईश्वर की, उपासना नहीं कर सकते तो उस ईश्वर की कल्पना कैसे कर सकोगे, जो अव्यक्त है ?

क्या तुम लोगों को बाईबिल का वह कथन याद नहीं है, "यदि तुम अपने भाई को, जिसे तुम देख रहे हो, प्यार नहीं कर सकते, तो ईश्वर को, जिसे तुमने कभी नहीं देखा, भला कैसे प्यार कर सकोगे ?'' यदि तुम ईश्वर को मनुष्य के मुख में नहीं देख सकते, तो उसे मेघ अथवा अन्य किसी मृत जड़ पदार्थ में अथवा अपने मस्तिष्क की कल्पित कथाओं में कैसे देखोगे ? जिस दिन से तुम नर-नारियों में ईश्वर देखने लगोगे, उसी दिन से मैं तुम्हें धार्मिक कहूंगा, और तभी तुम लोग समझोगे कि दाहिने गाल पर थप्पड मारने पर मारनेवाले के सामने बायां गाल फिराने का क्या अर्थ है। जब तुम मनुष्य को ईश्वररूप में देखोगे, तब सभी वस्तुओं का, यहां तक कि यदि तुम्हारे पास बाघ तक आ जाए, तो उसका भी तुम स्वागत करोगे। जो कुछ तुम्हारे पास आता है, वह सब अनन्त आनन्दमय प्रभु का भिन्न-भिन्न रूप ही है – वे ही हमारे माता, पिता, बन्धु और सन्तान हैं। वे हमारी अपनी आत्मा ही हैं, जो हमारे साथ खेल रही हैं।

जिस तरह इस प्रकार मनुष्य के साथ हमारे संबधों को ईश्वरभावापन्न बनाया जा सकता है, उसी प्रकार ईश्वर से हमारा सम्बन्ध भी इनमें से कोई रूप ले सकता है और हम उसे अपना पिता, माता, मित्र, प्रियतम कुछ भी मान सकते हैं। भगवान् को पिता कहने की अपेक्षा एक और उच्चतर भाव है – उन्हें 'माता कहना। फिर इससे भी एक पवित्रतर भाव है – उन्हें 'सखा' कहना। उसकी अपेक्षा एक और श्रेष्ठ भाव है – उन्हें अपना प्रेमास्पद कहना। प्रेम और प्रेमास्पद में कुछ भेद न देखना ही सर्वोच्च भाव है। तुम लोगों को वह प्राचीन फारसी कहानी याद होगी। एक प्रेमी ने आकर अपने प्रेमास्पद के घर का दरवाजा खटखटाया। प्रश्न हुआ, "कौन है ?'' वह बोला, "मैं'' । द्वार नहीं खुला। दुबारा फिर उसने कहा, "मैं आया हूं'', पर द्वार फिर भी न खुला। तीसरी बार वह फिर आया, प्रश्न हुआ, "कौन है ?'' तब उसने

कहा, 'प्रेमास्पद, मैं तुम हूं'', तब द्वार खुल गया। भगवान् और हमारे बीच सम्बन्ध भी ठीक ऐसा ही है, वे सब में हैं और वे ही सब कुछ हैं। प्रत्येक नर-नारी ही वहीं प्रत्यक्ष जीवन्त आनन्दमय एकमात्र ईश्वर है। कौन कहता है, ईश्वर अज्ञात है, कौन कहता है उसे खोजना पड़ेगा ? हमने उसे अनन्तकाल के लिए पाया है। हम उसी में अनन्तकाल तक रहते हैं – वह सर्वत्र अनन्तकाल के लिए ज्ञात है और वही अनन्तकाल से उपासित हो रहा है।

एक और बात इसी प्रसंग में जाननी होगी। वेदान्त कहता है – दूसरे प्रकार की उपासनाएं भी भ्रमात्मक नहीं है। यह कभी न भूलना चाहिए कि जो अनेक प्रकार के कर्म-काण्ड द्वारा भगवत्-उपासना करते हैं – हम इन कर्मों को चाहे कितना ही अनुपयोगी क्यों न मानें – वे लोग वास्तव में भ्रान्त नहीं हैं; क्योंकि लोग सत्य से सत्य की ओर, निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर आगे बढ़ते हैं। अंधकार कहने से समझना चाहिए, स्वल्प प्रकाश; बुरा कहने से समझना चाहिए, थोड़ा अच्छा; अपवित्रता कहने से समझना चाहिए, स्वल्प पवित्रता। अतएव हमें दूसरों को प्रेम और सहानुभूति की दृष्टि से देखना चाहिए। हम लोग जिस रास्ते पर चल आये हैं, वे भी उसी रास्ते से चल रहे हैं। यदि तुम वास्तव में मुक्त हो, तो तुम्हें अवश्य ही यह समझना चाहिए कि वे भी आगे-पीछे मुक्त होंगे; और जब तुम मुक्त ही हो गये, तो फिर जो अनित्य है, उसे तुम किस प्रकार देख पाओगे ? यदि तुम वास्तव में पवित्र हो, तो तुम्हें अपवित्रता कैसे दिखायी दे सकती है ? क्योंकि जो भीतर है, वही बाहर दीख पड़ता है। हमारे अन्दर यदि अपवित्रता न होती तो हम उसे बाहर कभी देख ही न पाते। वेदान्त की यह भी एक साधना है। आशा है, हम लोग सभी जीवन में इसको व्यवहार में लाने की चेष्टा करेंगे। इसका अभ्यास करने के लिए सारा जीवन पड़ा है, किन्तु इन सब विचारों की आलोचना से हमें यह ज्ञात हुआ है कि अशान्ति और असंतोष के बदले हम शांति और संतोष के साथ कार्य करें; क्योंकि हमने जान लिया है कि सत्य हमारे अन्दर है – वह हमारा जन्मजात अधिकार है। हमारे लिए आवश्यक है, केवल उसको प्रकाशित करना, प्रत्यक्ष बनाना और अनुभव करना।

व्यावहारिक जीवन में वेदान्त – (3)

(17 नवम्बर, सन् 1896 ई० को लन्दन में दिया हुआ व्याख्यान)

देवर्षि नारद ने एक बार सनत्कुमार से कुछ प्रश्न पूछे। सनत्कुमार ने उन प्रश्नों का सटिक उत्तर दिया। सनत्कुमार अपने द्वारा दिये प्रश्नों के उत्तरों में देवर्षि नारद को सोपानारोपण न्याय के द्वारा आदि तत्वों से गुजार कर आकाश तत्व तक *जा पहुंचे थे। उन सभी बातों का छान्दोग्य उपनिषद् में सम्पूर्ण विवरण दिया गया* है। 'आकाश तेज से भी श्रेष्ठ है, कारण, आकाश में ही चन्द्र, सूर्य, विद्युत, नक्षत्र आदि सभी कुछ वर्तमान है। आकाश में ही हम जीवन धारण करते हैं, आकाश में ही मरते है।' अब प्रश्न यह है कि क्या आकाश से भी कुछ श्रेष्ठ है ? सनत्कुमार ने कहा, 'प्राण आकाश से भी श्रेष्ठ है।' वेदान्त मत में यह प्राण ही जीवन का मूल तत्व है। आकाश के समान यह भी एक सर्वव्यापी तत्व है, और हमारे शरीर में अथवा अन्यत्र जो भी गति दिखायी पड़ती है, वह सभी प्राण का कार्य है। प्राण आकाश से भी श्रेष्ठ है। प्राण के द्वारा ही सभी वस्तुएं जीवित रहती हैं, प्राण माता में, प्राण पिता में, प्राण भगिनी में, प्राण आचार्य में है, और प्राण ही ज्ञाता है।

मैं इसी उपनिषद् में से एक अंश और पढ़ूंगा। श्वेतकेतु अपने पिता आरुणि से सत्य के सम्बन्ध में प्रश्न करता है। पिता ने उसे अनेक विषयों की शिक्षा देकर अन्त में कहा, "इन सब वस्तुओं का जो सूक्ष्म कारण है, उसी से ये सब बनी हैं, यही सब कुछ है, यही सत्य है, हे श्वेतकेतु, तुम भी वही हो।" तदनन्तर उन्होंने अनेक उदाहरण दिये, 'हे श्वेतकेतु, जिस प्रकार मधुमक्षिका विभिन्न पुष्पों से मधु संचय कर एकत्र करती है एवं ये विभिन्न मधुकण जिस प्रकार यह नहीं जानते कि वे किस वृक्ष और किस पुष्प से आये है, उसी प्रकार हम सब उसी सत् से आकर भी उसे भूल गये हैं। जो सब का सूक्ष्म सार-तत्व है, उसी में समस्त सत्तावान् पदार्थों की आत्मा है। वही सत् है। वही आत्मा है, और हे श्वेतकेतु, तुम वही हो। जिस प्रकार विभिन्न नदियां समुद्र में मिल जाने के बाद नहीं जान पातीं कि वे कभी विभिन्न नदियां थीं, वैसे ही

हम सब उसी सत्स्वरूप से आकर भी यह नहीं जानते कि हम वही हैं। हे श्वेतकेतु, तुम वही हो।'' इस प्रकार पिता ने पुत्र को उपदेश दिया।

सम्पूर्ण ज्ञान-प्राप्ति के दो मूल सूत्र हैं। एक सूत्र तो यह है कि विशेष को सामान्य से और सामान्य को सर्वव्यापी तत्व की पृष्ठभूमि में जानना। दूसरा सूत्र यह है कि यदि किसी वस्तु की व्याख्या करना। पहले सूत्र के आधार पर हम देखते हैं कि हमारा सारा ज्ञान वास्तव में उच्च से उच्चतर होनेवाला वर्गीकरण मात्र है। जब कोई घटना अकेली घटती है, तो मानो हम असन्तुष्ट रहते हैं। जब यह दिखा दिया जाता है कि वही एक घटना बार-बार घटती है, तब हम संतुष्ट होते हैं और उसे नियम कहते हैं। जब हम एक पत्थर या सेब को जमीन पर गिरते देखते हैं, तब हम लोग असन्तुष्ट रहते हैं। किन्तु जब देखते हैं कि सभी सेब गिरते हैं, तो हम उसे गुरुत्वाकर्षण का नियम कहते हैं और संतुष्ट हो जाते हैं। हम विशेष से सामान्य का अनुमान करते हैं।

धर्म का अनुशीलन करने में हमें इसी वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करना चाहिए। वही सिद्धान्त यहां भी लागू होता है, और तथ्य यह है कि इसी पद्धति का उपयोग सर्वदा होता आया है। इन उपनिषदों में भी, जिनका अनुवाद मैं तुमको सुनाता रहा हूं, मुझे विशेष से सामान्य की ओर जाने का सिद्धान्त सर्वप्रथम मिलता है। हम इनमें देखते हैं कि किस प्रकार देवगण क्रमशः एक ही तत्व में विलीन हो जाते हैं, समग्र विश्व की धारणा में भी ये प्राचीन विचार क्रमशः उच्च से उच्चतर की ओर अग्रसर होते हैं – वे सूक्ष्म तत्वों से सूक्ष्मतर तथा अधिक व्यापक तत्वों की ओर बढ़ते हैं, इन विशेषों से अन्त में एक सर्वव्यापी आकाश तत्व प्राप्त कर लेते हैं, और वहां से भी आगे बढ़कर वे प्राण नामक सर्वव्यापिनी शक्ति में आ जाते हैं, और इन सभी में सर्वत्र यह सिद्धान्त विद्यमान रहता है कि कोई भी वस्तु अन्य सब वस्तुओं से अलग नहीं है। आकाश ही सूक्ष्मतर रूप में प्राण है और प्राण ही स्थूल बनकर आकाश होता है तथा आकाश स्थूल से स्थूलतर हो जाता है, इत्यादि-इत्यादि।

सगुण ईश्वर का सामान्यीकरण भी इसी मूल सूत्र का एक अन्य उदाहरण है। हमने पहले ही देखा है कि सगुण ईश्वर के सामान्य भाव की प्राप्ति किस प्रकार हुई, और उसे सम्पूर्ण ज्ञान का समष्टि-स्वरूप समझा गया। किन्तु उसमें एक शंका उठती है कि यह तो पर्याप्त सामान्यीकरण नहीं हुआ! हमनें प्राकृतिक घटनाओं की एक दिशा, अर्थात् ज्ञान की दिशा लेकर यह सामान्यीकरण किया और सगुण ईश्वर तक आ पहुंचे, किन्तु शेष प्रकृति तो छूट ही गयी। अतएव पहले तो यह सामान्यीकरण ही अपूर्ण हुआ; दूसरे, इसमे एक और भी अधूरापन है, जिसका सम्बन्ध दूसरे सूत्र से है। प्रत्येक वस्तु की उसके स्वरूप ही से व्याख्या करनी चाहिए। एक समय लोग सोचते थे कि जमीन पर सेब को

कोई भूत खींच लेता है, किन्तु वास्तव में यह शक्ति गुरुत्वाकर्षण की है। और यद्यपि हम यह जानते हैं कि केवल यही इसकी सम्पूर्ण व्याख्या नहीं है, पर यह निश्चित है कि यह पहली व्याख्या से श्रेष्ठ है; कारण पहली व्याख्या वस्तु के बाहर एक कारण की स्थापना करती है, और दूसरी उनके स्वभाव से सिद्ध होती है। इस प्रकार हम लोगों के सारे ज्ञान के सम्बन्ध में जो व्याख्या वस्तु के स्वभाव से सिद्ध है, वह वैज्ञानिक है और जो व्याख्या वस्तु के बाहर स्थित कारण से सिद्ध होती है, वह अवैज्ञानिक है।

अतः जगत् के सृष्टिकर्ता के रूप में सगुण ईश्वर की व्याख्या की भी परीक्षा इस सूत्र से होनी चाहिए। यदि यह ईश्वर प्रकृति के बाहर है और प्रकृति के साथ उसका कोई संबंध नहीं है तथा यदि यह प्रकृति शून्य में से, उस ईश्वर की आज्ञा से बनती है, तब तो यह मत अत्यन्त अवैज्ञानिक हुआ, और यह प्रत्येक सगुण ईश्वरवादी धर्म का एक दुर्बल स्थल प्रत्येक युग में रहा है। ये दोनों दोष हमें सामान्यतया एकेश्वरवादी कहे जानेवाले सिद्धान्त से मिलते हैं, इसके अनुसार सगुण ईश्वर में मनुष्य के ही सारे गुण – परिणाम में बहुत गुने-होते हैं, इस ईश्वर ने जगत् की सृष्टि शून्य से अपने संकल्प द्वारा की, और वह जगत् से फिर भी पृथक् है। इसी से ये दो कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं।

हम पहले ही कह चुके हैं कि एक तो यह पर्याप्त सामान्यीकरण नहीं है; दूसरे, यह वस्तु की स्वभावसिद्ध व्याख्या भी नहीं है। यह कार्य को कारण से भिन्न बताता है। किन्तु मनुष्य का सारा ज्ञान यही बतलाता है कि कार्य कारण का रूपान्तर मात्र है। आधुनिक विज्ञान के सम्पूर्ण आविष्कार इसी ओर संकेत करते हैं और सर्वत्र स्वीकृत विकासवाद का तात्पर्य भी यही है कि कार्य कारण का रूपान्तर मात्र है, कारण का ही पुनर्समायोजन है और कारण ही कार्य का रूप ले लेता है। आधुनिक वैज्ञानिक तो शून्य से सृष्टि रचना के सिद्धान्त की हंसी उड़ाते हैं।

धर्म क्या पूर्वोक्त दोनों परीक्षाओं में सफल हो सकता है ? यदि कोई धार्मिक सिद्धान्त इन दो परीक्षाओ में उत्तीर्ण हो जाए, तो उसी को आधुनिक विचारशील मानस ग्राह्य मान सकेगा। यदि पुरोहित, चर्च अथवा किसी शास्त्र के प्रमाण के बल पर किसी मत में विश्वास करने के लिए कहा जाए, तो आजकल के लोग उसमें विश्वास नहीं कर सकते, इसका फल होगा – घोर अविश्वास। जो बाहर से देखने पर पूर्ण विश्वासी मालूम पडते हैं, वे अन्दर से देखने पर घोर अविश्वासी निकलते हैं। शेष लोग धर्म को एकदम छोड़ देते हैं, उससे दूर भागते हैं, उसे पुरोहितों का प्रपंच मात्र समझते हैं।

धर्म भी अब एक राष्ट्रीय रूप में अपगत हो गया है। 'वह हमारे प्राचीन समाज का एक महान उत्तराधिकार है, अतएव उसे रहने दो।' लेकिन आज के मानव के पुरखे उसके प्रति जिस सच्ची आवश्यकता का अनुभव करते थे, वह नष्ट हो गयी।

लोगों को अब यह बुद्धि-संगत नहीं जान पड़ता। इस प्रकार की सगुण ईश्वर और सृष्टि की धारणा, जिसे हर धर्म में एकेश्वरवाद कहते हैं, अब चल नहीं सकती। भारत में बौद्ध-धर्म के प्रभाव से यह अधिक बढ़ा भी नहीं; और इसी विषय में बौद्धों ने प्राचीनकाल में अपनी विजय-श्री उपलब्ध की थी। बौद्धों ने यह प्रमाणित कर दिखाया था कि यदि प्रकृति को अनन्त शक्तिसम्पन्न मान लिया जाए, और यदि प्रकृति अपने अभावों की पूर्ति स्वयं ही कर सकती है, तो प्रकृति के अतीत और भी कुछ हैं, यह मानना अनावश्यक है। आत्मा के अस्तित्व को मानने का भी कोई प्रयोजन नहीं है।

द्रव्य और गुण के विषय पर प्राचीनकाल से ही वाद-विवाद चलता आ रहा है। इस समय भी वही प्राचीन अंधविश्वास चला आ रहा है। मध्यकालीन यूरोप में यहां तक कि, मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है, उसके बहुत दिनों बाद भी यही एक विशेष विचारणीय विषय था कि गुण द्रव्याश्रित है अथवा द्रव्य गुणाश्रित ? लम्बाई, चौड़ाई और ऊंचाई क्या जड़ पदार्थ नामक द्रव्यविशेष के आश्रित हैं ? और इन गुणों के न रहने पर भी द्रव्य का अस्तित्व स्वीकार करने का कोई प्रयोजन नहीं है, केवल इन गुणों का ही अस्तित्व है। इन गुणों के अतिरिक्त तुम और कुछ नहीं देख पाते। अधिकांश आधुनिक अज्ञेयवादियों का भी यही मत है, क्योंकि इसी द्रव्यगुण विचार को कुछ और ऊंचा ले जाओ तो यही विवाद व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ता का विवाद बन जाता है। हमारे सम्मुख यह दृश्य जगत् – नित्य परिणामशील जगत् है और इसी के साथ ऐसी कोई वस्तु है, जिसमें कभी परिणाम नहीं होता। कुछ लोग इन दो सत्ताओं को सत्य मानते हैं। किन्तु अन्य लोग अधिक प्रमाण के साथ कहते हैं कि हमें इन दोनों पदार्थों के मानने का कोई अधिकार नहीं, क्योंकि हम जो कुछ देखते हैं, अनुभव करते हैं अथवा सोचते हैं, वह केवल दृश्य-जगत् है। दृश्य के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ के मानने का तुम्हें अधिकार नहीं। इस तर्क का उत्तर कोई भी नहीं है। केवल वेदान्त का अद्वैतवाद ही हमें इसका उत्तर देता है। यह सत्य है कि एक ही वस्तु का अस्तित्व है और वह या तो पारमार्थिक है, या व्यावहारिक। वह दृश्य के रूप में प्रकाशित होती है। यह कहना ठीक नहीं कि सत्ताएं दो हैं – एक परिणामशील वस्तु, और उसी के अन्दर अपरिणामी वस्तु। वरन् वही एक वस्तु है, जो परिणामशील प्रतीत होती है, लेकिन वास्तव में अपरिणामी है।

हम लोग देह, मन, आत्मा आदि को अनेक मान लेते हैं, किन्तु वास्तव में सत्ता एक ही है। वह एक ही वस्तु इन सब विविध रूपों में प्रतीत होती है। अद्वैतवादियों की चिरपरिचित उपमा रज्जु के ही सर्पाकार प्रतीत होने की लो। अंधेरे से अथवा अन्य किसी कारणवश लोग रस्सी को ही सांप समझ लेते हैं, किन्तु ज्ञानोदय होने पर सर्प-भ्रम

नष्ट हो जाता है और केवल रस्सी ही दिखायी पड़ती है। इस उदाहरण द्वारा हम यह भली-भांति समझ सकते हैं कि मन में जब सर्पज्ञान रहता है, तब रज्जुज्ञान नहीं रहता और जब रज्जुज्ञान रहता है, तब सर्पज्ञान नहीं टिकता। जब हम व्यावहारिक सत्ता देखते हैं, तब पारमार्थिक सत्ता नहीं रहती और जब हम उस अपरिणामी पारमार्थिक सत्ता को देखते है, तो निश्चय ही फिर व्यावहारिक सत्ता प्रतीत नहीं होती। अब हम प्रत्यक्षवादी और विज्ञानवादी (idealist) – इन दोनों के मत खूब स्पष्ट रूप से समझ रहे हैं। प्रत्यक्षवादी केवल व्यावहारिक सत्ता देखता है और विज्ञानवादी पारमार्थिक सत्ता देखने की चेष्टा करता है। प्रकृत विज्ञानवादियों के लिए, जो अपरिणामी सत्ता का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, फिर परिणामशील जगत् का अस्तित्व नहीं रह जाता। उन्हीं को यह कहने का अधिकार है कि समस्त जगत् मिथ्या है और परिणाम नामक कोई चीज नहीं है। किन्तु प्रत्यक्षवादी केवल परिणामशील की ओर ही दृष्टि रखते हैं। उनके लिए अपरिणामी सत्ता नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, अतएव उन्हें जगत् को सत्य कहने का अधिकार है।

इस विचार का फल क्या हुआ ? फल यही हुआ कि ईश्वर के विषय में सगुण धारणा करना ही पर्याप्त नहीं। हम लोगों की और भी उच्चतर धारणा अर्थात् निर्गुण की धारणा करनी चाहिए। यही तर्कसंगत सोपान हैं, जिस पर हम आगे बढ़ सकते हैं। उसके द्वारा सगुण धारणा नष्ट हो जाएगी, ऐसी बात नहीं। हमने यह नहीं प्रमाणित किया कि सगुण ईश्वर नहीं है, वरन् हमने यही दिखाया है कि सगुण की व्याख्या के लिए हमें निर्गुण को स्वीकार करना ही पड़ेगा, क्योंकि निर्गुण सगुण की अपेक्षा अधिक व्यापक-सामान्य है। केवल निर्गुण ही असीम हो सकता है, सगुण ससीम है। इस प्रकार हम सगुण को सुरक्षित रखते हैं, उसे नष्ट नहीं करते। बहुधा हमें यह शंका होती है कि निर्गुण ईश्वर मानने पर सगुण भाव नष्ट हो जाएगा, निर्गुण जीवात्मा मानने पर सगुण जीवात्मा का भाव नष्ट हो जाएगा। किन्तु वेदान्त से वास्तव में व्यक्ति का विनाश न होकर उसकी सच्ची रक्षा होती है। हम उस अनन्त सामान्य से सम्बन्ध जोड़े बिना, यह सिद्ध किये बिना कि यह व्यक्ति वस्तुतः अनन्त है, व्यक्ति के अस्तित्व को किसी प्रकार भी प्रमाणित नहीं कर सकते। यदि हम व्यक्ति को सम्पूर्ण जगत् से पृथक् मानकर सोचने की चेष्टा करें, तो उसकी स्थिति क्षण भर के लिए भी नहीं हो सकती। ऐसी कोई वस्तु कभी हुई ही नहीं।

दूसरी बात यह है कि पूर्वोक्त द्वितीय तत्व के फलस्वरूप हम और भी साहसिक और दुर्बोध्य तत्व विचार में पड़ जाते हैं; और वह इससे किंचित् भी कम नहीं है कि यदि समस्त वस्तुओं की व्याख्या उनके स्वरूप से की जाए, तो यही निष्कर्ष निकलता

है कि वही निर्गुण पुरुष – हमारा सर्वोच्च सामान्य – हम लोगों के अन्दर ही है और वास्तव में हम वही हैं। हे श्वेतकेतो, तत्त्वमसि – तुम वही हो। तुम्हीं वह निर्गुण पुरुष हो, तुम्हीं वह ईश्वर हो, जिसे तुम समस्त .·त् में ढूंढते फिरे हो, तुम स्वयं हो। किन्तु 'तुम' यहां 'व्यक्ति' के अर्थ में नहीं, वरन् निर्गुण के अर्थ में प्रयुक्त है। जिस मनुष्य को हम जानते हैं, जिसे हम व्यक्त देख रहे हैं, वह व्यष्टीकृत है, किन्तु उसकी वास्तविकता निर्गुण है। इस सगुण को हमें निर्गुण के द्वारा समझना होगा, विशेष को सामान्य के द्वारा जानना होगा। वह निर्गुण सत्ता ही सत्य है – वही मनुष्य की आत्मा है।

इस सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उठेंगे। मैं क्रमश: उनका उत्तर देने की चेष्टा करूंगा। बहुत सी कठिनाइयां भी उठेंगी, किन्तु उनकी मीमांसा करने के पहले, आओ, हम अद्वैतवाद की स्थिति समझ लेने का प्रयत्न करें। अद्वैतवाद कहता है कि व्यक्त जीवरूप में हम मानो अलग-अलग होकर रहते हैं, किन्तु वास्तव में टम सब एक ही सत्यस्वरूप हैं, और हम अपने को उससे जितना कम पृथक् समझेंगे उतना ही हमारा कल्याण होगा। इसके विपरीत हम लोग इस समष्टि से अपने को जितना अलग समझते हैं, उतना ही दु:खी होते हैं। इसी अद्वैतवादी सिद्धान्त से हमें नैतिकता का आधार मिलता है, और मेरा यह दावा है कि और किसी मत से हमें कोई भी नैतिकता नहीं मिलती। हम जानते हैं कि नैतिकता की सबसे पुरानी धारणा यह थी कि किसी पुरुष विशेष अथवा कुछ विशिष्ट पुरुषों की जो इच्छा हो, वही नैतिकता है। अब इसे मानने को कोई भी तैयार नहीं है; क्योंकि वह आंशिक व्याख्या मात्र है। हिन्दू कहते हैं, अमुक कार्य करना ठीक नहीं; क्योंकि वेदों में उसका निषेध है, किन्तु ईसाई वेदों का प्रमाण क्यों मानेंगे ? ईसाई लोग कहते हैं, यह मत करो, वह मत करो, क्योंकि बाईबिल में यह सब करना मना है। जो बाईबिल नहीं मानते, वे इसका अनुसरण करने के लिए बाध्य नही हैं। अत: हम लोगों को एक ऐसा तत्व खोजना पड़ेगा, जो इन अनेक प्रकार के भावों का समन्वय कर सके। जैसे लाखों व्यक्ति सगुण, सृष्टिकर्ता में विश्वास करने को तैयार हैं, वैसे ही इस दुनिया में हजारों ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति भी हैं, जिन्हें ये सब धारणाएं पर्याप्त नहीं जान पड़तीं, वे इससे कुछ ऊंची वस्तु चाहते हैं; और जब-जब धर्म इन मनीषियों को अपने में समाहित कर सकने की सीमा तक उदार नहीं रहा, तब-तब समाज के ये उज्ज्वलतम रत्न धर्म के बाहर ही रहे; और आज प्रधानत: यूरोप में यह जितना स्पष्ट देखा जाता है, उतना और कहीं भी नहीं।

इन प्रतिभाशाली व्यक्तियों को अपने में रखने के लिए धर्म का उदार भावापन्न होना अत्यन्त आवश्यक है। धर्म जो भी दावा करता है, तर्क की कसौटी पर उन सबकी परीक्षा करना आवश्यक है। धर्म यह दावा क्यों करता है कि वह तर्क द्वारा परीक्षित

होना नहीं चाहता; यह कोई नहीं बतला सकता। तर्क के मान दण्ड के बिना किसी भी प्रकार का यथार्थ निर्णय – धर्म के सम्बन्ध में भी – नहीं दिया जा सकता। धर्म कुछ वीभत्स करने की आज्ञा दे सकता है। जैसे, इसलाम मुसलमानों को विधर्मियों की हत्या करने की आज्ञा देता है। कुरान में स्पष्ट लिखा है, 'यदि विधर्मी इसलाम ग्रहण न करें, तो उन्हें मार डालो। उन्हें तलवार और आग के घाट उतार दो।' अब यदि हम किसी मुसलमान से कहें कि यह गलत है, तो वह स्वभावतः पूछेगा, "तुम कैसे जानते हो कि यह अच्छा है या बुरा ? हमारा शास्त्र कहता है कि यह सत्कार्य है।'' यदि तुम कहो कि हमारा शास्त्र प्राचीन है, तो बौद्ध लोग कहेंगे कि उनका शास्त्र तुम्हारे से भी पुराना है; और हिन्दू कहेंगे कि उनका शास्त्र सभी की अपेक्षा प्राचीनतम है। अतएव शास्त्र की दुहाई देने से काम नही चल सकता। वह प्रतिमान कहां है, जिससे तुम अन्य सबकी तुलना कर सको ? तुम कहोगे, ईसा का 'शैलोपदेश' देखो; मुसलमान कहेंगे, 'कुरान का नीतिशास्त्र' देखो। मुसलमान कहेंगे, इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है, इसका निर्णय कौन करेगा, कौन मध्यस्थ बनेगा ? बाईबिल और कुरान में जब विवाद हो, तो यह निश्चय है कि उन दोनों में से तो कोई मध्यस्थ नहीं बन सकता। कोई स्वतंत्र व्यक्ति उनका मध्यस्थ हो तो अच्छा हो। यह कार्य किसी ग्रंथ द्वारा नहीं हो सकता, किसी सार्वभौमिक तत्व द्वारा ही हो सकता है। बुद्धि से अधिक सार्वभौमिक पदार्थ और कोई नहीं है। कहा जाता है, बुद्धि पर्याप्त शक्ति-सम्पन्न नहीं है, इससे सत्य की प्राप्ति में सदैव सहायता नहीं मिलती। प्राय. वह भूलें करती है, अतः हमें किसी न किसी धर्म संघ की प्रामाणिकता में विश्वास करना चाहिए। ऐसा मुझसे एकबार एक रोमन कैथलिक ने कहा था। किन्तु मेरी समझ में यह युक्ति नहीं आयी। मैं कहूंगा कि यदि बुद्धि दुर्बल है, तो पुरोहित-सम्प्रदाय और भी दुर्बल होंगे। मैं उन लोगों की बात सुनने की अपेक्षा बुद्धि की बात सुनना अधिक पसन्द करूंगा, क्योंकि, बुद्धि में चाहे जितना दोष क्यों न हो, उससे कुछ न कुछ सत्यलाभ की सम्भावना तो है, किन्तु दूसरी ओर तो किसी सत्य को पाने की आशा ही नहीं है।

अतएव हम लोगों को बुद्धि का अनुसरण करना चाहिए और उन लोगों से सहानुभूति करना चाहिए, जो बुद्धि का अनुसरण कर किसी विश्वास को अपना नहीं पाते। आप्त वचनों के आधार पर अंधों की तरह बीस लाख देवताओं में विश्वास करने की अपेक्षा बुद्धि का अनुसरण करके नास्तिक होना अच्छा है। हम चाहते हैं उन्नति, विकास और सत्य का साक्षात्कार। किसी मत का अवलम्बन करके ही मनुष्य आज तक कभी ऊंचा नहीं उठा। करोडों शास्त्र भी हम लोगों को पवित्र करने में सहायता नहीं कर सकते। कर सकने की शक्ति एकमात्र सत्य के साक्षात्कार में है, जो स्वयं

हमारे भीतर है, और उसकी प्राप्ति विचार से होती है। मनुष्य विचार करे। मिट्टी का ढेला कभी विचार नहीं कर सकता, वह सदा मिट्टी का ढेला ही रह जाता है। मनुष्य की गरिमा उसकी विचारशीलता के कारण है, पशुओं से हम इसी बात में भिन्न हैं। मैं बुद्धि में विश्वास करता हूं और बुद्धि का ही अनुसरण करता हूं। केवल आप्त वचनों में विश्वास करने से क्या अनिष्ट होता है, यह मैं विशेष रूप से देख चुका हूं, क्योंकि मैं जिस देश में पैदा हुआ हूं, वहां आप्त वचनों में विश्वास करने की पराकाष्ठा है।

हिन्दू लोग विश्वास करते हैं कि वेदों से सृष्टि हुई है। उदाहरणार्थ एक गाय है, यह कैसे जाना ? उत्तर है, 'गो' शब्द वेद में है, इसलिए। इसी प्रकार मनुष्य है, यह कैसे जाना ? उत्तर आता है कि वेदों में 'मनुष्य' शब्द आया है। यदि यह शब्द उनमें न होता, तो बाहर मनुष्य भी नहीं होता। वे यही कहते हैं। आप्त वचनों में विश्वास की पराकाष्ठा ! मैंने इसका जिस प्रकार अध्ययन किया है, उस प्रकार इसका अध्ययन नहीं होता। कुछ परम तीक्ष्ण बुद्धि व्यक्तियों ने इसको लेकर कुछ अपूर्व दार्शनिक सिद्धान्तों का जाल उसके आस-पास बुन डाला है। उन्होंने उसके लिए युक्तियां दी हैं और वह एक परिपूर्ण दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित है, और हजारों वर्षो से हजारों प्रखर बुद्धि विद्वान् इस सिद्धान्त की पुष्टि में लगे रहे हैं। आप्त वचनों में विश्वास में जितनी शक्ति है उसमें खतरा भी उतना ही है। वह मनुष्य-जाति की उन्नति रोक सकता है; और हम लोगों को यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि उन्नति करना ही हमारा लक्ष्य है। सम्पूर्ण आपेक्षिक सत्यानुसन्धान में भी सत्य की अपेक्षा हमारे मन की क्रियाशीलता ही अधिक आवश्यक है। वही हमारा जीवन है।

अद्वैत मत में यही गुण है कि सभी संभाव्य धार्मिक परिकल्पनाओं में वह सर्वाधिक बुद्धिसंगत है। अन्य सब परिकल्पनाएं – ईश्वर की आंशिक और सगुण धारणाएं युक्तियुक्त नहीं हैं। तथापि उसको यह गौरव प्राप्त है कि वह इन आंशिक धारणाओं को बहुतों के लिए आवश्यक स्वीकार करता है। अनेक लोग कहते रहते हैं कि यह सगुणवाद अबौद्धिक है। किन्तु वह है बडा सान्त्वनादायक। लोगों को धर्म को सान्त्वना देनेवाला चाहिए, और हम लोग भी समझ सकते हैं कि उनके लिए इसकी जरूरत है। बहुत कम लोग सत्य का निर्मल प्रकाश सहन कर सकते हैं, उसके अनुसार जीवन बिताना तो बहुत दूर की बात है। अतएव इस सान्त्वना देनेवाले धर्म की भी आवश्यकता है; समय आने पर निर्माण के लिए, जिनका विचार क्षेत्र अत्यंत संकुचित है, और जो विचार-जगत् मे ऊंची उड़ानें भरने का साहस नहीं कर सकते, ऐसी छोटी-छोटी वस्तुएं आवश्यक हैं। उन लोगों के लिए छोटे-छोटे देवताओं और प्रतीकों की धारणाएं उत्तम और उपकारी हैं। किन्तु तुम्हें निर्गुणवाद भी समझना होगा, क्योंकि

इस निर्गुणवाद के आलोक में ही अन्य सिद्धान्तों को समझा जा सकता है। सगुणवाद को ही उदाहरणस्वरूप लो। जॉन स्टुअर्ट मिल ईश्वर का निर्गुणवाद समझते हैं और उसमे विश्वास भी करते हैं – वे कहते हैं, सगुण ईश्वर को प्रमाणित नहीं किया जा सकता, वह असंभव है। मैं इस विषय में उनके साथ एकमत हूं; फिर भी, मैं कहता हूं कि मनुष्य-बुद्धि से निर्गुण की जितनी दूर तक धारणा की जा सके, वही सगुण ईश्वर है। और वास्तव में निर्गुण की इन विभिन्न धारणाओं के सिवा यह जगत् है ही क्या ? वह मानो हम लोगों के सामने एक खुली पुस्तक है, और प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उसका पाठ कर रहा है; और प्रत्येक को स्वयं ही उसका पाठ करना पड़ता है। सभी मनुष्यों की बुद्धि में कुछ बातें समान हैं; इसीलिए मानवता की बुद्धि को कुछ वस्तुएं एकरूप सी जान पडती हैं। हम तुम दोनों ही एक कुर्सी देख रहे है। इससे यह प्रमाणित होता है कि हम दोनों के मन में कोई एक व्यापक घटक है। मान लो, दूसरे प्रकार की इन्द्रियोंवाला कोई प्राणी आ जाए, वह हम लोगो की अद्भुत कुर्सी नहीं देखेगा, किन्तु जितने लोग एक ही प्रकार संरचित है, वे सब उन्हीं वस्तुओं को देखेगे। अतएव स्वयं यह जगत् ही निरपेक्ष अपरिणामी पारमार्थिक सत्ता है, और व्यावहारिक सत्ता केवल उसके देखे हुए विविध रूप हैं। इसका कारण, पहले तो यह है कि व्यावहारिक सत्ता सदा ससीम होती है। हम जानते है कि हम जिस भी व्यावहारिक सत्ता को देखते, अनुभव करते अथवा विचार करते हैं, वह हमारे ज्ञान के द्वारा सीमित होती है, और सगुण ईश्वर के सम्बन्ध में हमारी जैसी धारणा है, उससे वह ईश्वर भी व्यावहारिक मात्र है। कार्य-कारण भाव केवल व्यावहारिक जगत् में ही सम्भव है और ईश्वर को जब मैं जगत् का कारण मानता हूं तो अवश्य ही उसे ससीम जैसा मानना पडेगा। किन्तु फिर भी वह वही निर्गुण ब्रह्म है। हम लोगों ने पहले ही देखा है कि यह जगत् भी हमारी बुद्धि द्वारा देखा गया वही निर्गुण-ब्रह्म मात्र है। यथार्थ मे जगत् वही निर्गुण पुरुष मात्र हैं और हम लोगों की बुद्धि द्वारा उसको नाम रूप दिये गये हैं। इस मेज में जितना सत्य है, वह वही सत् है और इस मेज की आकृति तथा जो कुछ अन्य बातें है, वे सब समान मानव-बुद्धि द्वारा ऊपर से जोडी गयी है।

उदाहरणस्वरूप गति का विषय लो। व्यावहारिक सत्ता की वह नित्य सहचरी है। किन्तु वह सार्वभौमिक, पारमार्थिक सत्ता के विषय में प्रयुक्त नहीं हो सकती। प्रत्येक क्षुद्र कण, जगत् के अतर्गत प्रत्येक परमाणु, सदैव ही परिवर्तनशील तथा गतिशील है, किन्तु समष्टि रूप से जगत् पदार्थ अपरिणामी है, क्योंकि गति या परिणाम सापेक्षिक पदार्थ मात्र हैं। केवल गतिहीन पदार्थ के साथ तुलना करने पर ही हम गतिशील पदार्थ की बात सोच सकते हैं। गति समझने के लिए दोनों ही पदार्थ आवश्यक

है। सम्पूर्ण जगत् की समष्टि एक इकाई के रूप में गतिशील नहीं हो सकती। किसके साथ वह गतिशील होगी ? उसमें परिवर्तन होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि किसकी तुलना में उसका परिणाम हो सकेगा ? अतएव वह समष्टि निरपेक्ष सत्ता ही है, किन्तु उसके भीतर का प्रत्येक अणु निरन्तर गतिशील और परिवर्तनशील है। वह परिणामी और साथ ही साथ अपरिणामी है, सगुण है और निर्गुण भी है। जगत्, गति एवं ईश्वर के सम्बन्ध में हम लोगों की यही धारणा है, और तत्त्वमसि का भी यही अर्थ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्गुण सगुण को उच्छिन्न करने, निरपेक्ष सापेक्ष को नष्ट करने के स्थान पर, हमारे हृदय और मस्तिष्क को पूर्ण संतोष प्रदान करने-वाली उसकी व्याख्या मात्र करता है। सगुण ईश्वर तथा इस विश्व में जो कुछ है, सब हमारे मन के द्वारा उपलब्ध निर्गुण सत् ही है। अपने मन एवं तुच्छ व्यक्तित्व से रहित होने पर हम उस सत् के साथ एक ही हो जाएंगे। तत्त्वमसि का यही अर्थ है। हमें अपना सच्चा स्वरूप – ब्रह्म – जानना है।

ससीम, व्यक्ति मनुष्य अपना उत्पत्ति-स्थल भूल जाता है, और अपने को नितांत पृथक् समझने लगता है। व्यष्टीकृत और विभेदीकृत सत्ताओं के रूप में हम अपना स्वरूप भूल जाते हैं। अत: अद्वैतवाद हमें विभेदीकरण को त्याग देने की शिक्षा नहीं देता, वरन् उसके रूप को समझ लेने को कहता है। हम वस्तुत: वही अनन्त पुरुष हैं, हमारे व्यक्तित्व जल की उन धाराओं के सदृश हैं, जिनमें वह अनन्त सत्ता अपने को अभिव्यक्त कर रही है, और यह समग्र परिवर्तन-समष्टि, जिसे हम 'क्रमविकास' कहते हैं, अपनी अनन्त-शक्ति को व्यक्त करने में सचेष्ट, आत्मा के द्वारा सम्पादित होती है। किन्तु हम अनन्त के इस पार कहीं रुक नहीं सकते; हमारे आनन्द और ज्ञान एवं शक्ति को अनन्त होना ही है। अनन्त-सत्ता, अनन्त-शक्ति, अनन्त-आनन्द हमारे हैं। हम लोगों को उन्हें उपार्जित नहीं करना है, वे सब हममें हैं, हमें तो उन्हें केवल प्रकाशित मात्र करना है।

अद्वैतवाद से यही एक महासत्य प्राप्त होता है और इसको समझना बहुत कठिन है। मैं बचपन से देखता आ रहा हूं कि सभी दुर्बलता की शिक्षा देते रहे हैं, जन्म से ही मैं सुनता आ रहा हूं कि मैं दुर्बल हूं। अब मेरे लिए अपने भीतर निहित शक्ति का ज्ञान कठिन हो गया है, किन्तु विश्लेषण और विचार द्वारा अपनी शक्ति का ज्ञान होता है, और फिर मैं उसे प्राप्त कर लेता हूं। इस संसार में जितना भी ज्ञान है, वह कहां से आया ? वह ज्ञान हमारे भीतर ही है। क्या बाहर कोई ज्ञान है ? नहीं। ज्ञान कभी जड़ में नहीं था, वह सदा मनुष्य के भीतर ही था। किसी ने कभी भी ज्ञान की सृष्टि नहीं की। मनुष्य उसको भीतर से बाहर लाता है। वह वहीं वर्तमान है। यह

जो एक कोस तक फैला हुआ विशाल वटवृक्ष है, वह सरसों के बीच के अष्टमांश के समान उस छोटे से बीज में ही था। उसी बीज में ऊर्जा की वह विपुल राशि सन्निहित थी। हम जानते हैं कि एक जीवाणु-कोष के भीतर विराट् बुद्धि अप्रकट रूप में विद्यमान है; फिर अनन्त-शक्ति उसमें क्यों न रह सकेगी ? हम जानते हैं यह सत्य है। विरोधाभासी लगने पर भी यह सत्य है। हम सभी एक जीवाणु-कोष से उत्पन्न हुए हैं और हम लोगों में जो कुछ भी शक्ति है, वह उसी में कुण्डलीरूप मे बैठी थी। तुम लोग यह नहीं कह सकते कि वह खाद्य में से आयी है; ढेर की ढेर खाद्य-सामग्री लेकर एक पर्वत बना डालो, किन्तु देखोगे उसमें से कोई शक्ति नहीं निकलती। हम लोगों के भीतर शक्ति पहले से ही अव्यक्त भाव में निहित थी, और वह थी अवश्य। इसी प्रकार मनुष्य की आत्मा के भीतर अनन्त-शक्ति भरी पड़ी हैं, मनुष्य को उसका ज्ञान हो या न हो। उसे केवल जानने की ही अपेक्षा है। धीरे-धीरे मानो वह अनन्त शक्तिमान दैत्य जागृत होकर अपनी शक्ति का ज्ञान प्राप्त कर रहा है और जैसे-जैसे वह सचेतन होता जाता है, वैसे-वैसे एक के बाद एक उसके बन्धन टूटते जाते हैं, शृंखलाएं छिन्न-भिन्न होती जाती हैं; और वह दिन अवश्य ही आएगा, जब वह अपनी अनन्त-शक्ति के पूर्ण ज्ञान के साथ अपने पैरों पर उठ खड़ा होगा। आओ, हम सब लोग उस महिमामयी निष्पत्ति को शीघ्र लाने में सहायता करें।

व्यावहारिक जीवन में वेदान्त – (4)

(18 नवम्बर, 1896 ई० को लन्दन में दिया हुआ व्याख्यान)

अभी तक आप समष्टि के बारे में ही जान पाये हैं, लेकिन आज में आपको समष्टि के व्यष्टि के साथ जो सम्बन्ध है। उनके बारे में जानकारी कराऊंगा। यह तो हम सभी जानते हैं कि प्रत्येक जीव की निर्दिष्ट सीमाविशिष्ट आत्मा वेदों के दर्शनों के द्वैतवादी प्रारम्भिक रूपों में स्वीकार की गयी है। प्रत्येक जीवन में अवस्थित इस विशेष आत्मा के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मतवाद प्रचलित हैं। किन्तु प्राचीन बौद्धों और प्राचीन वेदान्तियों के मध्य ही इस विषय पर प्रमुख विवाद चला। प्राचीन वेदान्ती एक स्वयं में पूर्ण जीवात्मा मानते थे, और बौद्ध लोग इस प्रकार के जीवात्मा के अस्तित्व को नितान्त अस्वीकृत करते थे। जैसा मैंने कल कहा था, यूरोप में भी ठीक ऐसा ही विवाद द्रव्य और गुण पर चल रहा है। एक दल यह मानता है कि गुणों के पीछे द्रव्य रूप कोई वस्तु है जिस पर गुण आधारित हैं और दूसरे दल के मत में द्रव्य को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, गुण स्वयं ही रह सकते हैं। आत्मा के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन मत 'अहं-सारूप्य'-गत युक्ति के ऊपर स्थापित हैं। 'अहं-सारूप्य' युक्ति का अर्थ है: कल का 'मैं' ही आज का 'मैं' है और आज का 'मैं' आगामी कल का 'मैं' रहेगा। शरीर में जो भी परिवर्तन हो, मैं विश्वास करता हूं कि मैं वही 'मैं' हूं। जान पड़ता है कि जो सीमित, पर स्वयंपूर्ण जीवात्मा मानते थे, उनकी प्रधान युक्ति यही थी।

दूसरी ओर प्राचीन बौद्ध ऐसी जीवात्मा मानने की कोई आवश्यकता नहीं समझते थे। उनकी यह युक्ति थी कि हम केवल इन परिवर्तनों को ही जानते हैं एवं इन परिवर्तनों के अतिरिक्त और कुछ भी जानना हम लोगों के लिए असम्भव है। एक अपरिवर्तनीय और अपरिवर्तनशील द्रव्य को स्वीकार करना अनावश्यक है और वास्तव में यदि इस प्रकार की कोई अपरिणामी वस्तु हो भी, तो हम उसे कभी समझ नहीं सकेंगे और न उसे किसी भी तरह प्रत्यक्ष ही कर सकेंगे। आजकल यूरोप में भी एक ओर धर्म और विज्ञानवादियों (idealist) तथा दूसरी ओर आधुनिक प्रत्यक्षवादी (realist), अज्ञेयवादी (agnostic) तथा भाववादी (positivist) विचारकों में यही

विवाद चल रहा है। एक दल का विश्वास है कि कुछ अपरिवर्तनशील पदार्थ हैं। (हर्बर्ट स्पेन्सर इसके नवीनतम प्रतिनिधि है) और हमें मानो किसी अपरिणामी पदार्थ का आभास होता है। दूसरे दल के प्रतिनिधि हैं कांते (Comte) के आधुनिक शिष्य तथा आधुनिक अज्ञेयवादी। तुम लोगों में से जिन व्यक्तियों ने कुछ साल पहले फ्रैडरिक हैरिसन और हर्बर्ट स्पेन्सर के बीच का वाद-विवाद ध्यानपूर्वक पढा होगा, वे लोग जानते होंगे कि इसमें भी यही कठिनाई मौजूद है। एक पक्ष कहता है कि हम बिना किसी अपरिणामी या अपरिवर्तनशील सत्ता की कल्पना किये परिणाम या परिवर्तन की कल्पना ही नहीं कर सकते। दूसरा पक्ष यह युक्ति पेश करता है कि ऐसा मानने की कोई जरूरत नहीं, हम केवल परिणामशील पदार्थ की ही धारणा कर सकते हैं, और जहां तक अपरिणामी सत्ता की बात है, उसे न हम समझ सकते हैं और न अनुभव या प्रत्यक्ष ही कर सकते हैं।

भारत में इस महान् समस्या का समाधान अतीव प्राचीनकाल में नहीं मिला था, क्योकि हमने देखा है कि गुणों के पीछे अवस्थित, गुणों से भिन्न पदार्थ की सत्ता कभी प्रमाणित नहीं की जा सकती। केवल यही नहीं, आत्मा के अस्तित्व का 'अहं-सारूप्य'-गत प्रमाण, स्मृति से आत्मा के अस्तित्व सम्बन्धी युक्ति – कल जो 'मैं' था, आज भी 'मैं' वही हूं, क्योंकि मुझे यह स्मरण है, अतएव मैं सतत रहनेवाला 'कुछ' हूं – यह युक्ति सिद्ध नहीं की जा सकती। और एक युक्ति का आभास, जो साधारणत: दर्शाया जाता है, वह भी केवल शब्दों का जोड-तोड़ है। 'मैं जाता हूं', 'मैं खाता हूं', 'मैं स्वप्न देखता हूं', 'मैं सो रहा हूं', 'मैं चलता हूं', आदि कितने ही वाक्य लेकर वे कहते हैं कि करना, खाना, जाना, स्वप्न देखना, ये सब विभिन्न परिवर्तन भले ही हों, किन्तु उनके बीच मे 'मैं-पन' नित्य भाव से वर्तमान है और इस प्रकार वे इस सिद्धान्त पर पहुंचते हैं कि यह 'मै' नित्य और स्वयं एक व्यक्ति है तथा ये सब परिवर्तन शरीर के धर्म हैं। यह युक्ति सुनने में खूब उपादेय तथा स्पष्ट जान पडती है, किन्तु वास्तव में यह केवल शब्दो का खेल है। यह 'मैं' और करना, जाना, स्वप्न देखना आदि लिखने में भले ही अलग लगें, किन्तु मन में कोई भी उन्हें अलग नहीं कर सकता।

जब मैं खाता हूं, तो खाते हुए रूप में अपना विचार करता हूं। तब खाने की क्रिया के साथ मेरा तादात्म्य हो जाता है। जब मैं दौडता रहता हूं, तब मैं और दौड़ना, ये दो अलग-अलग बातें नहीं होतीं। अतएव व्यक्तिगत तादात्म्य पर आधारित यह युक्ति कुछ अधिक सबल नहीं जान पड़ती। स्मृतिवाला दूसरा तर्क भी निर्बल है। यदि मेरे अस्तित्व का सारूप्य मुझे अपनी स्मृति द्वारा प्रमाणित करना पड़े, तो अपनी जो सब अवस्थाएं मैं भूल गया हूं, उनमें मैं था ही नहीं, यह मानना पड़ेगा; और हम यह

भी जानते हैं कि कुछ विशेष अवस्थाओं में अनेक लोग पिछला अपना सब कुछ पूर्ण रूप से भूल जाते हैं। अनेक पागल-व्यक्ति अपने को कांचनिर्मित अथवा कोई पशु मानते देखे जाते हैं। यदि केवल स्मृति पर ही उस व्यक्ति का अस्तित्व निर्भर होता है, तो वह कांच हो गया, यही मानना पड़ेगा। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता, अत: यह अहं-सारूप्य स्मृति जैसी नगण्य युक्ति पर आधारित नहीं हो सकता। तब क्या निष्कर्ष निकला ? यही कि ससीम तथापि सम्पूर्ण और अविच्छिन्न तादात्म्य गुणसमूह से पृथक् रूप में स्थापित नहीं हो सकता। हम ऐसी कोई संकीर्ण सीमाबद्ध सत्ता नहीं सिद्ध कर सकते, जिसके साथ गुणों का एक गुच्छ संयुक्त हो।

दूसरे पक्ष में प्राचीन बौद्धों का यह मत कि गुण समूह के पीछे अवस्थित किसी वस्तु के विषय में हम न कुछ जानते हैं और न जान सकते हैं, अधिक दृढ़ भित्ति पर स्थापित जान पड़ता है। उनके मतानुसार संवेदनाओं और भावनाओं आदि कुछ गुणों का संघात ही आत्मा है। यह गुणराशि ही आत्मा है और वह निरंतर परिवर्तित होती रहती है।

अद्वैत द्वारा इन दोनों मतों में सामंजस्य होता है। अद्वैतवाद का सिद्धान्त यह है कि हम वस्तु को गुण से अलग नहीं मान सकते, यह सत्य है। हम परिणाम और अपरिणाम दोनों को एक साथ नहीं सोच सकते। इस प्रकार सोचना भी असम्भव है। किन्तु जिसे द्रव्य कहा जाता है, वही गुणस्वरूप है। द्रव्य और गुण पृथक् नहीं है। अपरिणामी वस्तु ही परिणाम-रूप में प्रतीत होती है : यह अपरिणामी सत्ता परिणामी जगत् से पृथक् नहीं है। पारमार्थिक सत्ता व्यावहारिक सत्ता से पूर्णतया पृथक् वस्तु नहीं है, किन्तु यह पारमार्थिक सत्ता ही व्यावहारिक सत्ता बन जाती है। अपरिणामी आत्मा है, और हम जिसे अनुभूति, भाव आदि कहते हैं, केवल ये ही नहीं, अपितु यह शरीर भी एक अन्य दृष्टिकोण से देखी हुई वही आत्मा है। हम लोगों के शरीर है, आत्मा है आदि, इस प्रकार सोचने का हमें अभ्यास हो गया है, किन्तु वास्तव में केवल एक ही सत्ता है।

जब मैं अपने को 'शरीर' सोचता हूं, तब मैं केवल शरीर हूं; मैं इसके अतिरिक्त और कुछ हूं, यह कहना बेकार की बात है। जब मैं अपने को आत्मा मानता हूं, तब देह तो कहीं उड़ जाती है, देहानुभूति ही नहीं रहती। देह-ज्ञान लुप्त हुए बिना कभी आत्मानुभूति होती ही नहीं। गुण की अनुभूति लुप्त न होने तक द्रव्य का अनुभव कभी किसी को नहीं हो सकता।

इसको और अधिक अच्छी तरह समझने के लिए अद्वैतवादियों का रज्जु-सर्प का उदाहरण लिया जा सकता है। जब मनुष्य रस्सी को साँप समझकर भूल करता है, तब उसके लिए रस्सी नहीं रहती और जब वह उसे वास्तविक रस्सी समझता है, तब उसका सर्प-ज्ञान नष्ट हो जाता है और केवल रस्सी ही बची रहती है। अपूर्ण सामग्री के

आधार पर विचार करने के कारण हमें द्वित्व या त्रित्व की अनुभूति होती है। ये सब बातें हम पुस्तकों में पढ़ते अथवा सुनते आते हैं, और अंततः हम इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि मानो सचमुच ही हमें आत्मा और देह का द्वैध अनुभव हो रहा है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। एक समय में या तो केवल देह का ही अनुभव होता है या आत्मा का ही। इसको प्रमाणित करने के लिए किसी युक्ति की जरूरत नहीं। अपने मन से ही तुम इसका सत्यापन कर सकते हो।

तुम अपने को आत्मा या कुछ देहरहित मानकर सोचने का प्रयत्न करो, तो प्रतीत होगा कि यह असम्भव सा है, और जो इने-गिने लोग इसमें सफल होते हैं, वे देखेंगे कि जब वे अपने को आत्मस्वरूप अनुभव करते हैं, तब उन्हें देह ज्ञान नहीं रहता। तुमने ऐसे व्यक्तियों के विषय में सुना होगा और शायद देखा भी होगा, जो कभी-कभी प्रखर ध्यान, आत्मसम्मोहन, हिस्टीरिया या मादक द्रव्यों के प्रभाव के विशेष अवस्था में आ जाते हैं। उन लोगों की इन अनुभूतियों से तुमको पता चलेगा कि जब वे भीतर ही भीतर अनुभव कर रहे थे, तब उनका बाह्य ज्ञान एकदम लुप्त हो गया था, बिलकुल नहीं रह गया था। इसी से जान पड़ता है कि अस्तित्व एक ही है, दो नहीं। वह एक ही अनेक रूपों में जान पड़ता है और इन्हीं सारे रूपों से कार्य-कारण का सम्बन्ध उत्पन्न होता है। कार्य-कारण-सम्बन्ध का अर्थ है परिणाम, केवल उसके बदले कार्य रह जाता है। यदि आत्मा देह का कारण है, तो मानो कुछ देर के लिए वह अन्तर्हित हो जाती है और उसके बदले देह रह जाती है, और जब शरीर अन्तर्हित हो जाता है, तो आत्मा अवशिष्ट रहती है। इस मत से बौद्धों का मत खण्डित हो जाता है। बौद्ध आत्मा और शरीर – इन दोनों को पृथक् मानने के अनुमान के विरुद्ध तर्क करते थे। अब अद्वैतवाद के द्वारा इस द्वैतभाव को मिटाने और द्रव्य तथा गुण एक ही वस्तु के विभिन्न रूप हैं, यह प्रदर्शित करने में उनका मत भी खण्डित हो गया।

हम लोगों ने यह भी देखा कि अपरिणामित्व केवल समष्टि के सम्बन्ध में ही सत्य हो सकता है, व्यष्टि के सम्बन्ध में नहीं। परिणाम और गति, इन भावों के साथ व्यष्टि की धारणा जड़ित है। हर ससीम विषय को हम जान और समझ सकते हैं, क्योंकि यह परिणामी होती है; किन्तु पूर्ण का अपरिणामी होना अनिवार्य है, क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं, जिसके संदर्भ में उसमें कोई परिवर्तन हो सके। परिणाम केवल दूसरे किसी अल्पपरिणामी अथवा पूर्ण रूप से अपरिणामी पदार्थ के साथ तुलना करने पर ही जाना जा सकता है।

अतएव अद्वैतवाद के अनुसार, सर्वव्यापी अपरिणामी अमर आत्मा के अस्तित्व का विषय में यथासम्भव प्रमाणित किया जा सकता है। व्यष्टि के सिद्ध करने के बारे

में ही कठिनाई होगी। तो फिर हमारे सब प्राचीन द्वैतवादी सिद्धान्तों का, जिनका हमारे ऊपर इतना प्रबल प्रभाव है, और ससीम, क्षुद्र, व्यक्तिगत आत्मा में उन विश्वासों का क्या होगा, जिनमें होकर हम सबको गुजरना होता है।

हमने देखा कि समष्टि भाव से हम लोग अमर हैं, किन्तु समस्या यही है कि हम क्षुद्र व्यक्ति के रूप में भी अमर होने के इच्छुक हैं, इसका क्या अर्थ है ? हमने देखा कि हम अनन्त हैं, और वही हमारा यथार्थ व्यक्तित्व है। किन्तु हम इन क्षुद्र आत्माओं को व्यक्ति बनाना चाहते हैं। उस क्षुद्र व्यक्तित्व का क्या होगा ? किन्तु दैनंदिन जीवन में हम देखते हैं कि उनका व्यक्तित्व है, किन्तु वह व्यक्तित्व है निरंतर विकासशील। वे एक हैं, और फिर भी एक नहीं है। कल का 'मैं' आज का 'मैं' है भी, और साथ ही नही भी है, क्योंकि वह थोड़ा परिवर्तित हो जाता है। इस द्वैतभावात्मक धारणा अर्थात् समस्त परिणाम के भीतर कुछ ऐसा है जो परिवर्तित नहीं होता – इस मत के परित्याग, और नितान्त आधुनिक भाव अर्थात् विकासवाद को स्वीकार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यह 'मैं' एक सतत परिवर्तनशील और विकासशील सत्ता है।

यदि यह सत्य है कि मनुष्य मांसल जन्तुविशेष (mollusc) का परिणाम मात्र है, तो वह जन्तु और मनुष्य एक ही पदार्थ हुए, भेद केवल यही हुआ कि मनुष्य उस जन्तुविशेष का बहु-परिणामात्मक विकास मात्र है। वही क्रमशः विकसित होते-होते अनन्त की ओर जा रहा है और अब उसने मनुष्य का रूप धारण किया है। इसलिए सीमाबद्ध जीवात्मा को ऐसा व्यक्ति कहा जा सकता है, जो क्रमशः पूर्ण व्यक्तित्व की ओर अग्रसर हो रहा है। पूर्ण व्यक्तित्व तभी प्राप्त होगा, जब वह अनन्त में पहुंचेगा, किन्तु इस अवस्था में पहुंचने से पहले ही उसके व्यक्तित्व का लगातार परिणाम हो रहा है और साथ ही साथ विकास भी। अद्वैत वेदान्त का प्रधान वैशिष्ट्य है – पूर्ववर्ती मतों में सामंजस्य स्थापित करना। उससे दर्शन को अनेक अवसरों पर बहुत लाभ भी हुआ, पर कभी-कभी उसने हानि भी पहुंचायी। जिसे आज आप विकासवाद कहते हैं, अर्थात् विकास शनैः शनैः क्रमबद्ध होता है – इस सिद्धान्त को हमारे प्राचीन दार्शनिक जानते थे; और इसी की सहायता से वे समस्त पूर्ववर्ती दर्शनों का सामंजस्य करने में सफल हुए। अतएव पूर्ववर्ती कोई भी मत 'परित्यक्त' नहीं हुआ। बौद्धमत का दोष यह था कि उसमें विकासवाद का ज्ञान नहीं था और न उसको समझने की क्षमता। अतएव उन्होंने आदर्श में पहुंचने की पूर्ववर्ती सीढ़ियों के साथ अपने मत का सामंजस्य करने का कोई प्रयत्न नहीं किया, वरन् उन्हें निरर्थक और अनिष्टकारी कहकर उनका परित्याग कर दिया।

धर्म की यह प्रवृत्ति अत्यन्त अनिष्टकारक है। किसी व्यक्ति को एक नूतन और श्रेष्ठतर भाव मिला, तो वह अपने पुराने भावों के प्रति यह निर्णय कर लेता है कि वे सब अनावश्यक तथा हानिकारक थे। वह यह कभी नहीं सोचता कि उसकी आज की दृष्टि से वे कितने ही निरर्थक क्यों न हों, एक समय वह भी तो था, जब वे ही उसके लिए उपयोगी और उसकी वर्तमान अवस्था तक उसे पहुंचाने के लिए आवश्यक थे। तथा हममें से प्रत्येक को उसी प्रकार से आत्म-विकास करना पड़ेगा, पहले स्थूल भावों को अपनाना होगा, और उनसे लाभान्वित होकर एक उच्चतर मानदंड तक पहुंचना होगा। इसलिए अद्वैतवाद प्राचीनतम मतों से मित्र भाव रखता है। द्वैतवाद तथा अपने पूर्वगामी अन्य मतों को अद्वैतवाद एक संरक्षक की दृष्टि से नहीं, वरन् यह मान कर अंगीकार कर लेता है कि वे भी एक ही सत्य की सच्ची अभिव्यक्तियां हैं और अद्वैतवाद जिन सिद्धान्तों पर पहुंचा है, वे भी उन्हीं सिद्धान्तों पर पहुंचाते हैं।

अतएव मनुष्य को जिन सब सीढ़ियों पर चढ़कर ऊपर जाना है, उनके प्रति कठोर वचन न कहकर उनको आशीर्वाद देते हुए उनकी रक्षा करनी चाहिए। इसीलिए वेदान्त में इन द्वैतवादी सिद्धान्तों की उचित रक्षा की गयी है, उनका परित्याग नहीं किया गया, और इसीलिए ससीम, व्यक्तितायुक्त, किन्तु फिर भी अपने में पूर्ण आत्मा की परिकल्पना ने वेदान्त में स्थान पाया है।

द्वैत मत के अनुसार मृत्यु होने के पश्चात् मनुष्य अन्यान्य लोकों में जाता है इत्यादि, ये सब भाव अद्वैतवाद में सम्पूर्ण रूप से रक्षित हैं। क्योंकि अद्वैत में विकास की प्रक्रिया स्वीकार करने पर, इन विविध सिद्धान्तों को अपना उचित स्थान मिल जाता है, वे सत्य के आंशिक वर्णन मात्र हैं।

द्वैतवाद की दृष्टि से इस जगत् को केवल भौतिक द्रव्य या शक्ति की सृष्टि के रूप में ही देखा जा सकता है, उसे किसी विशेष इच्छा-शक्ति की क्रीड़ा के रूप में ही सोचा जा सकता है और उस इच्छा-शक्ति का जगत् से पृथक् ही सोचना सम्भव है। इस दृष्टि से मनुष्य अपने को आत्मा और देह दोनों की समष्टि के रूप में सोच सकता है और यह आत्मा ससीम होने पर भी स्वयं मैं पूर्ण है। इस प्रकार के व्यक्ति की अमरत्व और भावी जीवन की धारणाएं उसकी आत्मा सम्बन्धी धारणाओं के अनुसार ही होती है। वेदान्त में इन सब अवस्थाओं को सुरक्षित रखा गया है और इसलिए द्वैतवाद की कुछ लोकप्रिय धारणाओं का परिचय तुमको देना आवश्यक है।

इस मत के अनुसार हमारा यह शरीर तो है ही, इस स्थूल शरीर के पीछे एक सूक्ष्म शरीर है। यह सूक्ष्म शरीर भी भौतिक है, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म भौतिक द्रव्य से बना है। वह हमारे सम्पूर्ण कर्मों और संस्कारों का आलय है। कर्म और संस्कार दृश्य रूप

में व्यक्त होने के लिए प्रस्तुत रहते हैं। हमारा प्रत्येक विचार और प्रत्येक कार्य कुछ समय बाद सूक्ष्म रूप धारण कर लेता है, मानो बीज बन जाता है, सूक्ष्म शरीर में अव्यक्त रूप से रहता है, और कुछ समय बाद आविर्भूत होकर अपना फल देता है। कर्म-फलों का यही समूह मनुष्य के जीवन को निर्धारित करता है। वह अपना जीवन स्वयं ही बनाता है। मनुष्य अपने लिए जिन नियमों की रचना करता है, उनके अतिरिक्त वह और किसी भी नियम से बद्ध नहीं है। हमारे विचार, शब्द और कर्म हमारे शुभ या अशुभ बन्धन-जाल के सूत हैं। एक बार किसी शक्ति को चलायमान कर देने पर उसका पूर्ण फल हमें भोगना पड़ता है। यही कर्मविधान है। इस सूक्ष्म शरीर के पीछे जीव या मनुष्य की व्यष्टिगत आत्मा है। इस जीवात्मा के रूप में आकार को लेकर अनेक वाद-विवाद हुए हैं। किसी के मत में वह अणु जैसा लघु है, तो किसी के मत में वह इतना लघु नहीं है, और दूसरों के मत में बहुत बड़ा है, आदि' यह जीव उस विश्वव्याप्त द्रव्य का एक अंश है, और वह शाश्वत है। वह अनादि और अनन्त है। अपना प्रकृतस्वरूप, पवित्रता को प्रकाशित करने के लिए वह अनेक प्रकार की देहों में से होकर आगे बढ़ रहा है। जो कर्म इस प्रकाश की अभिव्यक्ति में बाधा उपस्थित करता है, उसे असत् कर्म कहते हैं; ऐसा ही विचारों के सम्बन्ध में भी है, और जिस कार्य अथवा विचार द्वारा उसके स्वरूप प्रकाशन में सहायता मिलती है, उसे सत्कार्य अथवा सद्विचार कहते हैं। किन्तु भारत के निम्नतम द्वैतवादी और अत्यन्त उन्नत अद्वैतवादी सभी का यह सामान्य मत है कि आत्मा की समस्त शक्ति और संभावना उसी के भीतर है – वे किसी बाह्य-स्रोत से नहीं आतीं। वे आत्मा में ही अव्यक्त रूप से रहती है, और जीवन का सारा कार्य केवल उनके उस अव्यक्त शक्ति-समूह को व्यक्त करना मात्र है।

वे पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भी मानते हैं, जिसके अनुसार इस देह के नष्ट होने पर जीवन फिर एक देह धारण करेगा और उस देह के नाश होने पर फिर एक दूसरी देह तथा इसी प्रकार आगे भी क्रम चलता रहेगा। जीवात्मा इसी पृथिवी पर जन्म लें अथवा अन्य किसी लोक में, किन्तु इसी पृथिवी को श्रेष्ठतर बताया गया है, क्योंकि उनके मत में हमारे सम्पूर्ण प्रयोजन की सिद्धि के लिए यह पृथिवी ही सर्वश्रेष्ठ है। अन्यान्य लोकों में दुःख-कष्ट यद्यपि बहुत कम अवश्य हैं, किन्तु इसी कारण वहां उच्चतम विचार करने के लिए अवसर ही नहीं मिलता। इस जगत् में घोर दुःख भी है और कुछ सुख भी। अतएव जीव की मोह निद्रा यहां कभी न कभी टूटती ही हैं, कभी न कभी उसकी इच्छा मुक्ति पाने की होती ही है। किन्तु जैसे इस लोक में बहुत धनी व्यक्ति के लिए उच्चतर वस्तुओं पर विचार करने का संयोग अल्पतम ही होता है, ठीक उसी प्रकार जीव यदि स्वर्ग में जाता है, तो उसकी भी आत्मोन्नति की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। कारण यह है

कि उसकी दशा यहां के धनी व्यक्ति की भांति हो जाती है, वरन् यहां की अपेक्षा और भी अधिक प्रखर। उसको वहां जो सूक्ष्म देह प्राप्त होती है, वह रोग मुक्त होती है, उसमें कोई खाने-पीने की आवश्यकता नहीं रह जाती और सब कामनाएं भी पूर्ण होती रहती हैं। जीव वहां सुख पर सुख भोगता है, परन्तु इसीलिए वह अपना स्वरूप बिलकुल भूल जाता है। फिर भी कुछ उच्चतर लोक ऐसे भी हैं, जहां सब भोगों के रहते हुए भी आगे विकास कर सकना सम्भव है। कुछ द्वैतवादी उच्चतम स्वर्ग को ही चरम लक्ष्य मानते हैं – उनके मतानुसार जीवात्माएं वहां जाकर चिरकाल तक भगवान् के साथ रहती हैं। वे वहां दिव्य देह प्राप्त करती हैं – उन्हें रोग, शोक, मृत्यु अथवा अन्य कोई अशुभ नहीं सताता। उनकी सब कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं। समय-समय पर उनमें से कोई-कोई पृथिवी पर आकर, देह धारण कर मनुष्य को ईश्वर के मार्ग का उपदेश देती है, और जगत् के सभी महान् उपदेशक ऐसे व्यक्ति ही हैं। वे पहले ही मुक्त होकर भगवान् के साथ उच्चतम लोक में वास करते हैं, किन्तु दुःखार्त मनुष्यों के प्रति उनकी इतनी प्रीति और अनुकम्पा होती है कि वे यहां आकर पुनः देह धारण कर लोगों को स्वर्ग-पथ के सम्बन्ध में उपदेश देते हैं।

अद्वैतवाद की इस मान्यता से तो हम परिचित हैं कि यह हमारा चरम लक्ष्य कभी नहीं हो सकता। हमारा लक्ष्य होना चाहिए सम्पूर्ण विदेह मुक्ति। आदर्श कभी ससीम नहीं हो सकता। अनन्त से घट कर और कुछ भी हमारा चरम लक्ष्य नहीं हो सकता, किन्तु देह तो कभी अनन्त नहीं होती। यह होना असम्भव है, क्योंकि ससीमता से शरीर की उत्पत्ति है। विचार अनन्त नहीं हो सकता, क्योंकि विचार भी ससीम से उत्पन्न होता है। अद्वैतवादी कहता है, हमे देह और विचार के परे जाना होगा; और हमने अद्वैतवादियों की यह धारणा भी देखी है कि मुक्ति कोई प्राप्त करने की वस्तु नहीं है, वह तो सदा तुम्हारी अपनी है। केवल हम लोग उसे भूल जाते हैं और उसे अस्वीकार करते हैं। पूर्णता हमें प्राप्त करना नहीं है, वह तो सदैव ही हमारे भीतर वर्तमान है। यह अमरत्व, यह आनन्द हमें अर्जित करना नहीं है, वह तो सदा से ही हमें प्राप्त है।

यदि तुम साहस के साथ यह कह सको कि 'मैं मुक्त हूं', तो इसी क्षण तुम मुक्त हो। यदि तुम कहो, 'मै बद्ध हूं', तो तुम बद्ध ही रहोगे। जो हो, द्वैतवादियों के विभिन्न मत मैंने तुमको बता दिये हैं, इनमें से तुम जिसे चाहो, ग्रहण करो।

वेदान्त की यह बात समझना बहुत कठिन है और लोग सदा इस पर विवाद करते रहते हैं। सबसे अधिक मुश्किल तो यही है कि जो किसी एक मत को ले लेता है, वह दूसरे मत को बिलकुल अस्वीकार कर उस मतावलम्बी के साथ वाद-विवाद करने में प्रवृत्त हो जाता है। तुम्हारे लिए जो उपयुक्त हो, उसे तुम ग्रहण करो, और

दूसरे को जो उपयुक्त लगे, उसे वह ग्रहण करने दो। यदि तुम अपने इस क्षुद्र व्यक्तित्व को, इस ससीम मानवत्व को रखने के लिए इतने इच्छुक हो, तो उसे अनायास ही रख सकते हो. तुम्हारी सभी वासनाएं रह सकती हैं और तुम उनमें सन्तुष्ट भी रह सकते हो। यदि मनुष्य भाव में रहने का आनन्द तुम्हें इतना सुन्दर और मधुर लगता है, तो तुम जितने दिन इच्छा हो, उसको रख सकते हो, क्योंकि तुम जानते हो कि तुम्हीं अपने भाग्य के निर्माता हो। जबरदस्ती तुमसे कोई कुछ भी नहीं करा सकता। तुम्हारी जब तक इच्छा हो, मनुष्य बने रहो, कोई भी तुम्हें रोक नहीं सकता। यदि देवता होने की इच्छा करो, तो देवता हो जाओगे। असल बात यह है। किन्तु कुछ लोग ऐसे हैं, जो देवता भी नहीं बनना चाहते। उनसे यह कहने का तुम्हारा क्या अधिकार है कि वह बड़ी भयंकर बात है ? तुम्हें सौ रुपये खो जाने से दुःख हो सकता है, किन्तु ऐसे भी अनेक लोग हैं, जिनका यदि सर्वस्व नष्ट हो जाए, तो भी उन्हें किंचित् कष्ट नहीं होगा। ऐसे लोग प्राचीनकाल में भी थे और आज भी हैं। तुम उन्हें अपने आदर्श के पैमाने से क्यों नापते हो ? तुम अपने इन क्षुद्र सीमित भावों से चिपके रहो, ये लौकिक विचार तुम्हारे सर्वोच्च आदर्श बने रहें। जैसा चाहोगे वैसा ही पाओगे। किन्तु ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जिन्हें सत्य का दर्शन हुआ है – वे इन सीमाओं में संतुष्ट नहीं रह सकते, वे इनके परे जाना चाहते हैं। जगत् और उसका सम्पूर्ण भोग उन्हें गोखुर से अधिक नहीं जान पड़ता। तुम उन्हें अपने विचारों में क्यों फंसाकर रखना चाहते हो? इस प्रवृत्ति को बिलकुल छोड़ना पड़ेगा। प्रत्येक को उसका स्थान दो।

बहुत दिन पहले मैंने पत्रों में एक समाचार पढ़ा था। कुछ जहाज[1] प्रशान्त महासागर के एक द्वीपपुंज के निकट तूफान में फंस गये। सचित्र लंदन समाचार (Illustrated London News) पत्रिका में इस घटना का एक चित्र भी आया था। तूफान में केवल एक ब्रिटिश जहाज को छोड़कर अन्य सब भग्न होकर डूब गयें। वह ब्रिटिश जहाज तूफान पार कर चला आया। चित्र में यह दिखाया है कि जहाज डूबे जा रहे हैं, उनके डूबते हुए यात्री डेक के ऊपर खड़े होकर तूफान के मध्य बच जानेवाले यात्रियों को प्रोत्साहित कर रहे हैं। इसी प्रकार हमें वीर, उदार होना चाहिए। दूसरों को नीचे खींचकर अपनी भूमि पर मत लाओ। लोग मूर्ख के समान एक और मत की पुष्टि किया करते हैं कि यदि हमारा यह क्षुद्र व्यक्तित्व चला जाएगा, तो जगत् में किसी प्रकार की नीतिपरायणता नहीं रहेगी, मनुष्य-जाति की आशा उच्छिन्न हो जाएगी। मानो जो ऐसा कहते हैं, वे समग्र मानव-जाति के लिए सदा प्राणोत्सर्ग ही करने के लिए तैयार हैं!

1.. प्रशान्त महासागर के समोआ द्वीपपुंज के पास ब्रिटिश जहाज 'कैलिओपी' और अमेरिका के कुछ युद्ध जहाज।

ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे ! यदि हर देश में केवल दो सौ नर-नारी देश के सच्चे हितैषी हो, तो पांच दिन में सत्ययुग आ सकता है। हम जानते हैं कि हम मनुष्य-जाति के उपकार के लिए किस प्रकार आत्मोत्सर्ग करना चाहते हैं! ये सब लम्बी-चौडी बातें हैं – और कुछ नहीं। विश्व के इतिहास से यह स्पष्ट है कि जिन्होंने अपने इस क्षुद्र व्यक्तित्व को एकदम भुला दिया था, वे ही मानव-जाति के सर्वोत्तम हितैषी हैं, और स्त्री या पुरुष जितना ही अधिक अपने सम्बन्ध में सोचते हैं, वे दूसरों के लिए उतना ही कम कर पाते हैं। उनमें से एक में नि.स्वार्थपरता है और दूसरों में स्वार्थ परता। इन छोटे-छोटे भोग-सुखो में आसक्त रहना और उनकी निरंतरता तथा पुनरावृत्ति चाहना घोर स्वार्थ है। ऐसी मनोवृत्ति सत्यानुराग अथवा दूसरों के प्रति दयालु भाव के कारण नहीं होती – इसकी उत्पत्ति का एकमात्र कारण है घोर स्वार्थपरता। दूसरे किसी की ओर दृष्टि न रखकर केवल अपनी ही भोगवृत्ति के भाव से इसका जन्म होता है। कम से कम मुझे तो यही जान पडता है। संसार में मैं प्राचीन पैगम्बरों और महात्माओं के समान चरित्रबलशाली व्यक्ति और देखना चाहता हूं – वे एक क्षुद्र पशु तक के उपकारार्थ सौ-सौ जीवन त्यागने के लिए तैयार थे। नीति और परोपकार की क्या बात करते हो ? यह तो आजकल की बेकार की बातें हैं।

मैं गौतम बुद्ध के समान नैतिकतायुक्त लोग देखना चाहता हूं। वे सगुण ईश्वर अथवा व्यक्तिगत आत्मा में विश्वास नहीं करते थे, उस विषय में कभी प्रश्न ही नहीं करते थे, उस विषय में पूर्ण अज्ञेयवादी थे, किन्तु जो सबके लिए अपने प्राण तक देने को प्रस्तुत थे – आजन्म दूसरों का उपकार करने में रत रहते तथा सदैव इसी चिन्ता में मग्न रहते थे कि दूसरों का उपकार किस प्रकार हो। उनके जीवन-चरित लिखनेवालो ने ठीक ही कहा है कि उन्होंने 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' जन्म ग्रहण किया था। वे अपनी निजी मुक्ति के लिए वन में तप करने नहीं गये। दुनिया जली जा रही है – और इसे बचाने का कोई उपाय मुझे खोज निकालना चाहिए। उनके समस्त जीवन में यही एक चिन्ता थी कि जगत् मे इतना दुःख क्यों है ? तुम लोग क्या यह समझते हो कि हम सब उनके समान नैतिकतापरायण हैं ?

मनुष्य जितना ही स्वार्थी होता है, उतना ही अनैतिक भी होता है। यही बात जातियो के सम्बन्ध में सत्य है। स्वयं अपने से ही विजडित रहनेवाली जाति ही समग्र संसार में सबसे अधिक क्रूर और पातकी सिद्ध हुई है। अरब के पैगम्बर द्वारा प्रवर्तित धर्म से बढकर द्वैतवाद से चिपकनेवाला कोई दूसरा धर्म आज तक नहीं हुआ, और इतना रक्त बहानेवाला तथा दूसरों के प्रति इतना निर्मम धर्म भी कोई दूसरा नहीं हुआ। कुरान का यह आदेश है कि जो मनुष्य इन शिक्षाओं को न माने, उसको मार डालना चाहिए;

उसकी हत्या कर डालना ही उस पर दया करना है ! और सुन्दर हूरों तथा सभी प्रक के भोगों से युक्त स्वर्ग को प्राप्त करने का सबसे विश्वस्त रास्ता है, काफिरों की हत्या करना। ऐसे कुविश्वासों के फलस्वरूप जितना रक्तपात हुआ है, उसकी कल्पना कर लो !

ईसामसीह ने जिस धर्म का प्रचार किया, उसमें ऐसी भद्दी बातें नहीं थीं। विशुद्ध ईसाई-धर्म और वेदान्त धर्म में बहुत कम अन्तर है। उन्होंने अद्वैतवाद का भी प्रचार किया और जनसाधारण को सन्तुष्ट रखने के लिए, उसे उच्चतम आदर्श की धारणा कराने के लिए सोपान रूप से द्वैतवाद के आदर्श की भी शिक्षा दी। जिन्होंने 'मेरे स्वर्गस्थ पिता' कहकर प्रार्थना करने का उपदेश दिया था, उन्होंने यह भी कहा था 'मैं और मेरे पिता एक हैं।' वे यह भी जानते थे कि इस स्वर्गस्थ पितारूप द्वैतभाव की उपासना करते-करते ही अभेद बुद्धि आ जाती है। उस समय ईसाई-धर्म केवल प्रेम और आशीर्वादपूर्ण था, किन्तु उसमें जैसे ही असंस्कार आ घुसे, वह च्युत होकर अरब के पैगम्बर के धर्म के स्तर पर आ टिका। यह जो क्षुद्र 'मैं' के लिए मारकाट, 'मैं' के प्रति घोर आसक्ति, और केवल इसी जीवन में नहीं बल्कि मृत्यु के बाद भी इस क्षुद्र 'मैं' तथा इस क्षुद्र व्यक्तित्व को ही लेकर रहने की इच्छा, यह सब असंस्कार ही तो है। वे इसी को निःस्वार्थपरता और नैतिकता की आधारशिला कहते हैं। यही अगर नैतिकता की आधार-शिला हो, तो भगवान् हमारी रक्षा करें ! और आश्चर्य की बात यह है कि जिस सब नर-नारियों से हम अधिक ज्ञान की अपेक्षा करते हैं, उन्हें यह डर लगता है कि इस क्षुद्र 'मैं' के मिटने पर सारी नैतिकता बिलकुल नष्ट हो जाएगी। यह कहने से कि इस क्षुद्र 'मैं' के विनाश पर ही यथार्थ नैतिकता अवलम्बित है, इनका कलेजा मुंह में आ जाता है। सब प्रकार की नीति, शुभ तथा मंगल की मूलमन्त्र 'मैं' नहीं, 'तुम' है। स्वर्ग और नरक है या नहीं, आत्मा है या नहीं, कोई अनश्वर सत्ता है या नहीं, इसकी चिन्ता कौन करता है ? हमारे सामने यह संसार है और वह दुःख से पूर्ण है। बुद्ध के समान इस संसार-सागर में गोता लगाकर या तो इस संसार के दुःख को दूर करो या इस प्रयत्न में प्राण त्याग दो। अपने को भूल जाओ; आस्तिक हो या नास्तिक, अज्ञेयवादी हो या वेदान्ती, ईसाई हो या मुसलमान – प्रत्येक के लिए यही प्रथम पाठ है; और जो पाठ सबको स्पष्ट है, वह है तुच्छ अहं का उन्मूलन और वास्तविक आत्मा का विकास।

दो शक्तियां सदा समानान्तर रेखाओं में एक-दूसरे के साथ कार्य कर रही हैं। एक कहती है, "मैं" और दूसरी कहती है, "मैं नहीं"। उनकी अभिव्यक्ति केवल मनुष्यों में ही नहीं, किन्तु पशुओं में भी देखी जाती है–केवल पशुओं में ही नहीं क्षुद्रतम कीटाणुओं में भी। नर-रक्त की प्यासी लपलपाती जीभवाली बाघिन भी अपने बच्चे की

रक्षा के लिए जान देने को प्रस्तुत रहती है। अत्यन्त बुरा आदमी, जो अनायास ही अपने भाई का गला काट सकता है – वह भी भूख से मरती हुई अपनी स्त्री तथा बाल-बच्चों के लिए अपने प्राण निस्संकोच दे देता है। सृष्टि के भीतर ये दोनों शक्तियां पास-पास ही काम कर रही हैं – जहां एक शक्ति देखोगे, वहां दूसरी भी दीख पड़ेगी। स्वार्थपरता है और दूसरी निःस्वार्थपरता। एक है ग्रहण, दूसरी त्याग। एक लेती है, दूसरी देती है। क्षुद्रतम प्राणी से लेकर उच्चतम प्राणी तक समस्त ब्रह्माण्ड इन्हीं दोनों शक्तियों का लीलाक्षेत्र है। इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं – यह स्वतः प्रमाण है।

समाज के एक अंश के लोगें को जगत् के समस्त क्रियाकलाप और विकास को इन दो में से केवल एक – प्रतियोगिता और संघर्ष – घटक पर आधारित कर देने का क्या अधिकार है ? विश्व के सारे व्यापारों को राग-द्वेष, युद्ध, प्रतियोगिता और संघर्ष पर अधिष्ठित मानने का उन्हें क्या अधिकार है ? उनके अस्तित्व को हम अस्वीकार नहीं करते। किन्तु उन्हें दूसरी शक्ति की क्रिया को बिलकुल न मानने का क्या अधिकार है ? क्या, कोई मनुष्य यह अस्वीकार कर सकता है कि यह प्रेम, अहंशून्यता अथवा त्याग ही जगत् की एकमात्र धनात्मक शक्ति है ? दूसरी शक्ति इस प्रेम-शक्ति का ही असम्यक् प्रयोग है, प्रेम से ही प्रतिद्वन्द्विता की उत्पत्ति होती है, प्रेम ही प्रतियोगिता का मूल है। निःस्वार्थपरता ही अशुभ की माता है। शुभ ही अशुभ का जनक है, और अशुभ का परिणाम भी शुभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। एक व्यक्ति जो दूसरी की हत्या करता है वह भी प्रायः अपने पुत्रादि के प्रति स्नेह की प्रेरणा से ही, एवं उनके लालन-पालन के लिए उसका प्रेम संसार के लाखों व्यक्तियों से हटकर केवल अपने शिशु मे सीमित हो जाता है, किन्तु ससीम हो या असीम, वह मूलतः है प्रेम ही।

अतएव समग्र जगत् की परिचालक, जगत् में एक मात्र प्रकृत और जीवन्त-शक्ति वही एक अद्‍भुत वस्तु है – वह किसी भी आकार में व्यक्त क्यों न हो, और वह है प्रेम, नि.स्वार्थपरता तथा त्याग। इसीलिए वेदान्त अद्वैत पर जोर देता है। हम भी इसी व्याख्या पर आग्रह कर रहे हैं, क्योंकि हम जगत् के दो कारण स्वीकार नहीं कर सकते। यहां यदि हम यह स्वीकार कर लें कि वही एक अपूर्व सुन्दर प्रेम सीमित होकर ही असत् रूप में प्रतीत होता है, तो एक ही प्रेमशक्ति द्वारा सम्पूर्ण जगत् की व्याख्या हो जाती है। नहीं तो हमें जगत् के दो कारण मानने पड़ेंगे – एक शुभ, दूसरा अशुभ – एक प्रेम, दूसरा घृणा। इन दोनो सिद्धान्तों के बीच में कौन अधिक न्याय-संगत है? – निश्चित ही शक्ति को माननेवाला सिद्धान्त।

मैं अब ऐसी बातों की चर्चा करूंगा जो सम्भवत. द्वैतवाद से सम्बन्ध नहीं रखतीं। मैं द्वैतवाद की इस आलोचना में और अधिक समय नहीं दूंगा। मेरा उद्देश्य यहां यह

दिखलाना है कि नैतिकता और निःस्वार्थपरता के उच्चतम आदर्श उच्चतम दार्शनिक धारणा के साथ असंगत नहीं हैं, नैतिकता और नीतिशास्त्र की उपलब्धि के लिए तुमको अपनी दार्शनिक धारणा को नीचा नहीं करना पड़ता, वरन् नैतिकता और नीतिशास्त्र को ठोस आधार देने के लिए तुमको उच्चतम दार्शनिक और वैज्ञानिक धारणाएं स्वीकार करनी होंगी। मनुष्य का ज्ञान मनुष्य के मंगल का विरोधी नहीं है, वरन् जीवन में प्रत्येक विभाग में ज्ञान हमारी रक्षा करता है। ज्ञान ही उपासना हैं। हम जितना जान सकें, उसी में हमारा मंगल है। वेदान्ती कहते हैं, इस समस्त प्रतीयमान अशुभ का कारण है – असीम का सीमाबद्ध हो जाना। जो प्रेम सीमाबद्ध होकर क्षुद्र-भावापन्न हो जाता है तथा अशुभ प्रतीत होता है, वही फिर अपनी चरमावस्था में स्वयं को ईश्वर रूप में प्रकाशित करता है। वेदान्त यह भी कहता है कि इस आपातप्रतीयमान् सम्पूर्ण अशुभ का कारण हमारे भीतर ही है। किसी लोकोत्तर पुरुष को दोष न दो, न निराश या विषण्ण होओ, न सोचो कि तुम गर्त के बीच में पडे हो और जब तक कोई दूसरा आकर तुम्हारी सहायता नहीं करता, तब तक तुम इससे निकल नहीं सकते। वेदान्त कहता है, दूसरे की सहायता से हमारा कुछ नहीं हो सकता। हम रेशम के कीड़े के समान हैं। किन्तु यह बद्धभाव चिरकाल के लिए नहीं है। हम लोग उससे तितली के समान बाहर निकालकर मुक्त हो जाएंगे। हम लोग अपने चारों ओर इस कर्मजाल को लगा देते हैं और अज्ञानवश सोचने लगते हैं कि हम बद्ध हैं और सहायता के लिए रोते-चिल्लाते हैं। किन्तु बाहर से कोई सहायता नहीं मिलती, सहायता मिलती है भीतर से। दुनिया के सारे देवताओं के पास तुम रो सकते हो, मैं भी बहुत वर्ष इसी तरह रोता रहा, अन्त में देखा कि मुझे सहायता मिल रही है. किन्तु यह सहायता भीतर से मिली। भ्रान्तिवश इतने दिन तक जो अनेक प्रकार के काम करता रहा, उस भ्रान्ति को मुझे दूर करना पड़ा। यही एकमात्र उपाय है। मैंने स्वयं अपने को जिस जाल में फंसा रखा है, वह मुझे ही काटना पड़ेगा और उसे काटने की शक्ति भी मुझमें ही है। इस विषय में निश्चयपूर्वक कह सकता हूं, कि मेरे जीवन की सदसत् कोई भी प्रवृत्ति व्यर्थ नहीं गयी – मैं उसी अतीत शुभाशुभ दोनों प्रकार के कर्मो का समष्टिस्वरूप हूं। मैंने जीवन में बहुत-सी भूलें की हैं. किन्तु इनको किये बिना आज जो मैं हूं वह कभी न होता। मैं अब अपने जीवन से अत्यन्त सन्तुष्ट हूं। पर मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि तुम घर जाकर चाहे जितना अन्याय करते रहो। मेरी बात का गलत मतलब न समझ लेना। मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि कुछ भूल-चूक हो गयी है, इसलिए एकदम हाथ पर हाथ रखकर मत बैठे रहो, किन्तु यह समझ रखो कि अन्त में फल सबका शुभ ही होता है। इसके विपरीत और कुछ कभी नहीं हो सकता, क्योंकि शिवत्व और विशुद्धत्व हमारा स्वाभाविक धर्म है। उसका किसी

भी प्रकार नाश नहीं हो सकता। हम लोगो का यथार्थ स्वरूप सदा ही एकरूप रहता है।

हमें जो समझ लेना है, वह यह है कि जिन्हें हम भूले या अशुभ कहते हैं, वह हम दुर्बल होने के कारण करते हैं, और हम दुर्बल अज्ञानी होने के कारण हैं। मैं पाप शब्द के बजाय भूल शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त समझता हूं। पाप शब्द यद्यपि मूलतः एक बडा अच्छा शब्द था, किन्तु अब उसमे जो व्यंजना आ गयी है, उससे मुझे भय लगता है। हमे किसने अज्ञानी बनाया है ? स्वयं हमने। हम लोग स्वयं अपनी आंखों पर हाथ रखकर 'अन्धेरा-अन्धेरा' चिल्लाते हैं। हाथ हटा लो और प्रकाश हो जाएगा; देखोगे कि मानव की प्रकाशस्वरूप आत्मा के रूप मे प्रकाश सदा विद्यमान रहता है। तुम्हारे आधुनिक वैज्ञानिक क्या कहते हैं, यह क्यों नहीं देखते ? इस विकास का क्या कारण है ? – वासना-इच्छा। पशु कुछ करना चाहता है, किन्तु परिवेश को अनुकूल नहीं पाता, और इसलिए वह एक नूतन शरीर धारण कर लेता है। तुम निम्नतम जीवाणु अमीबा से विकसित हुए हो। अपनी इच्छा-शक्ति का प्रयोग करते रहो, और भी अधिक उन्नत हो जाओगे। इच्छा सर्वशक्तिमान है। तुम कहोगे, यदि इच्छा सर्वशक्तिमान है, तो में हर बात क्यों नहीं कर पाता ? उत्तर यह है कि तुम जब ऐसी बातें करते हो, उस समय केवल अपने क्षुद्र 'मै' की ओर देखते हो। सोचकर देखो, तुम क्षुद्र जीवाणु से इतने बडे मनुष्य हो गये। किसने तुम्हे मनुष्य बनाया ? तुम्हारी अपनी इच्छा-शक्ति ने ही। यह इच्छा-शक्ति सर्वशक्तिमान है – तुम क्या यह अस्वीकार कर सकते हो ? जिसने तुम्हें इतना उन्नत बना दिया, वह तुम्हें और भी अधिक उन्नत कर सकती है। तुमको आवश्यकता है चरित्र की और इच्छा-शक्ति को सबल बनाने की।

अतएव यदि मैं तुम्हें यह उपदेश दूं कि तुम्हारी प्रकृति असत् है, और यह कहूं कि तुमने कुछ भूलें की हैं, इसलिए अब तुम अपना जीवन केवल पश्चात्ताप करने तथा रोने-धोने में ही बिताओ, तो इससे तुम्हारा कुछ भी उपकार न होगा, वरन् उससे और भी दुर्बल हो जाओगे। ऐसा करना तुम्हें सत्पथ के बजाय असत्पथ दिखाना होगा। यदि हजारों साल इस कमरे में अन्धेरा रहे और तुम कमरे मे आकर 'हाय ! बडा अन्धेरा है ! बडा अन्धेरा है !' कह-कहकर रोते रहो, तो क्या अन्धेरा चला जाएगा ? कभी नहीं। एक दियासलाई जलाते ही कमरा प्रकाशित हो उठेगा। अतएव जीवन भर 'मैंने बहुत दोष किये हैं, मैने बहुत अन्याय किया है', यह सोचने से क्या तुम्हारा कुछ भी उपकार हो सकेगा ? हममे बहुत से दोष हैं, यह किसी को बतलाना नहीं पडता। ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करो, एक क्षण में सब अशुभ चला जाएगा। अपने प्रकृतस्वरूप को पहचानो, प्रकृत 'मैं' को – उसी ज्योतिर्मय उज्ज्वल, नित्यशुद्ध 'मैं' को, प्रकाशित करो – प्रत्येक व्यक्ति में उसी आत्मा को जगाओ। मै चाहता हूं कि सभी व्यक्ति ऐसी दशा में आ जाएं कि अति

जघन्य पुरुष को भी देखकर उसी बाह्य दुर्बलताओं की ओर वे दृष्टिपात न करें, बल्कि उसके हृदय में रहनेवाले भगवान् को देख सकें; और उसकी निन्दा न करे, यह कह सकें, 'हे स्वप्रकाशक, ज्योतिर्मय उठो ! हे सदाशुद्धस्वरूप उठो ! हे अज, अविनाशी, सर्वशक्तिमान, उठो ! आत्मस्वरूप प्रकाशित करो। तुम जिन क्षुद्र भावों में आबद्ध पड़े हो, वे तुम्हें सोहते नहीं।' अद्वैतवाद इसी श्रेष्ठतम प्रार्थना का उपदेश देता है। निजस्वरूप स्मरण, सदा उसी अन्तःस्थ ईश्वर का स्मरण – यही एकमात्र प्रार्थना है। यह क्षुद्र इसीलिए अभय और ओजस्वरूप है, क्योंकि कामना तथा स्वार्थ से ही भय की उत्पत्ति होती है। जिसे अपने लिए कोई कामना नहीं, वह किससे डरेगा ? कौन-सी वस्तु उसे डरा सकती है ? क्या उसे मृत्यु डरा सकती है ? अशुभ, विपत्ति डरा सकती है ? कभी नहीं। अतएव यदि हम अद्वैतवादी हैं, तो हमें यह मानना होगा कि हमारा 'मैं-पन' इसी क्षण से मृत है। फिर मैं स्त्री हूं या पुरुष हूं, अमुक-अमुक हूं, यह सब भाव नहीं रह जाता, ये अन्धविश्वास मात्र थे, और शेष रहता है वही नित्य शुद्ध, नित्य ओजस्वरूप, सर्वशक्तिमान सर्वज्ञस्वरूप और तब हमारा सारा भय चला जाता है। कौन इस सर्वव्यापी 'मैं' का अनिष्ट कर सकता है ? इस प्रकार हमारी सम्पूर्ण दुर्बलता चली जाती है। तब दूसरों में भी उसी शक्ति को उद्दीप्त करना हमारा एकमात्र कार्य हो जाता है। हम देखते हैं, वे भी यही आत्मास्वरूप हैं, किन्तु वे यह जानते नहीं। अतएव हमें उन्हें सिखाना होगा – उनके इस अनन्तस्वरूप के प्रकाशनार्थ हमें उनकी सहायता करनी पडेगी। मैं देखता हूं कि जगत् में इसी के प्रचार की सबसे अधिक आवश्यकता है। यह सब मत अत्यन्त पुराने हैं, बहुतेरे पर्वतों से भी पुराने। सभी सत्य सनातन हैं। सत्य व्यक्तिविशेष की सम्पत्ति नहीं है। कोई भी जाति, कोई भी व्यक्ति उसे अपनी सम्पत्ति कहने का दावा नहीं कर सकता। सत्य ही सब आत्माओं का यर्थार्थस्वरूप है। किसी भी व्यक्तिविशेष का उस पर विशेष अधिकार नहीं है। किन्तु हमें उसे व्यावहारिक और सरल बनाना होगा, (क्योकि उच्चतम सत्य अत्यन्त सहज और सरल होते हैं) जिससे वह समाज के हर रंध्र में व्याप्त हो जाए, उच्चतम मस्तिष्क से लेकर अत्यन्त साधारण मन द्वारा भी समझा जा सके, तथा आबाल-वृद्ध-वनिता सभी उसे जान सकें। ये न्याय के कूट विचार, दार्शनिक मीमांसाएं, ये सब मतवाद और क्रिया-काण्ड – इन सबने किसी समय भले ही उपकार किया हो, किन्तु आओ, हम सब आज से – इसी क्षण से धर्म को सहज बनाने की चेष्टा करें और उस सतयुग के पुनरागमन में सहायता करें, जब प्रत्येक व्यक्ति उपासक होगा और उसका अन्तःस्थ सत्य ही उसी उपासना का विषय होगा।

व्याख्यान, प्रवचन एवं कक्षालाप

(आत्मा, ईश्वर और प्रकृति)

आत्मा का मुक्त स्वभाव
(सन् 1896 ई० में न्यूयार्क में दिया हुआ व्याख्यान)

स्वामीजी ने बताया कि द्वैतवाद प्रकृति और आत्माओं में सांख्य का विश्लेषण पर्यवसित है। शुद्ध आत्मा का विनाश न होने (अमर होने का) कारण उसकी प्रकृति से स्वतन्त्रता है। वैसे ही अनगिनत आत्माएं हैं। सांख्य के मतानुसार आत्मा निष्क्रिय है। आत्मा का अमर होने का कारण उसका अमिश्र (शुद्ध) होना है, तथा प्रकृति आत्मा के अपवर्ग अथवा उसकी मुक्ति साधित करने के लिए ही इस समग्र प्रपंचजाल का विस्तार करती है, तथा आत्मा जब समझ पाती है कि वह प्रकृति नहीं है, तभी उसकी मुक्ति होती है। दूसरी ओर यह भी हमने देखा है, कि सांख्यवादियों को बाध्य होकर स्वीकार करना पडा था कि प्रत्येक आत्मा सर्वव्यापी है। आत्मा जब अमिश्र पदार्थ है, तब वह ससीम हो नहीं सकती; क्योंकि समग्र सीमाबद्ध भाव देश, काल अथवा निमित्त के द्वारा बना होता है। आत्मा जब सम्पूर्ण रूप से इन सबसे अतीत है, तब उसमें ससीमभाव कुछ रह नहीं सकता। ससीम होने पर उसे देश के भीतर रहना होगा, और इसका अर्थ है, उसकी एक देह अवश्य ही रहेगी, तथा जिसकी देह है, वह अवश्य प्रकृति के अन्तर्गत है। यदि आत्मा का आकार होता, तब तो आत्मा प्रकृति से अभिन्न होती। अतएव आत्मा निराकार है; तथा जो निराकार है, वह यहां, वहां अथवा और कहीं है, यह नहीं कहा जाता। वह अवश्य ही सर्वव्यापी होगी। सांख्य दर्शन इससे आगे और अधिक नहीं गया।

सांख्यवादियों के इस मत के विरुद्ध वेदान्तवादियों की प्रथम आपत्ति यह है कि सांख्य का यह विश्लेषण सम्पूर्ण नहीं है। यदि प्रकृति एक निरपेक्ष वस्तु है एवं आत्मा भी यदि निरपेक्ष वस्तु है, तो दो निरपेक्ष वस्तुएं हुई और जिन सब युक्तियों से आत्मा का सर्वव्यापी होना प्रमाणित होगा, वे युक्तियां प्रकृति के पक्ष में भी प्रयुक्त हो सकेंगी, इसलिए वह भी समग्र देश-काल-निमित्त के अतीत होगी। प्रकृति यदि इस प्रकार की ही हो, तो उसका किसी प्रकार का परिणाम अथवा विकास नहीं होगा। इससे निष्कर्ष निकला कि दो निरपेक्ष अथवा पूर्ण वस्तुएं स्वीकार करनी होती हैं और यह असम्भव

है। वेदान्तवादी का इस सम्बन्ध में क्या समाधान है ? उसका समाधान यह है कि स्थूल जड से महत् अथवा बुद्धि तत्त्व तक प्रकृति का समग्र विकार जब अचेतन है, तब जिससे मन चिन्ता कर सके एवं प्रकृति काम कर सके, उसके लिए, उनके परे उनके परिचालक शक्तिस्वरूप एक चैतन्यवान पुरुष का अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है। वेदान्ती कहते हैं, समग्र ब्रह्माण्ड के पश्चात् यह चैतन्यवान पुरुष *विद्यमान है, उसे ही हम ईश्वर कहते हैं, इसलिए यह जगत् उससे पृथक् नहीं है।* वह जगत् का केवल निमित्त कारण ही नहीं है, वरन् उपादान कारण भी है। कार्य कारण का ही रूपान्तर मात्र है। यह तो हम प्रतिदिन ही देख रहे हैं। अतएव यह ईश्वर ही प्रकृति का कारणस्वरूप है। द्वैत, विशिष्टाद्वैत अथवा अद्वैत – वेदान्त के जितने विभिन्न रूप अथवा विभाग हैं, सबका यही प्रथम सिद्धान्त कि ईश्वर इस जगत् का केवल निमित्त कारण ही नहीं है, वह इसका उपादान कारण भी है, जो कुछ जगत् में है, सब वही है। वेदान्त की दूसरी सीढ़ी यह है कि जो आत्माएं हैं, ये भी ईश्वर के अंशस्वरूप हैं, उसी अनन्त वह्नि के एक-एक स्फुलिंग मात्र अर्थात् 'जैसे एक बृहत् अग्निराशि से सहस्त्र अग्निकण निकलते हैं, उसी प्रकार उस पुरातन पुरुष से ये सब आत्माएं बहिर्गत हुई हैं।'[1] यहां तक तो ठीक हुआ, किन्तु इस सिद्धान्त से भी तृप्ति नहीं होती है। अनन्त का अंश – इन शब्दों का अर्थ क्या है ? अनन्त तो अविभाज्य है। अनन्त का कदापि अंश हो नहीं सकता। पूर्ण वस्तु कदापि विभक्त हो नहीं सकती। तो फिर यह जो कहा गया, आत्मासमूह उनसे स्फुलिंग के समान निकले हैं – इन शब्दों का तात्पर्य क्या है ? अद्वैत वेदान्ती इस समस्या की इस प्रकार मीमांसा करते हैं कि वास्तव में पूर्ण का अंश नहीं होता। प्रत्येक आत्मा यथार्थ में ब्रह्म का अंश नहीं है, वास्तव में वह अनन्त ब्रह्मस्वरूप है। तब इतनी आत्माएं किस प्रकार आयीं ? लाख-लाख जलकणों पर सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़कर लाख-लाख सूर्य के समान दिखायी पड़ रहा है तथा प्रत्येक जलकण में ही क्षुद्र आकार में सूर्य की मूर्ति विद्यमान है। इसी प्रकार से सब आत्माएं प्रतिबिम्ब रूप हैं, सत्य नहीं हैं। ये वह वास्तविक 'मैं' नहीं हैं, जो इस जगत् का ईश्वर है, ब्रह्माण्ड का अविभक्त सत्तास्वरूप है। अतएव ये सब विभिन्न प्राणी, मनुष्य, पशु इत्यादि सब प्रतिबिम्बरूप हैं, सत्य नहीं हैं। ये प्रकृति के ऊपर प्रक्षिप्त मायामय प्रतिबिम्ब मात्र हैं। जगत् में अनन्त पुरुष केवल एक है तथा वही पुरुष, 'तुम', 'हम' इत्यादि रूप में प्रतीयमान हो रहा है, किन्तु यह भेद-प्रतीति मिथ्या के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं

---

1. यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति।।
—मुण्डकोपनिषद्।। 2। 1। 1।।

है। वह विभक्त नहीं होता, विभक्त हुआ ऐसा बोध मात्र होता है। देश-काल-निमित्त के जाल के भीतर से उसे देखने के कारण यह आपातप्रतीयमान विभाग अथवा भेद हुआ है। हम जब ईश्वर को देश-काल-निमित्त के जाल के भीतर से देखते हैं, तब हम उसको जड़ जगत् के रूप में देखते हैं। जब और कुछ उच्चतर भूमि से, किन्तु उसी जाल के भीतर से उसे देखते हैं, तब उसे पशु के रूप में – और कुछ उच्चतर भूमि से मनुष्य के रूप में – और ऊंचे जाने पर देव के रूप में देखते हैं। किन्तु वह ब्रह्माण्ड की एक अनन्त सत्ता है एवं वही सत्तास्वरूप हम भी हैं। किन्तु वह ब्रह्माण्ड की एक अनन्त सत्ता है, एवं वही सत्तास्वरूप हम भी हैं। हम ही वह हैं, तुम भी वह हो – उसके अंश नहीं, समग्र वही। 'वह अनन्त ज्ञातारूप में समग्र प्रपंच के परे खड़ा है, तथा वह स्वयं समग्र प्रपंचस्वरूप है।' वह विषय, विषयी – दोनों ही है। वह 'हम', वही 'तुम' है। यह किस प्रकार हुआ ? ज्ञाता को किस प्रकार जाना जाएगा ?'[2] ज्ञाता अपने को कदापि जान नहीं सकता। मैं सब कुछ देखता हूं, किन्तु अपने को देख नहीं पाता। वह आत्मा – जो ज्ञाता और सबका प्रभु है, जो प्रकृत वस्तु है – वही जगत् की समग्र दृष्टि का कारण है किन्तु अपने प्रतिबिम्बित के अतिरिक्त अपने को देख अथवा अपने को जान सकना उसके लिए असम्भव है। तुम दर्पण के अतिरिक्त अपना मुंह देख नहीं पाते। इसी प्रकार आत्मा भी प्रतिबिम्ब हुए बिना अपना स्वरूप देख नहीं पाती। इसलिए यह समग्र ब्रह्माण्ड ही आत्मा का निज की उपलब्धि का यत्नस्वरूप है। जीविसार (protoplasm) में उसका प्रथम प्रतिबिम्ब प्रकाशित होता है, उसके पश्चात् उद्‌भिद्, पशु आदि उत्तरोत्तर उत्कृष्ट प्रतिबिम्बकों से, और अन्त में सर्वोत्कृष्ट प्रतिबिम्ब प्रदान करनेवाला माध्यम – मनुष्य प्राप्त होता है; जैसे कोई अपना मुंह देखने की इच्छा से एक क्षुद्र कीचड़ से युक्त जलाशय में देखने का प्रयत्न करके मुंह की आकृतिमात्र देख पाता है। उसके पश्चात् वह कुछ अधिक निर्मल जल में कुछ अधिक उत्तम प्रतिबिम्ब देखता है, उसके पश्चात् उज्ज्वल धातु में उसकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ प्रतिबिम्ब देखता है। अन्त में दर्पण में देखने पर वह स्वतः ठीक जैसा है, ठीक वैसा ही प्रतिबिम्ब देखता है। अतएव विषय और विषयी उभयस्वरूप उसी पुरुष का सर्वश्रेष्ठ प्रतिबिम्ब है – 'पूर्ण मानव'। तुम अब समझ सकोगे कि मानव स्वभाववश ही क्यों सब वस्तुओं की उपासना किया करता है, तथा सब देशों में पूर्ण मानव क्यों स्वभावतः ईश्वर के रूप में पूजे जाते हैं। तुम जो भी क्यों न कहो, इनकी उपासना अवश्य होती रहेगी। इसीलिए लोग ईसामसीह अथवा बुद्ध आदि अवतारों की उपासना किया करते हैं। वे अनन्त आत्मा के सर्वश्रेष्ठ प्रकाशस्वरूप हैं। हम-तुम ईश्वर के

2. विज्ञातारमरे केन विजानीयात्। —बृहदारण्यकोपनिषद्।। 5। 15।।

सम्बन्ध में चाहे जो धारणा क्यों न करें, ये उसकी अपेक्षा उच्चतर हैं। एक पूर्ण मानव इन सब धारणाओं की अपेक्षा श्रेष्ठतर है। उसमें ही वृत्त सम्पूर्ण होता है – विषय और विषयी एक हो जाते हैं। उसका सब भ्रम और मोह चला जाता है। इनके स्थान पर उसे यह अनुभूति होती है कि वह चिरकाल से वही पूर्ण पुरुष के रूप में विद्यमान है। तो फिर यह बन्धन किस प्रकार आया ? इस पूर्ण पुरुष के पक्ष में अवनत होकर अपूर्ण-स्वभाव होना किस प्रकार सम्भव हुआ ? मुक्त के पक्ष में बद्ध होना किस प्रकार सम्भव हुआ ? मुक्त के पक्ष में बद्ध होना किस प्रकार सम्भव हुआ ? अद्वैतवादी कहते हैं, वह किसी काल में बद्ध नहीं होता, यह नित्य मुक्त है। आकाश में नाना वर्ण के नाना मेघ आ रहे हैं। वे मुहूर्त भर वहां ठहरकर चले जा रहे हैं। किन्तु वह एक नील आकाश बराबर समान भाव से विद्यमान है। आकाश का कदापि परिवर्तन नहीं होता, मेघ का परिवर्तन हो रहा है। इसी प्रकार तुम सब भी पहले से पूर्ण हो, अनन्तकाल से पूर्ण हो। कुछ भी तुम्हारी प्रकृति को कदापि परिवर्तित कर नहीं सकता, कभी करेगा भी नहीं। यह जो सब धारणा है कि हम अपूर्ण हैं, हम नर हैं, हम नारी हैं, हम पापी हैं, हम मन हैं, हमने विचार किया है, और करेंगे – यह सब भ्रम है। तुम कदापि विचार नहीं करते, तुम्हारी किसी काल में देह नहीं थी, तुम किसी काल में अपूर्ण नहीं थे। तुम इस ब्रह्माण्ड के आनन्दमय प्रभु हो। जो कुछ है या होगा, तुम उस सबके सर्वशक्तिमान नियन्ता हो – इस सूर्य, चन्द्र, तारा, पृथिवी, उद्भिद, इस हमारे जगत् के प्रत्येक अंश के – महान् शास्ता हो। तुम्हारी ही शक्ति से सूर्य किरण दे रहा है, तारागण अपनी प्रभा विकीर्ण कर रहे हैं, पृथिवी सुन्दर हुई है। तुम्हारे आनन्द की शक्ति से ही सब परस्पर-परस्पर से प्रेम कर रहे हैं और परस्पर के प्रति आकृष्ट हो रहे हैं। तुम्हीं सबके मध्य विद्यमान हो, तुम्हीं सर्वस्वरूप हो। किसका त्याग करोगे, अथवा किसको ही ग्रहण करोगे ? – तुम्हीं समग्र हो ! जब इस ज्ञान का उदय होता है, तब माया-मोह उसी क्षण उड़ जाता है।

मैं एक बार भारत की मरुभूमि में भ्रमण कर रहा था। मैंने एक महीने से अधिक भ्रमण किया था, और प्रतिदिन अपने सम्मुख अतिशय मनोरम दृश्यसमूह – अति सुन्दर-सुन्दर वृक्ष, सरोवर आदि – देखने को पाता था। एक दिन मैंने प्यास से विह्वल होकर, एक सरोवर में जल पान करने की इच्छा की। किन्तु ज्योंही मैं सरोवर की ओर अग्रसर हुआ, त्योंही वह अन्तर्हित हो गया। उसी क्षण मेरे मस्तिष्क में मानो प्रबल आघात के सहित यह ज्ञान आया कि सारे जीवन मैं जिस मरीचिका की कथा पढ़ता आ रहा हूं, यह वही मरीचिका है। तब मैं अपनी यह निर्बुद्धिता स्मरण करके हंसने लगा कि गत एक मास से मैं जो ये सब सुन्दर दृश्य और सरोवर आदि

देख रहा था, वे मरीचिका के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं थे, पर मैं तब यह विवेक न कर सका। दूसरे दिन सबेरे मैं फिर चलने लगा – वही सरोवर और सब दृश्य फिर से दिखायी पडे, किन्तु उसके साथ-साथ उसी क्षण मुझे यह ज्ञान भी हुआ कि वह मरीचिका मात्र है। एक बार जान सकने पर उसकी भ्रम उत्पन्न करनेवाली शक्ति नष्ट हो गयी थी। इसी प्रकार यह जगद्भ्रान्ति एक दिन हटेगी। यह समग्र ब्रह्माण्ड एक दिन हमारे सामने से अन्तर्हित होगा। इसका नाम ही प्रत्यक्षानुभूति है। दर्शन, केवल बात करने की बात अथवा तमाशा नहीं है। वह प्रत्यक्ष अनुभूत होगा। यह शरीर उड जाएगा, यह पृथिवी एवं और जो कुछ है, सब उड़ जाएगा – हम देह अथवा हम मन हैं, यह जो हमारा ज्ञान है, यह कुछ क्षण के लिए चला जाएगा अथवा यदि कर्म का सम्पूर्ण क्षय हो जाय, तो एकदम चला जाएगा, फिर लौटकर नहीं आएगा; तथा यदि कर्म का कुछ अंश शेष रहे, तो जैसा कुम्हार का चाक है – हांडी बन जाने पर भी पूर्ण वेग से कुछ क्षण घूमता रहता है, उसी प्रकार माया-मोह सम्पूर्ण रूप से दूर हो जाने पर भी यह देह कुछ दिन रह जाएगी। यह जगत् – नर-नारी, प्राणी – सब ही फिर आएंगे – जैसे दूसरे दिन भी मरीचिका दिखायी पडी थी। किन्तु पहले के समान वे सब, शक्ति-विस्तार नहीं कर सकेंगे, कारण साथ-साथ यह ज्ञान भी आएगा कि हमने उनका स्वरूप जान लिया है, तब वे फिर बद्ध नहीं कर सकेगे, किसी प्रकार का दु:ख, कष्ट, शोक फिर आ नहीं सकेगा। जब दु:खकर विषय कुछ आएगा, मन उससे कह सकेगा कि हम जानते हैं, तुम भ्रम मात्र हो। जब मानव यह अवस्था लाभ करता है, तो उसे जीवन्मुक्त कहते हैं जीवन्मुक्त का अर्थ है, जीवित अवस्था में ही जो मुक्त है। ज्ञान-योगी के जीवन का उद्देश्य यही जीवन्मुक्त होना है। वे ही जीवन्मुक्त हैं, जो इस जगत् में अनासक्त होकर वास कर सकते हैं। वे जल के पद्म -पत्र के समान रहते हैं – जैसे जल में रहने पर भी जल उसे कदापि भिगो नहीं सकता, उसी प्रकार वे जगत् में निर्लिप्त भाव से रहते हैं। वे मनुष्य-जाति में सर्वश्रेष्ठ हैं, केवल इतना ही क्यों, सकल प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ है। क्योंकि उन्होंने उस पूर्ण पुरुष सहित अभेद भाव उपलब्ध किया है; उन्होंने उपलब्धि की है कि वे भगवान् के सहित अभिन्न है। जितने दिन तुम्हारा ज्ञान रहता है कि भगवान् के साथ तुम्हारा अति सामान्य भेद भी है, उतने दिन तुम्हारा भय रहेगा। किन्तु जब जानोगे कि तुम्हीं वे हो, उनमें और तुममें कोई भेद नहीं है, उनका समग्र ही तुम हो, तब सब भय दूर हो जाता है। 'वहां कौन किसको देखता है ? कौन किसकी उपासना करता है ? जहां एक व्यक्ति अन्य को देखता है, एक व्यक्ति अन्य से बात करता है, एक व्यक्ति अन्य की बात सुनता है, वह नियम का राज्य है। जहां कोई किसी अन्य को नहीं देखता,

कोई किसी अन्य से बात नहीं करता, वही सर्वश्रेष्ठ है, वही भूमा है, वही ब्रह्म है।'[3] तुम्हीं वह हो एवं सर्वदा ही वह है। तब जगत् का क्या होगा, हम जगत् का क्या उपकार कर सकेंगे – इस प्रकार के प्रश्न ही यहां उदित नहीं होते। यह उस शिशु के प्रश्न के समान है – हमारे बड़े होने पर हमारी मिठाई का क्या होगा ? बालक भी कहा करता है, हमारे बड़े होने पर हमारे संगमर्मर के टुकड़ों की क्या दशा होगी, तो हम बड़े नहीं होंगे ! छोटा बच्चा भी कहता है, हमारे बड़े होने पर हमारे पुतले-पुतलियों की क्या दशा होगी ? – इस जगत् के सम्बन्ध में पूर्वोक्त प्रश्नावलियां भी उसी प्रकार हैं। भूत, भविष्यत्, वर्तमान, इन तीन कालों में ही जगत् का अस्तित्व नहीं है। यदि हम आत्मा का यथार्थ स्वरूप जान पायें, यदि हम जान पायें कि इस आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, और जो कुछ है सब स्वप्न मात्र है, उनका वास्तव में अस्तित्व नहीं है, तो इस जगत् का दुःख, दारिद्र्य, पाप-पुण्य – कुछ भी हमको चंचल नहीं कर सकेगा। यदि उन सबका अस्तित्व ही न रहे, तो किसके लिए और क्यों हम कष्ट करेंगे ? ज्ञानयोगी यही शिक्षा देते हैं। अतएव साहस का अवलम्बन करके मुक्त होओ, तुम्हारी चिन्ता-शक्ति तुमको जितनी दूर तक ले जा सके, साहसपूर्वक उतनी दूर आगे बढ़ो एवं उसे जीवन में परिणत करो। यह ज्ञान लाभ करना बड़ा कठिन है। यह महा साहसी का कार्य है। जो सब पुतलियां फोडकर फेंक देने का साहस करता है – केवल मानसिक पुतलियां ही नहीं, इन्द्रियों के द्वारा भोग्य विषय-समूहरूपी पुतलियों को भी जो फोड़ कर फेंक दे सकता है – यह उसका ही कार्य है। यह शरीर हम नहीं हैं, इसका नाश अवश्यम्भावी है – यही तो हुआ उपदेश। किन्तु इस उपदेश की दुहाई देकर लोग अद्भुत व्यापार किया करते हैं। कोई उठकर कह सकता है, 'हम देह नहीं हैं, अतएव हमारे माथे की पीड़ा ठीक हो जाय।' किन्तु उसके सिर की पीड़ा यदि उसकी देह में न रहे, तो फिर कहां हो ? सहस्र-सहस्त्र सिर की पीड़ाएं और सहस्त्र-सहस्र देह आयें जाएं – उसमें हमारा क्या है ? 'मेरा जन्म भी नहीं है, मेरी मृत्यु भी नहीं है; मेरे पिता भी नहीं हैं, माता भी नहीं हैं; मेरा शत्रु भी नहीं है, मेरा मित्र भी नहीं है; क्योंकि वे सब मैं ही हूं। मैं ही अपना बन्धु हूं, मैं ही अपना शत्रु हूं, मैं ही अखण्ड सच्चिदानन्द हूं, मैं वह हूं, मैं ही वह हूं।'[4]

यदि मैं सहस्त्र देहों में ज्वर और अन्यान्स रोग भोग करता हूं, तो और लक्ष-लक्ष

---

3. द्र० छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद्।
4. न मे मृत्युशङ्का न मे जातिभेदः पिता नैव मे नैव माता न जन्म।
   न बन्धुर्नमित्रं गुरुर्नैव शिष्यश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्।।
   – निर्वाणषट्क।। 5।।

देहो मे मै स्वास्थ्य सम्भोग कर रहा हूं। यदि सहस्र-सहस्र देह में मै भूखों मर रहा हूं, तो अन्य सहस्र देहों में मैं सुखभोग कर रहा हूं। कौन किसकी निन्दा करेगा ? कौन किसकी स्तुति करेगा ? किसे चाहेगा, किसे छोडेगा ? मैं किसी को चाहता भी नहीं हूं, किसी का त्याग भी नहीं करता, क्योकि मैं समग्र ब्रह्माण्डस्वरूप हूं। मैं ही अपनी स्तुति कर रहा हूं, मैं ही अपनी निन्दा कर रहा हूं। मैं अपने ही कारण कष्ट पा रहा हूं और अपनी ही इच्छा से सुखी हूं। मैं स्वाधीन हूं। यही ज्ञानी का भाव है, वह महासाहसी और निर्भीक होता है। समग्र ब्रह्माण्ड नष्ट क्यों न हो जाय, वह हंसकर कहता है. उसका कभी अस्तित्व ही नहीं था, वह केवल माया और भ्रम मात्र है। इसी प्रकार वह अपनी आंखों के समक्ष जगत्ब्रह्माण्ड को वास्तव में अन्तर्हित होते देखता है और विस्मय के सहित प्रश्न करता है – 'यह जगत् कहां था ? और कहां विलीन हो गया ?'[5]

इस ज्ञान की साधना के सम्बन्ध मे विचार करने के पहले हम और एक अन्य बौद्धिक प्रश्न के समाधान का यत्न करेंगे। अभी तक तर्कशास्त्र का कठोर अनुशासन मानकर चला गया है। यदि कोई भी व्यक्ति विचार में प्रवृत्त हो, तो जब तक वह इस सिद्धान्त पर न पहुंचे कि सत्ता केवल एक ही है, और सब कुछ भी नहीं है, तब तक उसके ठहरने का उपाय नहीं है। विचारशील मानव-जाति के लिए इस सिद्धान्त का अवलम्बन करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। किन्तु इस क्षण प्रश्न यह है, जो असीम, सदा पूर्ण, सदानन्दमय, अखण्ड सच्चिदानन्दस्वरूप है. वह इन सब भ्रमो के अधीन किस प्रकार हुआ ? यह प्रश्न जगत् मे सब कहीं सदैव किया जाता रहा है। इस प्रश्न का ग्राम्य रूप यह है – इस जगत् मे पाप किस प्रकार आया ? प्रश्न का यही ग्राम्य और व्यावहारिक रूप है। तथा दूसरा उसका सर्वाधिक दार्शनिक रूप है। किन्तु दोनो एक ही हैं। विविध शैलियों में, विविध स्वरों में यही प्रश्न पूछा जाता है। किन्तु निम्नतर रूपों से प्रश्न करने पर उसकी ठीक मीमांसा नहीं हो पाती; क्योकि सेब, सांप और नारी की कहानी[6] में उसका उत्तर नहीं मिलता। इस स्तर पर प्रश्न शिशुस्तरीय रह जाता है और उसका उत्तर भी उसी प्रकार है। किन्तु अब इस प्रश्न

---

5. क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत्। –विवेकचूडामणि।। 485।।
6. यह कहानी बाईविल के प्राचीन व्यवस्थान में है। ईश्वर ने आदि नर आदम और आदि नारी ईव का सर्जन करके उन्हें ईडन के सुरम्य उद्यान में स्थापित किया और उस उद्यान के ज्ञानवृक्ष का फल खाने से मना कर दिया। किन्तु शैतान ने सांप का रूप धारण करके पहले ईव को प्रलोभित किया, उसके पश्चात् आदम को उस वृक्ष का फल खाने के लिए प्रलोभित किया। इससे ही उन्हें भले-बुरे का ज्ञान हुआ और पाप ने पहले पृथिवी में प्रवेश किया।

ने अत्यन्त गुरुतर रूप धारण किया है – यह भ्रम किस प्रकार आया ? तथा उत्तर भी उसके अनुसार ही गम्भीर है। उत्तर यह है कि असम्भव प्रश्न के उत्तर की आशा मत करो। इस प्रश्न के अन्तर्गत वाक्य परस्पर विरोधी हैं, अत: प्रश्न ही असम्भव है। क्यों, पूर्णता शब्द से किसका बोध होता है ? जो देश-काल-निमित्त के अतीत है, वह ही पूर्ण है। उसके पश्चात् तुम जिज्ञासा कर रहे हो, पूर्ण किस प्रकार अपूर्ण हुआ ? तर्कशास्त्र की भाषा में निबद्ध करने पर प्रश्न इस प्रकार होगा, 'जो वस्तु कार्य-कारण-सम्बन्ध के अतीत है, वह किस प्रकार कार्यरूप में परिणत होती है ?' यहां तो तुम अपना ही खण्डन कर रहे हो। तुमने पहले ही मान लिया है वह कार्य-कारण-सम्बन्ध में अतीत है, उसके पश्चात् तुम जिज्ञासा कर रहे हो, किस प्रकार वह कार्य में परिणत हुआ। कार्य-कारण-सम्बन्ध की सीमा के भीतर की केवल प्रश्न पूछा जा सकता है। किन्तु उसके परे की वसतु के सम्बन्ध में प्रश्न करना ही निरर्थक है, क्योंकि प्रश्न न्यायशास्त्र के विरुद्ध हो जाता है। देश-काल-निमित्त की सीमा-रेखा के भीतर किसी काल में उसका उत्तर प्राप्त होगा, यह वहां जाने पर ही जाना जा सकता है। इसीलिए विज्ञ व्यक्ति इस प्रश्न को रहने देते हैं। जब कोई व्यक्ति बीमार होता है, तब उस रोग की उत्पत्ति के विषय में पहले जानने का हठ न करके, रोग दूर करने का वह यत्न करता है।

यह प्रश्न एक और रूप में पूछा जाता है। यह अपेक्षाकृत निम्न स्तर का तो है, किन्तु अधिक व्यावहारिक है। प्रश्न यह है – इस भ्रम को किसने उत्पन्न किया ? कोई सत्य क्या कभी भ्रम उत्पन्न कर सकता है ? कदापि नहीं। हम देखते हैं, एक भ्रम ही एक अन्य भ्रम को उत्पन्न करता रहता है, यह फिर एक अन्य भ्रम की सृष्टि करता है, इसी प्रकार चलता रहता है। रोग ही रोग-प्रसव करता रहता है, स्वास्थ्य कभी रोग-प्रसव नहीं करता। जल और जल की तरंग में कोई भेद नहीं है – कार्य कारण का ही दूसरा एक रूप मात्र है। कार्य जब भ्रम है, तब उसका कारण भी अवश्य भ्रम होगा। यह भ्रम किसने उत्पन्न किया ? अवश्य और एक भ्रम ने। इसी प्रकार तर्क करने पर तर्क का फिर अन्त नहीं होगा – भ्रम का फिर आदि प्राप्त नहीं होगा। अब तुम्हारा एक प्रश्न केवल शेष रहेगा कि 'भ्रम का अनादित्व स्वीकार करने पर क्या तुम्हारा अद्वैतवाद खण्डित नहीं होता ? क्योंकि, तुम जगत् में दो सत्ताएं स्वीकार कर रहे हो – एक तुम और एक वह भ्रम।' इसका उत्तर यह है कि भ्रम को सत्ता कहा नहीं जा सकता। तुम जीवन में सहस्रों स्वप्न देखते हो; किन्तु वे सब तुम्हारे जीवन के अंशस्वरूप नहीं हैं। स्वप्न आता है और चला जाता है। उसका कोई अस्तित्व नहीं है। भ्रम को एक सत्ता कहना केवल एक वितंडा है। अतएव जगत् में नित्यमुक्त और

नित्यानन्दस्वरूप एकमात्र सत्ता है, और वही तुम हो। अद्वैतवादियों का यही चरम सिद्धान्त है।

इस क्षण प्रश्न किया जा सकता है, इन विभिन्न उपासना-प्रणालियों का क्या होगा ? वे सब रहेंगी। वे केवल अन्धकार में आलोक के लिए यत्न करना मात्र हैं और इस प्रकार यत्न करते-करते आलोक आएगा। हम अभी देख चुके हैं कि आत्मा अपने को देख नहीं सकती। हमारा समग्र ज्ञान माया (मिथ्या) के जाल में अवस्थित है, मुक्ति उसके बाहर है, इस जाल में दासत्व है, इसका सब कुछ ही नियमाधीन है। उसके बाहर और कोई नियम नहीं है। यह ब्रह्माण्ड जितनी दूर तक है, उतनी दूर तक सत्ता नियमाधीन है, मुक्ति उसके बाहर है। जितने दिन तुम देश-काल-निमित्त के जाल में विद्यमान हो, उतने दिन तक तुम मुक्त हो – यह बात करना निरर्थक है, क्योंकि सब कुछ इस जाल में, कठोर नियम में, कार्य-कारण-शृंखला में बद्ध हैं। तुम जो भी विचार करते हो, वह पूर्वगामी कारण का कार्य है, प्रत्येक भावना कारण-प्रसूत है। इच्छा को स्वाधीन कहना एकदम निरर्थक है। ज्योंही वह अनन्त सत्ता मानो इस मायाजाल के भीतर पड़ती है, त्योंही वह इच्छा का आकार धारण करती है। इच्छा मायाजाल में आबद्ध उस पुरुष का किंचित् अंश मात्र है। इसलिए 'स्वाधीन इच्छा' शब्द एक कुनाम है। स्वाधीनता अथवा मुक्ति के सम्बन्ध में यह सब वागाडम्बर और वृथा है। माया के भीतर स्वाधीनता नहीं है।

प्रत्येक व्यक्ति ही विचार, मन और कार्य में एक पत्थर के टुकड़े अथवा उस मेज के समान बद्ध है। मैं तुम लोगों के सम्मुख व्याख्यान दे रहा हूं, और तुम सब मेरी बात सुन रहे हो, यह दोनों तथ्य कठोर कार्य-कारण-नियम के अधीन हैं। माया से जितने दिन तुम बाहर नहीं जाते, उतने दिनों स्वाधीनता अथवा मुक्ति नहीं है। वह मायातीत अवस्था आत्मा की यथार्थ स्वाधीनता है। किन्तु मनुष्य कितने ही तीक्ष्णबुद्धि क्यों न हों, और उनको इस युक्ति की सत्यता या बल कितने ही अधिक स्पष्ट रूप से क्यों न दिखे कि यहां की कोई भी वस्तु स्वाधीन या मुक्त नहीं हो सकती, फिर भी सबको बाध्य होकर अपने को स्वाधीन मानना पड़ता है, ऐसा किये बिना रहा ही नहीं जा सकता। जब तक हम न कहें कि हम स्वाधीन हैं, तब तक कोई काम ही नहीं चल सकता। इसका तात्पर्य यह है कि हम जिस स्वाधीनता की बात करते हैं, वह मेघराशि के भीतर से निर्मल नीलाकाश की झलक मात्र है और नीलाकाशरूप वास्तविक स्वाधीनता उसके बाहर है। यथार्थ स्वाधीनता इसी भ्रम में, इसी मिथ्या में, इसी व्यर्थ के संसार में, इन्द्रिय-मन-देह से समन्वित इस ब्रह्माण्ड में रह नहीं सकती। ये समग्र अनादि अनन्त स्वप्न – जो हमारे वश में नहीं हैं, जिन सबको वश में लाया

भी नहीं जा सकता, जो अव्यवस्थित हैं, भग्न और असामंजस्यमय हैं – उन्हीं समग्र स्वप्नों को लेकर हमारा यह जगत् है। तुम जब स्वप्न में देखते हो कि बीस सिरवाला एक दैत्य तुमको पकड़ने के लिए आ रहा है और तुम उससे भाग रहे हो, तुम उसे विचित्र नहीं समझते। तुम मानते हो, यह तो ठीक ही हो रहा है। हम जिसे नियम कहते हैं, वह भी उसी प्रकार का है। जो कुछ तुम नियम के रूप में निर्दिष्ट करते हो, यह सब केवल आकस्मिक घटना मात्र है, इनका कोई अर्थ नहीं है। इस स्वप्न की अवस्था में तुम उसे नियम कहकर अभिहित करते हो। माया के भीतर जहां तक यह देश-काल-निमित्त का नियम विद्यमान है, वहां तक स्वाधीनता अथवा मुक्ति नहीं है और ये उपासना की विविध पद्धतियां इस माया के अन्तर्गत हैं। ईश्वर की धारणा, एवं पशु और मनुष्य की धारणा, सब इस माया के भीतर हैं, इसलिए सब समभाव से भ्रमात्मक हैं, सब स्वप्नमात्र हैं। आजकल हमें बहुत से अतिबुद्धि दिग्गज देखने को मिलते हैं। तुम उनके समान तर्क न कर बैठना, इस विषय में सावधान हो जाओ। वे कहते हैं, ईश्वर-धारणा भ्रामत्मक है, किन्तु इस जगत् की धारणा सत्य है। वास्तव में ये दोनों धारणाएं ही एक तर्क पर प्रतिष्ठित हैं। उन्हें केवल यथार्थतः नास्तिक होने का अधिकार है, जो इह जगत् और पर जगत् दोनों ही अस्वीकार करते हैं। दोनों ही एक ही युक्ति पर प्रतिष्ठित हैं। ईश्वर से लेकर क्षुद्रतम जीव तक, घास की पत्ती से लेकर ब्रह्मा तक, उसी एक माया का राजत्व है। एक ही प्रकार से उनके अस्तित्व की प्रतिष्ठा अथवा अस्तित्वहीनता सिद्ध होती है। जिस व्यक्ति को ईश्वर-धारणा भ्रमात्मक लगती है, उसको अपनी देह और मन की धारणा भी भ्रमात्मक लगना उचित है। जब ईश्वर उड़ जाता है, तब देह और मन भी उड़ जाता है और जब दोनों का ही लोप होता है, तब वही जो यथार्थ सत्ता है, वह चिरकाल के लिए रह जाती है। 'वहां आंखें जा नहीं सकतीं, वाणी नहीं जा सकती, मन भी नहीं। हम उसे देख नहीं पाते और जान भी नहीं पाते।'[7]

अभी तक बौद्धिक दृष्टि से सब स्पष्ट है, किन्तु अब साधना की बात आ रही है। सच्चा कार्य तो साधना है। इस एकत्व की उपलब्धि के लिए क्या किसी प्रकार की साधना की आवश्यकता है ? निश्चित रूप से है। साधना के द्वारा तुम लोगों को ब्रह्म बनना होगा, यह बात नहीं है; वह तो तुम पहले से ही हो। तुम लोगों को ईश्वर बनना होगा अथवा पूर्ण बनना हो, यह बात सत्य नहीं है। तुम सदैव पूर्णस्वरूप हो और जिस क्षण ही तुम सोचते हो, तुम पूर्ण नहीं हो, वह एक भ्रम होता है। यह भ्रम – जिसके कारण तुम लोग अपने को अमुक पुरुष, अमुक नारी समझते हो – अन्य

---

7. न तत्र चक्षुर्गच्छति न वागच्छति नो मनः। –केनोपनिषद्।। 1। 3।।

एक भ्रम के द्वारा दूर हो सकता है; और साधना अथवा अभ्यास ही वह अन्य भ्रम है। आग-आग को खा जाएगी – तुम एक भ्रम को नष्ट करने के लिए दूसरे भ्रम की सहायता ले सकते हो। मेघ का एक खण्ड आकर मेघ के दूसरे खण्ड को हटा देगा, अन्त में दोनों ही चले जाएंगे। तो ये साधनाएं क्या हैं ? हमें सर्वदा ही स्मरण रखना होगा कि, हम मुक्त होंगे, यह बात नहीं है, हम सदा ही मुक्त हैं। हम बद्ध हैं, इस प्रकार की भावना मात्र ही भ्रम है; हम सुखी हैं अथवा हम असुखी हैं, इस प्रकार की भावना मात्र ही गुरुतर भ्रम है; और एक भ्रम आएगा कि हमें मुक्त होने के लिए साधना, उपासना और चेष्टा करनी होगी; यह भ्रम आकर पहले भ्रम को भगा देगा, तब दोनों भ्रम ही दूसर हो जाएंगे।

मुसलमान और हिन्दू लोमड़ी को अत्यन्त अपवित्र मानते हैं। यदि कुत्ता भोजन छू ले तो उसे फेंक देना पड़ता है, उसे फिर कोई नहीं खाता। किसी मुसलमान के घर में एक लोमडी प्रवेश करके मेज से कुछ खाना लेकर भाग गयी। वह व्यक्ति बड़ा ही दरिद्र था। उसने अपने लिए उस दिन अत्यन्त उत्तम भोज का आयोजन किया था और वह सबका सब लोमड़ी के स्पर्श से अपवित्र हो गया ! इस कारण उसने एक मुल्ला के पास जाकर निवेदन किया – "साहब, एक लोमड़ी आकर हमारे खाने में से कुछ खा गयी है, अब उसका कोई उपाय कीजिये। हमने सब वस्तुएं अत्यन्त स्वादिष्ट तैयार करायी थीं। हमारी बडी इच्छा थी कि परम तृप्ति के सहित हम वह भोजन करें। इतने में नीच लोमड़ी ने आकर सब नष्ट कर दिया। आप इसकी जो भी हो, एक व्यवस्था कर दीजिये।" मुल्ला ने मुहूर्त भर कुछ सोचा, उसके पश्चात् उसने उसका एकमात्र समाधान स्थिर करके कहा, "इसका एकमात्र उपाय – एक कुत्ता लाकर, जिस थाल में लोमड़ी ज़ूठा कर गयी है, उसी थाल से उसे कुछ खिलाना। कुत्ते और लौमडी सदा लड़ते रहते हैं। जब लोमड़ी की जूठन भी तुम्हारे पेट में जाएगी, कुत्ते की जूठन भी जाएगी, ये दोनों जूठनें परस्पर वहां झगड़ा करेंगी, तब सब शुद्ध हो जाएगा !" हम लोग भी बहुत कुछ इसी प्रकार की समस्या में पड़ गये हैं। हम अपूर्ण हैं, यह एक भ्रम है; हमने उसे दूर करने के लिए और एक भ्रम की सहायता ली कि पूर्णता प्राप्त करने के लिए हमें साधना करनी होगी। इस क्षण एक भ्रम दूसरे भ्रम को दूर कर देगा, जैसे हम एक कांटा निकालने के लिए दूसरे कांटे की सहायता लेते हैं और अन्त में दोनों ही कांटे फेंक देते हैं, ऐसे व्यक्ति विद्यमान हैं, जिनको एक बार 'तत्त्वमसि' सुनने पर ही तत्क्षण ज्ञान का उदय होता है। क्षणमात्र में यह जगत् है तथा आत्मा का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित हो जाता है, किन्तु और सबको इस बन्धन की धारणा दूर करने के लिए कठोर यत्न करना होता है।

प्रथम प्रश्न यह है, ज्ञानयोगी होने के अधिकारी कौन हैं ? वे ही जिनमें निम्नलिखित साधन-सम्पत्त्यिां हैं :

प्रथमतः इहामुत्रफलभोगविराग – इस जीवन में अथवा पर जीवन में सब प्रकार के कर्मफल और सब प्रकार की भोगवासना का त्याग है। यदि तुम ही इस जगत् के स्त्रष्टा हो तो तुम जो इच्छा करोगे, वही पाओगे; क्योंकि तुम वह अपने भोग के लिए सर्जन करोगे। केवल किसी को शीघ्र अथवा किसी को विलम्ब से यह फललाभ होता है। कोई-कोई तत्क्षण उसे प्राप्त करते हैं; अन्य के पक्ष में उनके समस्त भूतसंस्कार उनकी वासना-पूर्ति में बाधा डालते रहते हैं। हम इह जन्म अथवा पर जन्म की भोगवासना को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया करते हैं। इह जन्म अथवा पर जन्म अथवा तुम्हारा किसी प्रकार का जन्म है, यह नितान्त अस्वीकाऱ करो; क्योंकि जीवन मृत्यु का ही नामान्तर मात्र है। तुम जो जीवनसम्पन्न प्राणी हो, यह अभी अस्वीकार करो; जीवन के लिए कौन व्यस्त है ? जीवन एक भ्रम मात्र है; मृत्यु उसका एक और पक्ष मात्र है। सुख इस भ्रम का ही एक पक्ष है, और दुःख दूसरा पक्ष है। सब विषय इसी प्रकार हैं। जीवन अथवा मृत्यु को लेकर तुम्हारा क्या हुआ ? यह सब तो मन की सृष्टि मात्र है। इसे ही इहामुत्रफलभोगविराग कहते हैं।

इसके पश्चात् शम अथवा मन के संयम की आवश्यकता है। मन को ऐसा शान्त करना होगा कि वह फिर तरंगों में भग्न होकर सब प्रकार की वासनाओं का लीलाक्षेत्र न बने। मन को स्थिर रखना होगा, बाहर के अथवा भीतर के किसी कारण से उसमें जिससे तरंग न उठे – केवल इच्छा-शक्ति के द्वारा मन को सम्पूर्ण रूप से संयत करना होगा। ज्ञानयोगी शारीरिक अथवा मानसिक किसी प्रकार की सहायता नहीं लेते। वे केवल दार्शनिक विचार, ज्ञान और इच्छा-शक्ति – इन सब साधनो में ही विश्वास करते हैं। उसके पश्चात् तितिक्षा – किसी प्रकार का विलाप किये बिना सब दुःखों को सहन है। जब तुम्हारा किसी प्रकार का अनिष्ट घटित हो, उस ओर ध्यान न दो। यदि सामने बाघ आये, स्थिर होकर खड़े रहो। भागेगा कौन ? अनेक व्यक्ति हैं, तो जो तितिक्षा का अभ्यास करते हैं और उसमें कृतकार्य होते हैं। ऐसे व्यक्ति अनेक हैं, जो भारत में ग्रीष्म ऋतु में प्रखर मध्याह्न-सूर्य के ताप में गंगातीर पर सोये रहते हैं और शीतकाल में गंगाजल में सारे दिन डूबे रहते हैं। उसकी कुछ परवाह नहीं करते। अनेक व्यक्ति हिमालय की तुषारराशि में बैठे रहते हैं, किसी प्रकार के वस्त्र आदि की चिन्ता नहीं करते। ग्रीष्म ही अन्ततः क्या है ? शीत ही अन्ततः क्या है ? यह सब आये जाये – हमारा उसमें क्या है ? 'हम' तो शरीर नहीं हैं। पाश्चात्य देशों में इस पर विश्वास कर पाना कठिन है, किन्तु इस प्रकार लोग किया करते हैं, यह जान लेना

अच्छा है। जिस प्रकार तुम्हारे देश के लोग विचार द्वारा अपने दर्शन को खोज लेने, तथा उसे कार्यरूप में परिणत करने में साहसी हैं। वे इसके लिए प्राण दिया करते हैं। हम सच्चिदानन्दस्वरूप हैं – सोऽहं सोऽहं। प्रतिदिन के कर्म-जीवन मे विलासिता को बनाये रखना जिस प्रकार पाश्चात्य आदर्श है, उसी प्रकार हमारा आदर्श कर्म जीवन में सर्वोच्च मूल्य के आध्यात्मिक भाव की रक्षा करना है। हम इसके द्वारा यही प्रमाणित करना चाहते हैं कि धर्म केवल वाग्जाल नहीं है, किन्तु इस जीवन में ही धर्म को सर्वांग, सम्पूर्ण रूप से कार्य में परिणत किया जा सकता है। यही तितिक्षा है – सब कुछ सहन करना – किसी विषय मे असन्तोष प्रकाशित न करना। हमने स्वत. ऐसे व्यक्ति देखे हैं, जो कहते है, 'हम आत्मा हैं – हमारे निकट ब्रह्माण्ड का भी गौरव क्या है! सुख, दुःख, भाप, पुण्य, शीत, उष्ण, ये सब हमारे लिए कुछ भी नहीं है।' यही तितिक्षा है – देह के भोगसुख के लिए न दौडना। धर्म क्या है ? धर्म का अर्थ क्या इस प्रकार प्रार्थना करना है, "हमें यह दो, वह दो ?" धर्म के सम्बन्ध में ये सब धारणाएं प्रमाद है। जो धर्म को इस प्रकार का मानते है, उनमें ईश्वर और आत्मा की यथार्थ धारणा नहीं है। हमारे गुरुदेव कहा करते थे, 'गीध बहुत ऊंचे उडते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि रहती है जानवरों के शव की ओर।' जो हो, तुममें धर्म के सम्बन्ध में जो सब धारणाएं है, उनका फल क्या है, बताओ तो सही। मार्ग स्वच्छ करना और उत्तम प्रकार का अन्न-वस्त्र एकत्र करना ? अन्न-वस्त्र के लिए कौन चिन्ता करता है ? प्रति मुहूर्त लाखों व्यक्ति आ रहे है, लाखों जा रहे है – कौन परवाह करता है ? इस क्षुद्र जगत् के सुख-दुःख को ग्राह्य मानते ही क्यो हो ? यदि साहस हो, उनके बाहर चले जाओ। सब नियमों के बाहर चले जाओ, समग्र जगत् उड जाए – तुम अकेले आकर खडे होओ। 'हम परम सत् है, परम चित् और परम आनन्दस्वरूप – सोऽहं, सोऽहं।'

आत्मा और विश्व

सभी वस्तु व जीवों की उत्पत्ति बीज के द्वारा होती है और कुछ समय तक पृथिवी पर रहकर अन्त में बीच में ही मिल जाती है। इसी प्रकार हमारी पृथिवी सूर्य का एक छोटा-सा टुकड़ा है। यह काफी समय में ठंडी हुई। ठंडी होकर फिर यह एक ठोस ग्रह के रूप में परिवर्तित हो गयी। अतः उसी पृथिवी पर आज हम निवास करते हैं, और भविष्य में एक समय ऐसा आएगा जब यह पृथिवी टुकड़ों में विभक्त होकर वापिस जहां से आयी थी वहीं चली जाएगी। अतः इन सब बातों का सार यह है कि प्रकृति नाशवान है। मनुष्य, प्रकृति और जीवन-चक्र का सम्पूर्ण इतिहास यही है।

प्रत्येक विकास (Evolution) के पहले एक अन्तर्भाव का संकोच (Involution) रहता है, प्रत्येक व्यक्त दशा के पहले उसकी अव्यक्त दशा रहती है। समूचा वृक्ष सूक्ष्म रूप से अपने कारण बीज में निहित रहता है। समूचा मनुष्य सूक्ष्म रूप में उस एक जीविसार (Protoplasm) में विद्यमान रहता है। यह समूचा विश्व मूल अव्याकृत प्रकृत में निहित रहता है। प्रत्येक वस्तु सूक्ष्म रूप से अपने कारण में उपस्थित रहती है। यह विकास अर्थात् – स्थूल से स्थूलतर रूपों की क्रमिक अभिव्यक्ति सत्य है, पर साथ ही यह भी सत्य है कि इससे प्रत्येक स्तर के पूर्व उसका संकोच विद्यमान है। यह समग्र व्यक्त जगत् पहले अपनी अन्तर्भूत अवस्था में विद्यमान था, जो इन विविध रूपों में अभिव्यक्त हुआ; और फिर से वह अपनी उसी अन्तर्भूत दशा को प्राप्त हो जाएगा। उदाहरणार्थ, एक छोटे पौधे का जीवन लो। हम देखते हैं कि उसकी एकता दो वस्तुओं से मिलकर बनी है, उसका विकास या वृद्धि, और ह्रास या मृत्यु। इनसे एक इकाई बनती है – पौधे का जीवन। जीवन की शृंखला में पौधे के जीवन को एक कड़ी समझकर हम पूरी जीवन-शृंखला पर विचार कर सकते हैं। जीविसार से प्रारम्भ होकर वही एक जीवन 'पूर्ण' मनुष्य में परिणत होता है। मनुष्य इस शृंखला की एक कड़ी है और विविध जीव-जन्तु तथा पेड़-पौधे इसकी अन्य कड़ियां हैं। अब इनके मूल अथवा उद्गम की ओर चलो – उन सूक्ष्माणुओं की ओर, जिनसे इनका प्रारम्भ हुआ है, और पूरी शृंखला को एक ही जीवन मानो, तो देखोगे कि यहां का प्रत्येक विकास किसी न किसी पहले से अवस्थित वस्तु का ही विकास है।

जहां से यह प्रारम्भ होता है, वहीं इसका अन्त भी होता है। इस जगत् की परि-समाप्ति कहां है ? – बुद्धि में। सोचो, क्या ऐसा नहीं है ? विकासवादियों के मतानुसार सृष्टि-क्रम में बुद्धि ही का विकास सबसे अन्त में हुआ। अतएव सृष्टि का प्रारम्भ या कारण भी बुद्धि ही होना चाहिए। प्रारम्भ में यह बुद्धि अव्यक्त अवस्था में रहती है और क्रमश: वही व्यक्त रूप में प्रकट होती है। अत: विश्व में पायी जानेवाली समस्त बुद्धियों की समष्टि ही वह अव्यक्त विश्व-बुद्धि है, जो उन विभिन्न रूपों में प्रकाशित हो रही है, और जिसे शास्त्रों ने 'ईश्वर' की संज्ञा दी है। शास्त्र कहते हैं कि हम ईश्वर से ही आते हैं और फिर वहीं लौट जाते हैं। उसे चाहे किसी भी नाम से पुकारो, पर यह तुम अस्वीकार नहीं कर सकते कि प्रारम्भ में वह अनन्त विश्व बुद्धि ही कारणरूप में विद्यमान रहती है।

सम्मिश्रण कैसे बनता है ? सम्मिश्रण वह है जिसमें कई कारण मिलकर कार्यरूप में परिणत हो जाते हैं। अत: ये सम्मिश्रण केवल कार्य-कारण-वृत्त के अन्दर ही सीमित रहते हैं। जहां तक कार्य और कारण के नियमों की पहुंच है, वहीं तक सम्मिश्रण सम्भव है। उसके आगे, सम्मिश्रण की बात करना ही असम्भव है, क्योंकि वहां तो कोई नियम लागू हो ही नहीं सकता। ।नियम केवल उस जगत् में ही लागू होता है, जहां हम देख, सुन, अनुभव और कल्पना कर सकते हैं। उसके आगे हम किसी नियम की कल्पना ही नहीं कर सकते। वही हमारा जगत् है जिसका ज्ञान हमें इन्द्रियों या अनुमान द्वारा होता है। इन्द्रियों से हम वे बातें जानते हैं, जो उनकी पहुंच के भीतर हैं, और जो बातें हमारे मन में हैं, उन्हें हम अनुमान द्वारा जानते हैं। जो कुछ शरीर के परे है, वह इन्द्रियगम्य नहीं है, और जो मन से परे है, वह अनुमान या विचार के अतीत है, अत: वह हमारे जगत् से बाहर की वस्तु है और इसीलिए वह कार्यकारण-नियम के भी अतीत है। मनुष्य की आत्मा कार्य-कारण-नियम से परे होने के कारण सम्मिश्रण नहीं है, किसी कारण का परिणाम नहीं है, अतएव वह नित्य मुक्त है और नियम के भीतर जो कुछ सीमित है, उस सबका शासनकर्ता है। चूंकि वह सम्मिश्रण नहीं है, इसलिए उसकी मृत्यु कभी न होगी, क्योंकि मृत्यु का अर्थ है उन सब उपादानों के परिणत हो जाना, जिनसे वस्तु निर्मित हुई है, विनाश का अर्थ है कार्य का अपने कारण में वापस चला जाना। जब आत्मा की मृत्यु नहीं हो सकती तो, उसका जन्म भी नहीं हो सकता, क्योंकि जीवन और मृत्यु एक ही वस्तु की दो विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं। अतएव आत्मा जन्म और मृत्यु से परे है। तुम्हारा जन्म कभी हुआ ही नहीं, और मृत्यु भी कभी नहीं होगी। जन्म और मृत्यु तो केवल शरीर के धर्म हैं।

अद्वैतवाद कहता है कि 'अस्तित्व' रखनेवाली सभी वस्तुओं की समष्टि ही का

नाम विश्व है। स्थूल या सूक्ष्म जो कुछ भी है, वह यहीं है। कारण और कार्य दोनों यहीं हैं; सभी का स्पष्टीकरण और समाधान भी यहीं है। जिसे हम 'व्यष्टि' कहते हैं, वह 'समष्टि' ही की अभिव्यक्त मात्र है। अपनी आत्मा के भीतर से ही हमें विश्व की धारणा होती है, और यह बहिर्जगत् उसी अन्तर्जगत् का प्रकाश मात्र है। स्वर्ग इत्यादि लोकों की बातें यदि सच भी हों, तो वे सब इस विश्व में ही हैं। वे सब मिलकर इस 'इकाई' का निर्माण करते हैं। अत: प्रथम धारणा है एक 'समष्टि' की, एक 'इकाई' की, जो कि नानाविध छोटे-छोटे अणुओं से बनी हुई है, और हममें से प्रत्येक ही मानो इस 'इकाई' का एक-एक अंश है। प्रकट रूप में हम भले ही अलग-अलग प्रतीत होते हों, पर यथार्थ में हैं एक ही। हम जितना ही अपने को इस समष्टि से अलग समझते हैं, उतना ही अधिक दु:खी होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अद्वैत ही नीति-शास्त्र का आधार है।

ईश्वर और ब्रह्म

एक बार यूरोप में एक श्रोता ने स्वामीजी से आग्रह किया कि भगवान का वेदान्त दर्शन मे जो स्थान है उसके बारे मे अपने विचारों से हमें अवगत कराये। तब स्वामीजी ने वेदान्त में ईश्वर के स्थान के बारे में इस प्रकार बताया।

ईश्वर व्यष्टियों की समष्टि है, और साथ ही वह एक व्यष्टि भी है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि मानव-शरीर इकाई होते हुए भी कोशिकाओं (Cells) रूपी अनेक व्यष्टियों की समष्टि है। समष्टि ही ईश्वर है, और व्यष्टि ही जीव है। अतएव ईश्वर का अस्तित्व जीव के अस्तित्व पर निर्भर है, जैसा कि शरीर का कोशिकाओं पर; और इसका विलोम भी सत्य है, इस प्रकार, जीव और ईश्वर सह-अस्तित्वमान हैं; यदि एक का अस्तित्व है, तो दूसरे का होगा ही; और चूंकि, हमारी इस धरती को छोड़कर अन्य सब उच्चतर लोकों में अच्छाई या शुभ की मात्रा बुराई या अशुभ की मात्रा से बहुत ज्यादा है, हम इन सबकी समष्टि – ईश्वर – को सर्वशुभ कह सकते हैं। समष्टिस्वरूप होने के कारण, सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता ईश्वर के प्रत्यक्ष गुण हैं, इन्हें सिद्ध करने के लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं। ब्रह्म इन दोनों से परे है और निर्विकार है। ब्रह्म ही एक ऐसी इकाई है, जो अन्य इकाइयों की समष्टि नहीं – वह अखण्ड है, वह क्षुद्र जीवाणु से लेकर ईश्वर तक समस्त भूतों में व्याप्त है, उसके बिना किसी का अस्तित्व सम्भव नहीं, और जो कुछ भी सत्य है, वह ब्रह्म ही है। जब मैं सोचता हूं अहं ब्रह्मास्मि, तब केवल मैं ही वर्तमान रहता हूं, मेरे अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं रह जाता। यही बात औरों के विषय में भी है। अतएव, प्रत्येक ही वही पूर्ण ब्रह्मतत्त्व है।

आत्मा, प्रकृति और ईश्वर

वैसे तो मनुष्य पंचतत्व से बना है, वेदान्त दर्शन के अनुसार तीन तत्वों से बना कह सकते हैं। मनुष्य के शरीर के बाह्यतम अंश में आंख, नाक, कान और मुंह आदि इन्द्रियां हैं। जिनका संवेदन का कार्य है। ये सभी मनुष्य के संवेदन के साधन मात्र हैं। इन सभी साधनों के पीछे इन्द्रिय हैं। इन साधनों को नियंत्रित करनेवाला अगर नष्ट हो जाता है तो ये साधन भी अपना कार्य करना छोड़ देंगे। यही बात हमारी सभी इन्द्रियों के सम्बन्ध में है। फिर इन्द्रियां जब तक अन्य 'कुछ' किसी एक-दूसरी वस्तु से संलग्न नहीं, तब तक वे स्वयं किसी चीज के संवेदन में समर्थ नहीं हो पातीं। वह 'कुछ' है मन। तुमने अनेक बार देखा होगा, कि जब तुम किसी चिन्तन में तल्लीन थे, तुमने घड़ी की टिन्-टिन् को नहीं सुना। क्यों ? तुम्हारे कान अपने स्थान पर थे, तरंगों का उनमें प्रवेश भी हुआ, वे मस्तिष्क की ओर परिचालित भी हुई, फिर भी तुमने नहीं सुना, क्योंकि तुम्हारी इन्द्रिय के साथ तुम्हारा मन संयुक्त नहीं था। बाह्य-वस्तुओं की प्रतिमाएं इन्द्रियों के ऊपर पड़ती हैं और जब इन्द्रियों से मन जुड़ जाता है, तब वह उस प्रतिमा को ग्रहण करता है और वह उसे जो रूप-रंग प्रदान करता है, उसे अहंता अथवा 'मैं' कहते हैं। एक उदाहरण लो : मैं किसी कार्य में व्यस्त हूं और एक मच्छर मेरी अंगुली में काट रहा है। मैं इसका अनुभव नहीं करता, क्योंकि मेरा मन किसी दूसरी वस्तु में लगा हुआ है। बाद में जब मेरा मन इन्द्रियों से प्रेषित प्रतिमाओं से संयुक्त हो जाता है, तब प्रतिक्रिया होती है। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप मैं मच्छर की उपस्थिति के प्रति सचेत हो जाता हूं। इसी प्रकार केवल मन का इन्द्रिय से संयुक्त हो जाना पर्याप्त नहीं है, इच्छा के रूप में प्रतिक्रिया का होना भी आवश्यक है। वह शक्ति जहां से प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, जो ज्ञान और निश्चय करने की शक्ति है, उसे 'बुद्धि' कहते हैं। प्रथम, बाह्य-साधन, फिर इन्द्रिय और फिर मन का इन्द्रिय से संयुक्त होना और इसके बाद बुद्धि की प्रतिक्रिया अत्यावश्यक है; और जब ये सब बातें पूरी हो जाती हैं, तब तुरन्त 'मैं' और बाह्य वस्तु का विचार तत्काल स्फुरित होता है। तभी प्रत्यक्ष, प्रत्यय और ज्ञान की निष्पत्ति होती है। कर्मेन्द्रिय जो साधन मात्र है, शरीर का अवयव है और उसके पीछे ज्ञानेन्द्रिय है जो उससे सूक्ष्मतर है, तब

क्रमश. मन, बुद्धि और अहकार है। वह अहंकार कहता है : 'मै' – मै देखता हूं, मै सुनता हूं इत्यादि। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया जिन शक्तियों द्वारा परिचालित होती है, उन्हें तुम जीवनी-शक्तियां कह सकते हो, संस्कृत में उन्हें 'प्राण' कहते है। मनुष्य का यह स्थूल रूप, यह शरीर, जिसमे बाह्य साधन है, संस्कृत में 'स्थूल शरीर' कहा गया है। इसके पीछे इन्द्रिय से प्रारम्भ होकर मन, बुद्धि तथा अहंकार का सिलसिला है। ये तथा प्राण मिलकर जो यौगिक घटक बनाते हैं, उसे सूक्ष्म शरीर कहते है। ये शक्तियां अत्यन्त सूक्ष्म तत्वों से निर्मित है, इतने सूक्ष्म कि शरीर पर लगनेवाला बडा से बडा आघात भी उन्हें नष्ट नहीं कर सकता। शरीर के ऊपर पडनेवाली किसी भी चोट के बाद वे जीवित रहते हैं। हम देखते हैं कि स्थूल शरीर स्थूल तत्त्वों से बना हुआ है और इसीलिए वह हमेशा नूतन होता है, और निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। किन्तु मन, बुद्धि और अहंकार आदि आभ्यंतर इन्द्रिय सूक्ष्मतम तत्त्वों से निर्मित है, इतने सूक्ष्म कि वे युग-युग तक चलते रहते है। वे इतने सूक्ष्म हैं कि कोई भी वस्तु उनका प्रतिरोध नहीं कर सकती, वे किसी भी अवरोध को पार कर सकते हैं। स्थूल शरीर बुद्धि-शून्य है, और वह सूक्ष्मतर पदार्थ से बना होने के कारण सूक्ष्म भी है। यद्यपि एक भाग मन, दूसरा बुद्धि और तीसरा अहंकार कहा जाता है, पर एक ही दृष्टि में हमे विदित हो जाता है कि इनमे से किसी को भी 'ज्ञाता' नहीं कहा जा सकता। इनमे से कोई भी प्रत्यक्षकर्ता, साक्षी, कार्य का भोक्ता अथवा क्रिया को देखनेवाला नहीं है। मन की ये समस्त गतियां, बुद्धि तत्त्व अथवा अहंकार अवश्य ही किसी दूसरे के लिए है। सूक्ष्म भौतिक द्रव्य से निर्मित होने के कारण ये स्वयं प्रकाशक नहीं हो सकतीं। उनका प्रकाशक तत्त्व उन्हीं मे अन्तर्निहित नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ इस मेज की अभिव्यक्ति किसी भौतिक वस्तु के कारण नहीं हो सकती। अत. उन सबके पीछे कोई न कोई अवश्य है, जो वास्तविक प्रकाशक, वास्तविक दर्शक और वास्तविक भोक्ता है, जिसे सस्कृत में 'आत्म' कहते हैं – मनुष्य की आत्मा, मनुष्य का वास्तविक 'स्व'। वस्तुओ का असली देखनेवाला यही है। बाह्य साधन तथा इन्द्रियां प्रभावो को ग्रहण करती हैं, उन्हें मन तक पहुंचाती हैं, मन उन्हे बुद्धि तक ले जाता है, बुद्धि उन्हें दर्पण की भाति प्रतिबिम्बित करती है और इस सबका आधार आत्मा है, जो उनकी देखभाल करता है तथा अपनी आज्ञाएं तथा निर्देश प्रदान करता है। वह इन सभी यंत्रों का शासक है, घर का स्वामी तथा शरीर का सिंहासनारूढ राजा है। अहंकार, बुद्धि और चिन्तन की शक्तियां, इन्द्रियां, उनके यन्त्र, शरीर और ये सब उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। इन सबको प्रकाशित करनेवाला वही है। यह मनुष्य की आत्मा है। इसी प्रकार हम देख सकते हैं कि जो विश्व के एक छोटे से अंश के सम्बन्ध में सत्य है,

वही सम्पूर्ण विश्व के सम्बन्ध में भी होना चाहिए। यदि समानुरूपता विश्व का नियम है, तो विश्व का प्रत्येक अंश उसी योजना के अनुसार बना हुआ होना चाहिए, जिसके अनुसार सम्पूर्ण विश्व बना हुआ है। इसलिए हमारा यह सोचना स्वाभाविक है कि विश्व कहे जानेवाले इस स्थूल भौतिक रूप के पीछे एक सूक्ष्मतर तत्त्वों का विश्व अवश्य होगा, जिसे हम विचार कहते हैं और उसके पीछे एक 'आत्मा' होगी, जो इस समस्त विचार को सम्भव बनाती है, जो आज्ञा देती है और जो इस विश्व की सिंहासनारूढ़ राज्ञी है। वह आत्मा, जो प्रत्येक मन और शरीर के पीछे है, 'प्रत्यगात्मा' अथवा व्यक्तिगत आत्मा कही जाती है, और जो आत्मा विश्व के पीछे उसकी पथप्रदर्शक, नियन्त्रक और शासक है, वह ईश्वर है।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि ये सभी वस्तुएं कहां से आयीं। उत्तर है : आने का क्या अर्थ है ? यदि यह अर्थ है कि शून्य से किसी वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है तो यह असम्भव है। यह सारी सृष्टि, यह समस्त अभिव्यक्ति शून्य से उत्पन्न नहीं हो सकती। बिना कारण कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती और कार्य कारण के पुनरुत्पादन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यहां यह शीशे का गिलास है। मान लो इसके हम टुकड़े-टुकड़े कर दें, इसे पीस डालें, और रासायनिक पदार्थों की मदद से इसका प्रायः उन्मूलन-सा कर दें, तो क्या इस सबसे वह शून्य में वापस जा सकता है ? कदापि नहीं। आकार नष्ट हो जाएगा, किन्तु जिन परमाणुओं से वह निर्मित हैं, वे बने रहेंगे, वे हमारी ज्ञानेन्द्रियों से परे भले ही हो जाएं, परन्तु वे बने रहते हैं और यह नितान्त सम्भव है कि इन्हीं पदार्थों से एक दूसरा गिलास भी बन सके। यदि यह बात एक दृष्टान्त के सम्बन्ध में सत्य है, तो प्रत्येक उदाहरण में भी सत्य होगी। कोई वस्तु शून्य से नहीं बनायी जा सकती। न कोई वस्तु शून्य में पुनः परिवर्तित की जा सकती है। यह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, और फिर स्थूल से स्थूलतर रूप ग्रहण कर सकती है। वर्षा की बूंद समुद्र से निकलकर भाप के रूप में ऊपर उठती हैं और वायु द्वारा पहाड़ों की ओर परिचालित होती है, वहां वह पुनः जल में बदल जाती है और सैकड़ों मील बहकर फिर अपने जनक समुद्र में मिल जाती है। बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है। वृक्ष मर जाता है, और केवल बीज छोड़ जाता है। वह पुनः दूसरे वृक्ष के रूप में उत्पन्न होता है, जिसका पुनः बीज के रूप में अन्त होता है और यही क्रम चलता है। एक पक्षी का दृष्टान्त लो, कैसे वह अण्डे से निकलता है, एक सुन्दर पक्षी बनता है, अपना जीवन पूरा करता है और अन्त में मर जाता है। वह केवल भविष्य के बीज रखनेवाले कुछ अण्डों को ही छोड़ जाता है। यही बात जानवरों के सम्बन्ध में सत्य है, और यही मनुष्यों के सम्बन्ध में भी। लगता है कि प्रत्येक वस्तु, कुछ बीजों से, कुछ प्रारम्भिक

तत्वों से अथवा कुछ सूक्ष्म रूपों से उत्पन्न होती है और जैसे-जैसे वह विकसित होती है, स्थूलतर होती जाती है, और फिर अपने सूक्ष्म रूप को ग्रहण करके शान्त पड़ जाती है। समस्त विश्व इसी क्रम से चल रहा है। एक ऐसा भी समय आता है, जब यह सम्पूर्ण विश्व गल कर सूक्ष्म हो जाता है, अन्त में मानो पूर्णतया विलुप्त जैसा हो जाता है, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म भौतिक पदार्थ के रूप में विद्यमान रहता है। आधुनिक विज्ञान एवं गणित ज्योतिष (खगोल विद्या) से हमें विदित होता है कि यह पृथिवी शीतल होती जा रही है और कालान्तर में यह अत्यन्त शीतल हो जाएगी, और तब यह खण्ड-खण्ड होकर अधिकाधिक सूक्ष्म होती हुई पुनः आकाश के रूप में परिवर्तित हो जाएगी। किन्तु उस सामग्री की रचना के निमित्त, जिससे दूसरी पृथिवी प्रक्षिप्त होगी, परमाणु विद्यमान रहेंगे। यह प्रक्षिप्त पृथिवी भी विलुप्त होगी, और फिर दूसरी आविर्भूत होगी। इस प्रकार यह जगत् अपने मूल कारणों में प्रत्यावर्तन करेगा, और उसकी सामग्री संघटित होकर – अवरोह, आरोह करती, आकार ग्रहण करती लहर के सदृश – पुनः आकार ग्रहण करेगी। कारण में बदल कर लौट जाने और फिर पुनः बाहर निकल आने की प्रक्रिया को संस्कृत में क्रमश. 'संकोच' और 'विकास' कहते हैं, जिनका अर्थ सिकुडना और फैलना होता है। इस प्रकार समस्त विश्व संकुचित होता और प्रसार जैसा करता है। आधुनिक विज्ञान के अधिक मान्य शब्दों का प्रयोग करें तो हम कह सकते हैं कि वह अन्तर्भूत (सन्निहित) और विकसित होता है। तुम विकास के सम्बन्ध में सुनते हो कि किस प्रकार सभी आकार निम्नतर आकारों से विकसित होते हैं और धीरे-धीरे अधिकाधिक विकसित होते रहते हैं। यह बिलकुल ठीक है, लेकिन प्रत्येक विकास के पहले अन्तर्भाव का होना आवश्यक है। हमें यह ज्ञात है कि जगत् में उपलब्ध ऊर्जा का पूर्ण योग सदैव समान रहता है, और भौतिक पदार्थ अविनाशी है। तुम किसी भी प्रकार भौतिक पदार्थ का एक परमाणु भी बाहर नहीं ले जा सकते। न तो तुम एक फुट-पाउण्ड ऊर्जा कम कर सकते हो और न जोड़ सकते हो। सम्पूर्ण योग सदैव वही रहेगा। संकोचन और विकास के कारण केवल अभिव्यक्ति में अन्तर होता है। इसलिए यह प्रस्तुत चक्र अपने पूर्वगामी चक्र के अन्तर्भाव या संकोचन से प्रसून विकास का चक्र है; और यह चक्र पुनः अन्तर्भूत या संकुचित होगा, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाएगा और उससे फिर दूसरे चक्र का उद्‌भव होगा। समस्त विश्व इसी क्रम से चल रहा है! इस प्रकार हम देखते हैं कि सृष्टि का यह अर्थ नहीं कि अभाव से भाव की रचना हुई। अधिक उपयुक्त शब्द का व्यवहार करें तो हम कहेंगे कि अभिव्यक्ति हो रही है और ईश्वर विश्व को अभिव्यक्त करनेवाला है। यह विश्व मानो उसका निःश्वास है जो उसी में समाहित हो जाता है और जिसे वह फिर बाहर निकाल देता है। वेदों में एक

अत्यन्त सुन्दर उपमा दी गयी है । वह अनादि पुरुष नि:श्वास के रूप में इस विश्व को प्रकट करता है और श्वासरूप से इसे अपने में अन्तर्निहित करता है। उसी प्रकार जिस प्रकार कि हम एक छोटे से धूलि-कण को सांस के द्वारा निकालते और सांस द्वारा उसे पुन: भीतर ले जाते हैं। यह सब तो बिलकुल ठीक है, लेकिन प्रश्न हो सकता है : प्रथम चक्र में इसका क्या रूप था ? उत्तर है : प्रथम चक्र से क्या आशय है ? वह तो था ही नहीं। यदि तुम काल का प्रारम्भ बतला सकते हो, तो समय की समस्त धारणा ही ध्वस्त हो जाती है। उस सीमा पर विचार करने की चेष्टा करो, जहां काल का प्रारम्भ हुआ, तुमको उस सीमा के परे के समय के सम्बन्ध में विचार करना पड़ेगा। जहां देश प्रारम्भ होता है, उस पर विचार करो; तुमको उसके परे के देश के सम्बन्ध में भी सोचना पड़ेगा। देश और काल अनन्त हैं, अत: न तो उनका आदि है और न अन्त। यह धारणा इससे कहीं अच्छी है कि ईश्वर ने पांच मिनट में विश्व की रचना की और फिर सो गये और तब से आज तक सो रहे हैं। दूसरी ओर यह धारणा अनन्त स्त्रष्टा के रूप में हमें ईश्वर प्रदान करती है। लहरों का एक क्रम है, वे उठती हैं और गिरती हैं और ईश्वर इस अनन्त प्रक्रिया का संचालक है। जिस प्रकार विश्व अनादि और अनन्त है, उसी प्रकार ईश्वर भी। हम देखते हैं कि ऐसा होना अनिवार्य है, क्योंकि यदि हम कहें कि किसी समय सृष्टि नहीं थी, सूक्ष्म अथवा स्थूल रूप में भी, तो हमें यह भी कहना पड़ेगा कि ईश्वर भी नहीं था, क्योंकि हम ईश्वर को साक्षी, विश्व के द्रष्टा के रूप में समझते हैं। जब विश्व नहीं था, तब वह भी नहीं था। एक प्रत्यय के बाद दूसरा प्रत्यय आता है। कार्य के विचार से हम कारण के विचार कर पहुंचते हैं और यदि कार्य नहीं होगा, तो कारण भी नहीं होगा। इससे यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार विश्व शाश्वत है, उसी प्रकार ईश्वर भी शाश्वत है।

आत्मा भी शाश्वत है। क्यों ? सबसे पहले तो यह कि वह पदार्थ नहीं है। वह स्थूल शरीर भी नहीं है, न वह सूक्ष्म शरीर है जिसे मन अथवा विचार कहा गया है। न तो यह भौतिक शरीर है और न ईसाई मत में प्रतिपादित सूक्ष्म शरीर है। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर परिवर्तनशील हैं। स्थूल शरीर तो प्राय: प्रत्येक मिनट बदलनेवाला है और उसकी मृत्यु हो जाती है, किन्तु सूक्ष्म शरीर सुदीर्घ अवधि तक बना रहता है – जब तक कि हम मुक्त नहीं हो जाते और तब वह भी विलग हो जाता है। जब व्यक्ति मुक्त हो जाता है, तब उसका सूक्ष्म शरीर विघटित हो जाता है। स्थूल शरीर तो जितनी बार वह मरता है, विघटित होता रहता है। आत्मा किसी प्रकार के परमाणुओं से निर्मित न होने के कारण निश्चय ही अविनाशी है। विनाश से हम क्या समझते हैं ? विनाश उन उपादानों का उच्छेदन है, जिनसे किसी वस्तु का निर्माण

होता है। यदि यह गिलास चूर-चूर हो जाए, तो इसके उपादान विघटित हो जाएंगे और वही गिलास का नाश होगा। अणुओं का विघटन ही हमारी दृष्टि में विनाश है। इससे यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है कि जो वस्तु परमाणुओं से निर्मित नहीं है, वह नष्ट नहीं की जा सकती, वह कभी विघटित नहीं हो सकती। आत्मा का निर्माण भौतिक तत्त्वों से नहीं हुआ है। यह एक अविभाज्य इकाई है। इसलिए वह अनिवार्यतः अविनाशी है। इसी कारण इसका अनादि और अनन्त होना भी अनिवार्य है। अतः आत्मा अनादि एवं अनन्त है।

तीन सत्ताएं हैं। एक तो प्रकृति है जो अनन्त है, परन्तु परिवर्तनशील है। समग्र प्रकृति अनादि और अनन्त है, परन्तु इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के परिवर्तन हो रहे हैं। यह उस नदी के समान है, जो हजारों वर्षों तक समुद्र में निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। नदी सदैव वही रहती है, परन्तु वह प्रत्येक क्षण परिवर्तित हुआ करती है, जलकण निरन्तर अपनी स्थिति बदलते रहते हैं। फिर ईश्वर है जो अपरिवर्तनशील एवं नियन्ता है और फिर आत्मा है, ईश्वर की भांति अपरिवर्तनशील तथा शाश्वत है, परन्तु नियन्ता के अधीन है। एक तो स्वामी है, दूसरा सेवक और तीसरी प्रकृति है।

ईश्वर विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का कारण है, अतः कार्य की निष्पत्ति के लिए कारण का विद्यमान होना अनिवार्य है। केवल यही नहीं, कारण ही कार्य बन जाता है। शीशे की उत्पत्ति कुछ भौतिक पदार्थों एवं शिल्पकार के द्वारा प्रयुक्त कुछ शक्तियों के संयोग से होती है। शीशे में उन पदार्थों एवं शक्तियों का योग है। जिन शक्तियों का प्रयोग हुआ है, वे शक्तियां संयोजन (लगाव) की शक्ति बन गयी हैं, और यदि वह शक्ति चली जाती है, तो शीश बिखरकर चूर-चूर हो जाएगा, यद्यपि वे पदार्थ निश्चित रूप से उस शीशे में हैं। केवल उनका रूप परिवर्तित होता है। कारण ने कार्य का रूप धारण किया है। जो भी कार्य तुम देखते हो, उसका विश्लेषण तुम कारण के रूप में कर सकते हो। कारण ही कार्य के रूप में अभिव्यक्त होता है। इसका यह अर्थ है; यदि ईश्वर सृष्टि का कारण है और सृष्टि कार्य है, तो ईश्वर ही सृष्टि बन गया है। यदि आत्माएं कार्य और ईश्वर कारण है, तो ईश्वर ही आत्माएं बन गया है। अतः प्रत्येक आत्मा ईश्वर का अंश है। 'जिस प्रकार एक अग्नि-पिण्ड से अनेक स्फुलिंग उद्भूत होते हैं, उसी प्रकार उस अनन्त सत्ता से आत्माओं का यह समस्त विश्व प्रादुर्भूत हुआ है।'

हमने देखा कि एक तो अनन्त ईश्वर है, और दूसरी अनन्त प्रकृति है। तथा, अनन्त संख्याओंवाली अनन्त आत्माएं हैं। यह धर्म की पहली सीढ़ी है, इसे द्वैतवाद कहते हैं – अर्थात् वह अवस्था जिसमें मनुष्य अपने और ईश्वर को शाश्वत रूप से

पृथक् मानता है, जहां ईश्वर स्वयं एक पृथक् सत्ता है और मनुष्य स्वयं एक पृथक् सत्ता है तथा प्रकृति स्वयं एक पृथक् सत्ता है। फिर द्वैतवाद यह मानता है कि प्रत्येक वस्तु में द्रष्टा और दृश्य (विषय और विषयी) एक दूसरे के विपरीत होते हैं। जब मनुष्य प्रकृति को देखता है, तब वह द्रष्टा (विषयी) है और प्रकृति दृष्य (विषय) है। वह द्रष्टा और दृश्य के बीच में द्वैत देखता है जब वह ईश्वर की ओर देखता है, वह ईश्वर को दृश्य के रूप में देखता है और स्वयं को द्रष्टा के रूप में। वे पूर्णरूपेण पृथक् हैं। यह ईश्वर और मनुष्य के बीच का द्वैत है। यह साधारणत: धर्म के प्रति पहला दृष्टिकोण है।

इसके पश्चात् धर्म का दूसरा दृष्टिकोण आता है, जिसका अभी मैंने तुमको दिग्दर्शन कराया है। मनुष्य यह समझने लगता है कि यदि ईश्वर विश्व का कारण है और विश्व उसका कार्य, तो ईश्वर स्वयं ही विश्व और आत्माएं बन गया है और वह (मनुष्य) उस सम्पूर्ण ईश्वर का अंश मात्र है। हम लोग छोटे-छोटे जीव हैं, उस अग्नि-पिण्ड के स्फुलिंग हैं, और समस्त सृष्टि ईश्वर की साक्षात् अभिव्यक्ति है। यह दूसरी सीढ़ी है। संस्कृत में इसे 'विशिष्टाद्वैतवाद' कहते हैं। जिस प्रकार हमारा यह शरीर है, और यह शरीर आत्मा के आवरण का कार्य करता है और आत्मा इस शरीर में एवं इसके माध्यम से स्थित है, उसी प्रकार अनन्त आत्माओं का यह विश्व एवं प्रकृति ही मानो ईश्वर का शरीर है। जब अन्तर्भाव का समय आता है, ब्रह्माण्ड सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता चला जाता है, फिर भी वह ईश्वर का शरीर बना रहता है। जब स्थूल अभिव्यक्ति होती है, तब भी सृष्टि ईश्वर के शरीर के रूप में बनी रहती है। जिस प्रकार मनुष्य की आत्मा, मनुष्य के शरीर और मन की आत्मा है, उसी प्रकार ईश्वर हमारी आत्माओं की आत्मा है। तुम सब लोगों ने इस उक्ति को प्रत्येक धर्म में सुना होगा, 'हमारी आत्माओं की आत्मा।' इसका आशय यही है। मानो वह उसमें रमता है, उन्हें निर्देश देता है औन उन सबका शासक है। प्रथम दृष्टि, द्वैतवाद के अनुसार हम सभी ईश्वर और प्रकृति से शाश्वत रूप में पृथक् व्यक्ति हैं। दूसरी दृष्टि के अनुसार हम व्यक्ति हैं, परन्तु ईश्वर के साथ एक हैं। हम सब उसी में हैं। हम सब उसी के अंश हैं, हम सब एक हैं। फिर भी मनुष्य और मनुष्य में, मनुष्य और ईश्वर में एक कठोर व्यक्तिता है, जो पृथक् है और पृथक् नहीं भी।

अब इससे भी सूक्ष्मतर प्रश्न उठता है, प्रश्न है : क्या अनन्त के अंश हो सकते हैं ? अनन्त में अंशों से क्या तात्पर्य है ? यदि तुम इस पर विचार करो तो देखोगे कि यह असम्भव है। अनन्त के अंश नहीं हो सकते, वह हमेशा अनन्त ही रहता है और दो अनन्त भी नहीं हो सकते। यदि उसके अंश किये जा सकते हैं, तो प्रत्येक अंश

अनन्त ही होगा। यदि ऐसा मान भी लें, तो वे एक-दूसरे को ससीम कर देंगे और दोनों ही ससीम हो जाएंगे। अनन्त केवल एक तथा अविभाज्य ही हो सकता है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि अनन्त एक है, अनेक नहीं; और वही एक अनन्त आत्मा, पृथक् आत्माओं के रूप में प्रतीत होनेवाले असंख्य दर्पणों में प्रतिबिम्बित हो रही है। यह वही अनन्त आत्मा है, जो विश्व का आधार है, जिसे हम ईश्वर कहते हैं। वही अनन्त आत्मा मनुष्य के मन का आधार भी है, जिसे हम जीवात्मा कहते हैं।

ईश्वरत्व की धारणा

प्रत्येक व्यक्ति की, प्रकृति के नियमों को न माननेवाले मनुष्य को पाने की आन्तरिक भावना होती है। वेदान्ती ऐसे नित्य ईश्वर में विश्वास करता है, जब कि बौद्ध और सांख्यवादी केवल जन्येश्वर अर्थात् वह ईश्वर जो, पहले मनुष्य था और फिर आध्यात्मिक साधना के द्वारा ईश्वर बना, में विश्वास करते हैं। पुराण इन दो मतवादों का समन्वय अवतारवाद द्वारा करते हैं। उनका कहना है कि जन्येश्वर नित्य ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, उसने माया से जन्येश्वर का रूप धारण कर लिया है। सांख्यावादियों का नित्य ईश्वर के प्रति यह तर्क कि 'एक जीवन्मुक्त आत्मा विश्व की रचना कैसे कर सकती है', एक मिथ्या आधार पर आश्रित है, क्योंकि तुम एक मुक्तात्मा को कोई आदेश नहीं दे सकते। वह मुक्त है अर्थात् वह जो चाहे सो कर सकता है। वेदान्त के अनुसार जन्येश्वर विश्व की रचना, पालन अथवा संहार नहीं कर सकता।

आत्मा का स्वरूप और लक्ष्य

"मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् उसका विलोप नहीं होता है तथा कुछ वस्तुएं मनुष्य की मृत्यु के उपरान्त भी जीवित ऐसी आद्यतम धारणा है। कुछ वस्तुएं नाशवान नहीं होती हैं। मिस्त्रियों, बेबीलोनिअनों और हिन्दुओं (प्राचीन) की तुलना करके इस धारणा को ग्रहण करना बहुत ही लाभदायक है। मिस्त्रियों और बेबीलोनिअनों में हम आत्मा विषयक जो एक प्रकार की धारणा मिलती है – वह है प्रतिरूप देह (Double)। उनके अनुसार इस देह के भीतर एक प्रतिरूप देह और है, जो वहां गति तथा क्रिया करती रहती है; और जब बाह्य देह मरती है, तो प्रतिरूप बाहर चला जाता तथा एक निश्चित समय तक जीता रहता है; किन्तु इस प्रतिरूप का जीवन बाह्य शरीर के परिरक्षण पर अवलम्बित है। यदि प्रतिरूप देही द्वारा छोड़े हुए देह के किसी अंग को क्षति पहुंचे, तो उसके भी उन्हीं अंगों को क्षतिग्रस्त हो जाना निश्चित है। इसी कारण मिस्त्रियों और बेबीलोनिअनों में शवलेपन और पिरामिड निर्माण द्वारा किसी व्यक्ति के मृत शरीर को सुरक्षित रखने के प्रति इतना आग्रह मिलता है। बेबीलोनिअनों और प्राचीन मिस्त्रियों दोनों में यह धारणा भी मिलती है, कि यह प्रतिरूप चिरन्तनकाल जीता नहीं रह सकता; अधिक से अधिक वह केवल एक निश्चित समय तक ही जीता रह सकता है, अर्थात् केवल उतने समय तक, जब तक उसके द्वारा त्यागे देह को सुरक्षित रखा जा सके।

दूसरी विचित्रता इस प्रतिरूप से सम्बन्धित भय का तत्त्व है। प्रतिरूप देह सदैव दुःखी और विपन्न रहती है; उसके अस्तित्व की दशा अत्यन्त कष्ट की होती है। वह उन खाद्य और पेय पदार्थों तथा भोगों को मांगने के निमित्त जीवित व्यक्तियों के निकट बारंबार आती रहती है, जिनको वह अब प्राप्त नहीं कर सकती। वह नील नदी के जल को, उसके उस ताजे जल को, पीना चाहती है, जिसको वह अब पी नहीं पाती। वह उन खाद्य पदार्थों को पुनः प्राप्त करना चाहती है, जिनका आनन्द वह इस जीवन में लिया करती थी; और जब वह देखती है कि वह उन्हें नहीं पी सकती, तो दूसरी देह क्रूर हो जाती है और यदि उसे वैसा आहार न दिया जाय, तो वह कभी-कभी जीवित व्यक्तियों को मृत्यु एवं विपत्ति से धमकाती है।

आर्य विचार धारा पर दृष्टि डालते ही हमें तत्काल एक बड़ा अन्तर मिलता है।

प्रतिरूप की धारणा वहां भी है, किन्तु वह एक प्रकार की आत्मिक देह का रूप ले लेता है; और एक बड़ा अन्तर यह है कि इस आत्मिक देह का जीवन, आत्मा या तुम उसे जो भी कहो, उसके द्वारा त्यागे हुए शरीर के द्वारा परिसीमित नहीं होता। वरन् इसके विरुद्ध, वह उस शरीर से स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेती है और मृत शरीर को जला देने की विचित्र आर्य प्रथा इसी कारण है। वे व्यक्ति द्वारा त्यागे शरीर से छुटकारा पा जाना चाहते हैं, जब कि मिस्त्री दफनाकर, शवलेपन कर, या पिरामिड बनाकर उसे सुरक्षित रखना चाहते हैं। मृतकों को नष्ट करने की नितान्त आदिम पद्धति के अतिरिक्त, किसी सीमा तक विकसित राष्ट्रों में मृत व्यक्तियों के शरीरों से मुक्ति पाने की उनकी प्रणाली आत्मा सम्बन्धी उनकी धारणा का एक उत्तम परिचायक होती है। जहां-जहां अपगत आत्मा की धारणा मृत शरीर की धारणा से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध मिलती है, वहां हमें शरीर को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति भी सदैव मिलती है, और दफन करने का कोई न कोई रूप भी। दूसरी ओर, जिनमें यह धारणा विकसित हो गयी है, कि आत्मा शरीर से एक स्वतन्त्र वस्तु है और शव के नष्ट कर दिये जाने पर भी उसे कोई क्षति नहीं पहुंचती, उनमें सदैव दाह की पद्धति का ही आश्रय लिया जाता है। इसीलिए सभी प्राचीन आर्य जातियों में हमें शव की दाह-क्रिया मिलती है, यद्यपि पारसियों ने शव को एक मीनार पर खुला छोड़ देने के रूप में उसको परिवर्तित कर लिया है। किन्तु उस मीनार के स्वयं नाम (दख्म) का ही अर्थ है एक दाह-स्थान, जिससे प्रकट है कि पुरातनकाल में वे भी अपने शवों का दाह करते थे। दूसरी विशेषता यह है कि आर्यो में इन प्रतिरूपों के प्रति कभी भय का तत्त्व नहीं रहा। वे आहार या सहायता मांगने में निमित्त नीचे नहीं आते, और न सहायता न मिलने पर क्रूर हो उठते हैं, और न वे जीवित लोगों का विनाश ही करते हैं। वरन् वे हर्षयुक्त होते हैं और स्वतन्त्र हो जाने के कारण प्रसन्न। चिता की अग्नि विघटन की प्रतीक है। इस प्रतीक से कहा जाता है कि वह अपगत आत्मा को कोमलता से ऊपर ले जाय और उस स्थान में ले जाए, जहां पितर निवास करते हैं, इत्यादि।

ये दोनों धारणाएं हमें तत्काल ही एक समान प्रतीत होती हैं – एक आशावादी है और दूसरी प्रारम्भिक होने के साथ निराशावादी। पहली दूसरी का ही प्रस्फुटन है। यह नितान्त सम्भव है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में स्वयं आर्य भी ठीक मिस्त्रियो जैसी धारणा रखते थे, या रखते रहे हों। उनके पुरातनतम आलेखनों के अध्ययन से हमें इसी धारणा की सम्भावना उपलब्ध होती है। किन्तु यह पर्याप्त दीप्तिमान वस्तु होती है, कोई दीप्तिमान वस्तु। मनुष्य के मरने पर यह आत्मा पितरों के साथ निवास करने चली जाती है और उनके सुख का रसास्वादन करती हुई वहां जीती रहती है। वे पितर उसका स्वागत बड़ी दयालुता से करते हैं। भारत में आत्मा विषयक इस प्रकार की

धारणा प्राचीनतम है। आगे चलकर यह धारणा उत्तरोत्तर उच्च होती जाती है। तब यह ज्ञात हुआ कि जिसे पहले आत्मा कहा जाता था, वह वस्तुत: आत्मा है ही नहीं। यह द्युतिमान देह, सूक्ष्म देह, कितनी ही सूक्ष्म क्यों न हो, फिर भी है शरीर ही; और सभी देहों का स्थूल या सूक्ष्म पदार्थों से निर्मित होना अनिवार्य है। रूप और आकार से युक्त तो भी है, उसका सीमित होना अनिवार्य है और वह नित्य नहीं हो सकता। प्रत्येक आकार में परिवर्तन अन्तिर्निहित है। जो परिवर्तनशील है, वह नित्य कैसे हो सकता है ? अत: इस द्युतिमय देह के पीछे उनको एक वस्तु मानो ऐसी मिल गयी, जो मनुष्य की आत्मा है। उसको आत्मा की संज्ञा मिली। यह आत्मा की धारणा तभी आरम्भ हुई। उसमें भी विविध परिवर्तन हुए। कुछ लोगों का विचार था कि यह आत्मा नित्य है; बहुत ही सूक्ष्म है, लगभग उतनी ही सूक्ष्म जितना एक परमाणु; वह शरीर मे एक अंग विशेष में निवास करती है और मनुष्य के मरने पर अपने साथ द्युतिमय देह को लिए यह आत्मा के परमाणविक स्वरूप को अस्वीकार करते थे, जिससे प्रेरित होकर उन्होंने इस द्युतिमय देह को आत्मा मानना स्वीकार किया था।

इन सभी विभिन्न मतों से सांख्य दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें हमें तत्काल ही विशाल विभेद मिलते हैं। उसकी धारणा यह है कि मनुष्य के पास पहले तो यह स्थूल शरीर है; स्थूल शरीर के पीछे सूक्ष्म शरीर है, जो मन का यान जैसा है; और उसके भी पीछे – जैसा कि सांख्यवादी उसे कहते हैं – मन का साक्षी आत्मा या पुरुष है; और यह सर्वव्यापक है। अर्थात्, तुम्हारी आत्मा, मेरी आत्मा, प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा, एक ही समय में सर्वत्र विद्यमान है। यदि वह निराकार है, तो कैसे माना जा सकता है कि वह देश में व्याप्त है ? देश को व्याप्त करनेवाली प्रत्येक वस्तु का आकार होता है। निराकार केवल अनन्त ही हो सकता है। अत: प्रत्येक आत्मा सर्वत्र है। जो एक अन्य सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया, वह और भी अधिक आश्चर्यजनक है। प्राचीनकाल में यह सभी अनुभव करते थे कि मानव प्राणी उन्नतिशील हैं। कम से कम उनमें बहुत से तो है ही। पवित्रता, शक्ति और ज्ञान में वे बढ़ते ही जाते हैं; और तब यह प्रश्न किया गया : मनुष्यों द्वारा अभिव्यक्त यह ज्ञान, यह पवित्रता, यह शक्ति कहां से आये हैं ? उदाहरणार्थ, यहां किसी भी ज्ञान से रहित एक शिशु है। वही शिशु बढता है और एक बलिष्ठ, शक्तिशाली और ज्ञानी मनुष्य हो जाता है। उस शिशु को ज्ञान और शक्ति की अपनी यह सम्पदा कहां से प्राप्त हुई ? उत्तर मिला कि वह आत्मा में है; शिशु की आत्मा में यह ज्ञान और शक्ति आरम्भ से ही थे। यह शक्ति, यह पवित्रता और यह बल उस आत्मा में थे, किन्तु वे थे अव्यक्त, अब वे व्यक्त हो उठे हैं। इस व्यक्त या अव्यक्त होने का अर्थ क्या है ? जैसा कि सांख्य में कहा जाता है,

प्रत्येक आत्मा शुद्ध और पूर्ण, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है; किन्तु बाह्यतया वह स्वयं को केवल अपने मन के अनुरूप ही व्यक्त कर सकती है। मन आत्मा का प्रतिबिम्बक दर्पण जैसा है। मेरा मन एक निश्चित सीमा तक मेरी आत्मा की शक्तियों को प्रतिबिम्बित करता है; इसी प्रकार तुम्हारा मन और प्रत्येक किसी का मन अपनी शक्तियों को करता है। जो दर्पण अधिक निर्मल होता है, वह आत्मा को अधिक अच्छी तरह प्रतिबिम्बित करता है। अत: आत्मा की अभिव्यक्ति मन के अनुरूप विविधतामय होती है; किन्तु आत्माएं स्वरूपत: शुद्ध और पूर्ण होती हैं।

एक दूसरा सम्प्रदाय भी था, जिसका मत यह था कि यह सब ऐसा नहीं हो सकता। यद्यपि आत्माएं स्वरूपत: शुद्ध और पूर्ण हैं, उनकी यह शुद्धता और पूर्णता, जैसा कि लोगों ने कहा है, कभी संकुचित और कभी प्रसृत हो जाती है। कतिपय कर्म और कतिपय विचार ऐसे हैं, जो आत्मा के स्वरूप को संकुचित जैसा कर देते हैं; और फिर ऐसे भी विचार और कर्म हैं, जो उसके स्वरूप को प्रकट करते हैं, व्यक्त करते हैं। फिर इसकी व्याख्या की गयी है। ऐसे सभी विचार और कर्म जो आत्मा की पवित्रता और शक्ति को संकुचित कर देते हैं, अशुभ कर्म और अुशभ विचार हैं; और वे सभी विचार एवं कर्म जो स्वयं को व्यक्त करने में आत्मा को सहायता देते, शक्तियों को प्रकट जैसा होने देते हैं, शुभ और नैतिक हैं। इन दो सिद्धान्तों में अन्तर अत्यन्त अल्प है; वह कम वेश प्रसारण और संकुचन शब्दों का खेल है। वह मत जो विवधता को केवल आत्मा के उपलब्ध मन पर निर्भर मानता है, निस्सन्देह अधिक उत्तम व्याख्या है; लेकिन संकुचन और प्रसारण का सिद्धान्त इन दो शब्दों की शरण लेना चाहता है; उनसे पूछा जाना चाहिए कि संकुचन और प्रसारण का अर्थ क्या है ? आत्मा एक निराकार चेतन वस्तु है। प्रसार और संकोच का क्या अर्थ है। यह प्रश्न तुम किसी सामग्री के सम्बन्ध में ही कर सकते हो, चाहे वह स्थूल हो जिसे हम भौतिक द्रव्य कहते हैं, चाहे वह सूक्ष्म, मन, हो; किन्तु इसके परे, यदि वह देश-काल से आबद्ध भौतिक द्रव्य नहीं है, उसको लेकर प्रसार और संकोच शब्दों की व्याख्या कैसे की जा सकती है ? अतएव यह सिद्धान्त जो मानता है कि आत्मा सर्वदा शुद्ध और पूर्ण है, केवल उसका स्वरूप कुछ मनों में अधिक और कुछ में कम प्रतिबिम्बित होता है, अधिक उत्तम प्रतीत होता है। जैसे-जैसे मन परिवर्तित होता है, उसका रूप विकसित एवं अधिकाधिक निर्मल-सा होता जाता है और वह आत्मा का अधिक उत्तम प्रतिबिम्ब देने लगता है। यह इसी प्रकार चलता रहता है और अन्तत: वह इतना शुद्ध हो जाता है, कि वह आत्मा के गुण का पूर्ण प्रतिबिम्बन कर सकता है; तब आत्मा मुक्त हो जाती है।

यही आत्मा का स्वरूप है। उसका लक्ष्य क्या है ? भारत में सभी विभिन्न

सम्प्रदायों में आत्मा का लक्ष्य एक ही प्रतीत होता है। उन सबमें एक ही धारणा मिलती है और वह है मुक्ति की। मनुष्य असीम है; किन्तु अभी जिस सीमा मे उसका अस्तित्व है, वह उसका स्वरूप नहीं है। किन्तु इन सीमाओं के मध्य, वह अनन्त, असीम, अपने जन्मसिद्ध अधिकार, अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेने तक, आगे और ऊपर बढ़ने के निमित्त संघर्ष कर रहा है। हम अपने आसपास जो इन सब संघातों और पुनर्संघातों तथा अभिव्यक्तियो को देखते हैं, वे लक्ष्य या उद्देश्य नहीं हैं, वरन् वे मात्र प्रासंगिक और गौण हैं। पृथिवियो और सूर्यो, चन्द्रों और नक्षत्रों, उचित और अनुचित, शुभ और अशुभ, हमारे हास्य और अश्रु, हमारे हर्ष और शोक जैसे संघात उन अनुभवों को प्राप्त करने में हमारी सहायता के लिए है जिनके माध्यम से आत्मा अपने परिपूर्ण स्वरूप को व्यक्त करती और सीमितता को निकाल बाहर करती है। तब वह बाह्य या आन्तरिक प्रकृति के नियमों से बंधी नहीं रह जाती। वह तब समस्त नियमों, समस्त सीमाओं, समस्त प्रकृति के परे चली जाती है। प्रकृति आत्मा के नियन्त्रण के अधीन हो जाती है; और जैसा वह अभी मानती है, आत्मा प्रकृति के नियन्त्रण के अधीन नहीं रह जाती। आत्मा का यही एक लक्ष्य है; और उस लक्ष्य – मुक्ति – को प्राप्त करने में वह जिन समस्त क्रमागत सोपानों में व्यक्त होती तथा जिन समस्त अनुभवो के मध्य गुजरती है, वे सब उसके जन्म माने जाते हैं। आत्मा एक निम्नतर देह धारण करके उसके माध्यम से अपने को व्यक्त करने का प्रयास जैसा करती है। वह उसको अपर्याप्त पाती है, उसे त्यागकर एक उच्चतर देह धारण करती है। उसके द्वारा वह अपने को व्यक्त करने का प्रयत्न करती है। वह भी अपर्याप्त पायी जाने पर त्याग दी जाती है और एक उच्चतर देह आ जाती है; इसी प्रकार यह क्रम एक ऐसा शरीर प्राप्त हो जाने तक निरन्तर चलता रहता है। जिसके द्वारा आत्मा अपनी सर्वोच्च महत्त्वाकांक्षाओं को व्यक्त करने में समर्थ हो पाती है। तब आत्मा मुक्त हो जाती है।

अब प्रश्न यह है कि यदि आत्मा अनन्त और सर्वत्र अस्तित्वमान है, जैसा कि निराकार चेतन वस्तु होने के कारण उसे होना ही चाहिए, तो उसके द्वारा विविध देहों को धारण करने तथा एक के बाद दूसरी देह में होकर गुजरते रहने का अर्थ क्या है ? भाव यह है कि आत्मा न जाती है, न आती है, न जन्मती है, न मरती है। जो सर्वव्यापी है, उसका जन्म कैसे हो सकता है ? आत्मा शरीर में रहती है, यह कहना निरर्थक प्रलाप है। असीम एक सीमित देश में किस प्रकार निवास कर सकता है ? किन्तु जैसे मनुष्य अपने हाथ में पुस्तक लेकर एक पृष्ठ पढ़कर उसे उलट देता है, दूसरे पृष्ठ पर जाता है, पढकर उसे उलट देता है, आदि; किन्तु ऐसा होने में पुस्तक उलटी जा रही है, पन्ने उलट रहे हैं, मनुष्य नहीं – वह सदा वहीं विद्यमान रहता

है, जहां वह है – और ऐसा ही आत्मा के सम्बन्ध में सत्य है। सम्पूर्ण प्रकृति ही वह पुस्तक है, जिसे आत्मा पढ़ रही है। प्रत्येक जन्म उस पुस्तक का एक पृष्ठ जैसा है; पढ़ा जा चुकने पर वह पलट दिया जाता है और यही क्रम सम्पूर्ण पुस्तक के समाप्त होने तक चलता रहता है और आत्मा प्रकृति को सम्पूर्ण भोग प्राप्त करके पूर्ण हो जाती है। फिर भी न वह कभी चलती है, न कहीं जाती है, न आती है; वह केवल अनुभवों का संचय करती रहती है। किन्तु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे हम गतिशील रहे हों। पृथिवी गतिशील है, तथापि हम सोचते हैं कि पृथिवी के बजाय सूर्य चल रहा है, और हम जानते हैं कि यह भूल है, ज्ञानेन्द्रियों का एक भ्रम है। इसी प्रकार का भ्रम यह है कि हम जन्म लेते हैं और मरते हैं, हम आते हैं, जाते हैं। न हम आते हैं, न जाते हैं, और न हम जन्में ही हैं। क्योंकि आत्मा को जाना कहां है ? उसके जाने के लिए कोई स्थान ही नहीं है। कहां है वह स्थान, जहां वह पहले से ही विद्यमान नहीं है।

इस प्रकार प्रकृति के विकास और आत्मा की अभिव्यक्ति का सिद्धान्त आ जाता है। उच्चतर और उच्चतर संघातों से युक्त विकास की प्रक्रियाएं आत्मा में नहीं हैं; वह जो कुछ है, पहले से ही है। वे प्रकृति में हैं। किन्तु जैसे-जैसे प्रकृति का विकास उत्तरोत्तर उच्चतर से उच्चतर संघातों की ओर अग्रसर होता है, आत्मा की गरिमा अपने को अधिकाधिक व्यक्त करती है। कल्पना करो कि यहां एक पर्दा है, और पर्दे के पीछे आश्चर्यजनक दृश्यावली है। पर्दे में एक छोटा-सा छेद है, जिसके द्वारा हम पीछे स्थित दृश्य के एक क्षुद्र अंशमात्र की झलक पा सकते हैं। कल्पना करो कि वह छेद आकार में बढ़ता जाता है। छेद के आकार में वृद्धि के साथ पीछे स्थित दृश्य दृष्टि के क्षेत्र में अधिकाधिक आता है; और जब पूरा पर्दा विलुप्त हो जाता है, तो तुम्हारे तथा उस दृश्य के मध्य कुछ भी नहीं रह जाता; तब तुम उसे सम्पूर्ण देख सकते हो। पर्दा मनुष्य का मन है। उसके पीछे आत्मा की गरिमा, पूर्णता और अनन्त शक्ति है; जैसे-जैसे मन उत्तरोत्तर अधिकाधिक निर्मल होता जाता है, आत्मा की गरिमा भी स्वयं को अधिकाधिक व्यक्त करती है। ऐसा नहीं है कि आत्मा परिवर्तित होती है, वरन् परिवर्तन पर्दे में होता है। आत्मा अपरिवर्तनशील वस्तु, अमर, शुद्ध, सदा मंगलमय है।

अतएव, अन्ततः सिद्धान्त का रूप यह ठहरता है। उच्चतम से लेकर निम्नतम और दुष्टतम मनुष्य तक में, मनुष्यों में महानतम व्यक्तियों से लेकर हमारे पैरों के नीचे रेंगनेवाले कीड़ों तक में शुद्ध और पूर्ण, अनन्त और सदा मंगलमय आत्मा विद्यमान है। कीड़े में आत्मा अपनी शक्ति और शुद्धता का एक अणुतुल्य क्षुद्र अंश ही व्यक्त कर रही है और महानतम मनुष्य में उसका सर्वाधिक। अन्तर अभिव्यक्ति के परिमाण का है, मूल तत्व में नहीं। सभी प्राणियों में उसी शुद्ध और पूर्ण आत्मा का अस्तित्व है।

स्वर्ग तथा अन्य स्थानों से सम्बन्धित धारणाएं भी हैं, किन्तु उन्हें द्वितीय श्रेणी का माना जाता है। स्वर्ग की धारणा को निम्नस्तरीय माना जाता है। उसका उद्‌भव भोग की एक स्थिति पाने की इच्छा से होता है। हम मूर्खतावर्श समग्र विश्व को अपने वर्तमान अनुभव से सीमित कर देना चाहते हैं। बच्चे सोचते हैं कि सारा विश्व बच्चों से ही भरा है। पागल समझते हैं कि सारा विश्व एक पागलखाना है, इसी तरह अन्य लोग। इसी प्रकार जिनके लिए यह जगत् इन्द्रिय सम्बन्धी भोग मात्र है, खाना और मौज उडाना ही जिनका समग्र जीवन है, जिनमें तथा नृशंस पशुओं में बहुत कम अन्तर है, ऐसे लोगों के लिए किसी ऐसे स्थान की कल्पना करना स्वाभाविक है, जहां उन्हें और अधिक भोग प्राप्त होगे, क्योंकि यह जीवन छोटा है। भोग के लिए उनकी इच्छा असीम है। अतएव वे ऐसे स्थानों की कल्पना करने के लिए विवश हैं, जहां उन्हें इन्द्रियों का अबाध भोग प्राप्त हो सकेगा; फिर जैसे हम और आगे बढते हैं, हम देखते हैं कि जो ऐसे स्थानों को जाना चाहते हैं, उन्हें जाना ही होगा; वे उसका स्वप्न देखेंगे, और जब इस स्वप्न का अन्त होगा, तो वे एक-दूसरे स्वप्न में होंगे जिसमें भोग प्रचुर मात्रा में होगा; और जब वह सपना टूटेगा तो उन्हें किसी अन्य वस्तु की बात सोचनी पडेगी। इस प्रकार वे सदा एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न की ओर भागते रहेगे।

इसके उपरान्त अन्तिम सिद्धान्त आता है, जो आत्मा विषयक एक और धारणा है। यदि आत्मा अपने स्वरूप और सारतत्त्व में शुद्ध और पूर्ण है, और यदि प्रत्येक आत्मा असीम एवं सर्वव्यापी है, तो अनेक आत्माओं का होना कैसे सम्भव है ? असीम बहुत से नहीं हो सकते। बहुतों की बात ही क्या, दो तक भी नहीं हो सकते। यदि दो असीम हों, तो एक दूसरे को सीमित कर देगा, और दोनों ही ससीम हो जाएंगे। असीम केवल एक ही हो सकता है और साहसपूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुंचा जाता है कि वह केवल एक है, दो नहीं।

दो पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे हैं, एक चोटी पर, दूसरा नीचे; दोनों ही अत्यन्त सुन्दर पंखोंवाले हैं। एक फलों को खाता है दूसरा शान्त और गरिमामय था अपने महिमा में समाहित रहता है। नीचेवाला पक्षी अच्छे-बुरे फल खा रहा है और इन्द्रिय सुखों का पीछा कर रहा है; यदाकदा जब वह कोई कडुआ फल खा लेता है, तो ऊंचे चढ़ जाता है और ऊपर देखता है, कि दूसरी पक्षी वहां शान्त और गरिमान्वित बैठा है, न उसे अच्छे फलों की चिन्ता है, न बुरों की, स्वयं में सन्तुष्ट है और वह अपने के परे किसी अन्य भोग को नहीं खोजता। वह स्वयं ही भोगस्वरूप है, अपने से परे वह क्या खोजे ? नीचेवाला पक्षी ऊपरवाले की ओर देखता और उसके निकट पहुंचना चाहता है। वह किंचित् ऊपर बढ़ता है, किन्तु उसके पुराने संस्कार उस पर असर डालते हैं और वह तब भी उन्हीं

फलों को खाता रहता है। फिर कोई विशेष कड़ुआ फल आता है, उसे एक आघात लगता है और वह ऊपर देखता है। वहां वही शान्त और महिमामण्डित पक्षी विद्यमान है! वह निकट आता है, किन्तु प्रारब्ध कर्मों द्वारा फिर नीचे घसीट लिया जाता है और वह कड़ुए मीठे फलों को खाता रहता है। पुनः असाधारण रूप से कड़ुआ फल आता है, पक्षी ऊपर देखता है, निकटतर आता है; और जैसे-जैसे अधिकाधिक निकट आता है, दूसरे पक्षी के पंखों का प्रकाश उसके ऊपर प्रतिबिम्बित होने लगता है। उसके अपने पंख गलने लगते हैं, और जब वह पर्याप्त निकट आ जाता है, तो सारी दृष्टि बदल जाती है। नीचेवाले पक्षी का तो कभी अस्तित्व ही नहीं था, सदैव ऊपरवाला पक्षी ही था, जिसे वह नीचेवाला पक्षी समझा था, वह प्रतिबिम्ब का एक लघु अंशमात्र था।

ऐसा आत्मा का स्वरूप है। यह जीवात्मा इन्द्रिय सम्बन्धी सुखों और जगत् की निस्सारताओं के पीछे भागती है; पशुओं की भांति वह केवल इन्द्रियों में ही जीती है, नाडियों की क्षणिक गुदगुदी में जीती चली जाती है। जब कभी एक आघात लगता है, तो क्षण भर को सिर चकरा जाता है, प्रत्येक वस्तु विलुप्त होती सी लगती है, और उसके लगता है कि जगत् वह नहीं है, जिसे वह समझे बैठी थी, और जीवन ऐसा निर्द्वन्द्व नहीं है। वह ऊपर देखती है और एक क्षण में असीम प्रभु का दर्शन पाती है, महामहिम की एक झलक मिलती है, थोड़ा और निकट आती है, किन्तु अपने प्रारब्ध द्वारा घसीट ली जाती है। एक और आघात लगता है, और उसे पुनः वापस भेज देता है। उसे असीम सर्वव्याप्त सत्ता की एक झलक और मिलती है, वह निकटतर आती है और जैसे-जैसे वह निकटतर आती जाती है, उसको अनुभव होने लगता है कि उसका व्यक्तित्व – उसका निम्न, कुत्सित उत्कटस्वार्थी व्यक्तित्व – गल रहा है; उस तुच्छ वस्तु को सुखी बनाने के लिए सारे संसार को बलि कर देने की इच्छा गल रही है; और जैसे वह शनैः शनैः निकटतर आती जाती है, प्रकृति गलना आरम्भ कर देती है। पर्याप्त निकट आ चुकने पर, सारी दृष्टि बदल जाती है और उसे अनुभव होता है कि वह दूसरा पक्षी थी, जिस असीम को उसने देर से देखा था वह स्वयं उसकी अपनी आत्मा थी, महिमा और गरिमा की जो आश्चर्यजनक झलक उसे मिली, वह उसकी ही आत्मा थी और वस्तुतः वह सत्य वह स्वयं थी। आत्मा को तब वह प्राप्त होता है, जो प्रत्येक वस्तु में सत्य है। वह जो प्रत्येक अणु में है, सर्वत्र विद्यमान, सभी वस्तुओं का सारतत्त्व, इस विश्व का ईश्वर है – जान ले कि तत्त्वमसि – तू वह है; जान ले कि तू मुक्त है।

जीवात्मा एवं परमात्मा[1]

मनुष्य को श्रेष्ठ व्यक्तियों के विषय में सोचने की प्रेरणा भय से मिलता है या जिज्ञासा से मिलती है। इस बारे विवाद न करना ही अच्छा है और इसी प्रेरणा से मनुष्य पूजा-पाठ करता है। (मानव-जाति के इतिहास में) ऐसा कोई समय नहीं रहा, जब पूजा-सम्बन्धी (कोई आदर्श) न रहा हो। ऐसा क्यों है ? दृश्य जगत् – वह चाहे सुनहला प्रभात हो या भूत-प्रेतों का भय – के परे कुछ पा लेने की लगन का रहस्य क्या है ?....प्रागैतिहासिक युगों में जाने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि दो हजार साल पहले जो प्रवृत्ति थी, वही आज भी है। हमें यहां संतोष प्राप्त नहीं होता। जीवन में हमारी स्थिति कुछ भी क्यों न हो – बलशाली, धनी – हमें संतोष नहीं मिलता।

कामना असीम है। उसकी तृप्ति सीमित है। मानवीय कामनाओं का अन्त नहीं है, लेकिन उनकी पूर्ति की चेष्टा करते ही मुसीबतें आ जाती हैं। अविकसित मानवों का भी यही हाल था, उनकी इच्छाएं भले ही कम रही हों। उनकी भी (इच्छाएं) पूरी नहीं हो पाती थीं; और ज्ञान-विज्ञान तथा कलाओं के उत्तरोत्तर विकास के इस युग में (भी) इच्छाएं पूरी नहीं हो पातीं। दूसरी ओर हम इच्छाएं पूरी करने के लिए साधन बढ़ाने में जुटे हैं, और इच्छाएं बढ़ती ही जा रही हैं।...

आदि मानव ने अपने से न हो सकनेवाले कामों में सहज ही बाहरी मदद की आशा की होगी।....उसकी कोई चाह हुई, वह पूरी न हो सकी। – तब वह अलौकिक शक्ति की शरण में गया। मूर्खातिमूर्ख आदि मानव तथा सभ्य से सभ्य आधुनिक मानव इन दोनों का अपनी-अपनी इष्टसिद्धि के लिए ईश्वर से प्रार्थना करना इस प्रवृत्ति का सूचक है। दोनों में कोई अन्तर है ? (कुछ लोग) तो दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर देखते हैं। जहां कोई भी अन्तर नहीं होता, वहीं हम हद से ज्यादा अन्तर देखा करने के आदी हैं। (असभ्य और सभ्य) दोनों एक ही (शक्ति) से याचना करते

1. 23 मार्च, सन् 1900 ई० को सैन फ्रांसिस्को में दिया गया भाषण; संकेतलिपि द्वारा आलिखित यह विवरण अपूर्ण मिला था। स्पष्टीकरणार्थ कहीं-कहीं कोष्ठक में अतिरिक्त सामग्री रखी गयी है, और जहां विवरण उपलब्ध नहीं हुआ है, वहां चार बिन्दु से चिह्नित किया गया है। सं०

हैं। तुम उसे ईश्वर, अल्लाह, जेहोवा आदि जो भी नाम दो। मानव कुछ चाहते हैं। उसकी प्राप्ति उनके सामर्थ्य में नहीं होती। उसे पाने के लिए ही किसी सहायक की तलाश में लगे हैं। यह आदिम जातियों की विशेषता थी और सभ्यातिसभ्य समाज की भी विशेषता है।....हम जन्म से जंगली हैं, क्रमशः सभ्य होते आए हैं।....हम सब अपने-अपने दिल टटोलकर देखें तो सच्चाई मालूम हो जाएगी। आज भी वह डर हमसे छूटा नहीं। हम लम्बी-चौड़ी हांक भले ही लें, दार्शनिक आदि होने का दम्भ भरें, लेकिन जब आघात लगता है, तो मदद के लिए हम हाथ पसारनेवाले हो जाते हैं। हम संसार के सभी अन्धविश्वासों में आस्था रखते हैं। (किन्तु) संसार का कोई अन्धविश्वास ऐसा नहीं है, (जिसमें कोई आधारित सत्य नहीं)। मैं अपना चेहरा ढक लूं और (नाक) की नोक ही बाहर रह जाय, फिर भी मेरे चेहरे का ही हिस्सा रहती है। यही बात अन्धविश्वासों (के बारे में) भी – उनमें कुछ न कुछ सच्चाई होती ही है।

अब देखो, धर्म का निम्नतम रूप मृतकों की की अंत्यक्रिया में मिलता है।....आरम्भ में कफन में शव लपेटे जाते और ढूहों के नीचे बन्द रखे जाते थे। ऐसा माना जाता था मृतात्माएं (राम के समय ढूहों में) लौट आया करती हैं....पीछे उन्हें दफनाना शुरू किया गया....फाटक पर हजार दांतोंवाली भीमदर्शना देवी की कल्पना हुई....बाद में शव की दाह-क्रिया होने लगी और चिता की लपटें आत्मा को ऊपर ले जानेवाली मानी गयीं....मिस्र देशवासी मृतात्मा के लिए खान-पान की भी व्यवस्था करने लगे।

विचार में महत्त्वपूर्ण विकास यूथीय या कबीली देवताओं के जन्म के साथ हुआ। एक कबीले का देवता कोई, तो दूसरे का कोई और होता। यहूदी देवता जेहोवा था, जो दूसरे कबीलों के देवताओं से जूझता था। अपने कबीलेवालों को खुश करने के लिए वह सब कुछ कर सकता था। अपने संरक्षण के बाहर किसी समूचे कबीले की हत्या कर डालना शुभ और उचित था। थोड़ा प्यार भी उनसे मिलता, लेकिन वह चुने हुओं तक ही सीमित रहता।

शनैः शनैः उच्चतर आदर्शों का आविर्भाव हुआ। विजयी कबीले का सरदार, सरदारों का सरदार हुआ, देवताओं का देवता बना।....ईरान की मिस्र पर हुई विजय से इसका श्रीगणेश हुआ। ईरान का सम्राट् (राजाधिराज) बना, उसके सामने कोई खड़ा नहीं हो सकता था। उसे एक नजर देख लेनेवाले को मौत की सजा होती थी।

पीछे सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान ईश्वर की कल्पना हुई। वह विश्व-विधायक, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी ठहराया गया। स्वर्ग उसका निवासस्थान हुआ। मानव के लिए सब कुछ सुलभ बनानेवाले इस परमप्रिय की विशेष स्तुति होने लगी। निखिल सृष्टि (मानव) के लिए है। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि (उसी के) लिए हैं। जो भी ऐसे

विचारवाले है, वे आदि मानवों में गिने जाएंगे; सभ्यों और सुसंस्कृतों में नहीं। उत्तम माने गये सभी धर्मों का विकास गंगा और फरात के मध्य हुआ है।....भारतवर्ष से बाहर हम (स्वर्गस्थ ईश्वर की कल्पना के आगे धर्म का) कोई विकास नहीं देखते। भारत से बाहर अन्यत्र ईश्वर सम्बन्धी वही सर्वोच्च उपलब्धि थी। एक कल्पित स्वर्ग है; ईश्वर का वहां आवास है; उन पर श्रद्धा रखनेवाले देहत्याग के बाद (वहीं) पहुंचते है।. अफ्रीका का मंबो-जंबो (और) स्वर्ग का ईश्वर दोनों बराबर। वह सृष्टि-संचालक है और जगत् का व्यापार सर्वत्र उसकी इच्छा के अनुसार हो रहा है....

प्राचीन यहूदी किसी स्वर्ग के लिए लालायित नहीं थे। नजरत के ईसा का उन्होंने जो (विरोध) किया, उसका यह भी एक कारण है। क्योंकि ईसा ने मृत्यु के बाद भी जीव की नित्यता पर प्रचार किया था। संस्कृत भाषा में 'स्वर्ग' का अर्थ 'इस लोक से परे स्थित, परलोक' है। तो इस पाप का निवारण स्वर्ग को करना पड़ा। आदि मानव पाप (की) कोई चिन्ता नहीं करता था....उसमें यह जिज्ञासा ही न हुई कि पाप क्यों है।....'डेविल' (शैतान) शब्द ईरानी भाषा का है।....धार्मिक चिंतन में (आर्यकुल) के होने के नाते ईरानी और हिन्दू समानधर्मा हैं।....भाषाएं दोनों की एक ही परिवार की हैं। लेकिन एक सम्प्रदाय के लिए जो शब्द मंगलवाचक है, वही दूसरे के लिए अमंगलवाचक हो गया है। ईश्वर के लिए प्राचीन संस्कृत का शब्द है 'देव'। आर्य भाषाओं का 'गॉड' भी तो उसी का पर्याय है। ईरानी में यही शैतान का वाचक है....

मानव ज्यों-ज्यों (अन्त:जीवन) में प्रगति करता गया, त्यों-त्यों उसकी जिज्ञासा तीव्र होती गयी। ईश्वर को 'शिव' कहना भी उसे अखरने लगा। ईरानियों ने इसे व्यक्त किया और दो ईश्वर माने – अशिव (अर्हिमन) तथा शिव (अहुर्मज्द)। (उनका विचार था) कि इस लोक में पहले सब कुछ अच्छा ही अच्छा था . रमणीय देश जहां वर्ष भर वसंत की बहार रहती थी और कोई मरता नहीं था, कोई रोग मच्छर, बाघ, शेर आदि दिखायी पड़े। बाद में आर्य अपनी पितृ-भूमि से निकले और दक्षिण की ओर बढ़े। आर्यों के पूर्वज उत्तर की ओर ही रहते होंगे। यहूदियों ने (शैतान की कल्पना) इरानियों से ग्रहण की। ईरानियों ने यह भी सिखाया था कि एक दिन शैतान मारा जाएगा। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि हम शुभकारी ईश्वर के साथ रहें और शैतान तथा उसके मध्य चलनेवाले इस चिरंतन संघर्ष में उसकी शक्ति को अपनी शक्ति से पुष्ट करें।....सारी दुनिया राख हो जाएगी और प्रत्येक को नया शरीर मिलेगा।

ईरानी विचारधारा के अनुसार दुरात्मा भी पवित्र हो जाएंगे और फिर कभी कुपथगामी नहीं होंगे। आर्यों की प्रवृत्ति प्रेममय और काव्यात्मक थी। (सदा के लिए)

राख हो जाने की कल्पना वे नहीं कर सकते थे। फिर नयी देह प्राप्त होगी। फिर मृत्यु का कोई बन्धन नहीं। भारत के बाहर (धार्मिक) आदर्शों की यही सर्वोच्च परिणति है।...

इसी के साथ नैतिकता का भी सूत्र है। मनुष्य को तीन बातों की ओर ध्यान देना चाहिए – सत्-विचार, सत्-वाणी और सत्-कर्म। बस इतना ही यह व्यावहारिक विवेकसम्मत धर्म है। यहीं कविता का थोड़ा-सा आभास मिलने लगता है। लेकिन इससे भी ऊंची कविता है, ऊंचा चिंतन है।

भारत में वेदों के प्राचीनतम भागों में इस शैतान (असुर वृत्र) के दर्शन होते हैं। वह अचानक (प्रकट) होता है और झट अदृश्य हो जाता है।....वेदों में वर्णन है कि असुर पर वज्रपात हुआ और वह भागा। जो वहां से भागा तो ईरानियों ने उसे रख लिया। हम इस दुनिया से ही उसे निकल जाने देने के प्रयत्न में लगे हैं। ईरानियों के आदर्श पर हम उसे एक सज्जन व्यक्ति बनाना चाह रहे हैं, उसे नया आकार देना चाहते हैं। भारत में शैतान का अस्तित्व ही लुप्त हो गया।

लेकिन ईश्वर की कल्पना सजीव रही। यहीं, याद रखो, दूसरी बात आ गयी। ईरानी सम्राट् तक खोजे हुए सूत्र के अनुरूप ईश्वर की कल्पना भी (भोगपरायणता) के साथ-साथ पनपी। साथ ही तत्त्वज्ञान, दर्शन का आरम्भ हुआ। एक तीसरी भी विचारधारा है और वह है (मनुष्य की) अपनी आत्मा, (अद्वैत आत्मा) की। इसका भी विकास हुआ। अत: भारत से बाहर ईश्वर-सम्बन्धी कल्पना इस स्थूल स्तर के आगे, भारत से ही इस दिशा में किंचित् प्रेरणा मिलने तक, न बढ़ सकी।....अन्य राष्ट्र उसी पुराने स्थूल आदर्श पर रुक गये। इस (अमेरिका) में लाखों ऐसे हैं, जो ईश्वर को देही मानते हैं।....सम्प्रदाय के सम्प्रदाय यही घोषणा करते हुए दिखायी पड़ते हैं। (उनका विश्वास है कि) ईश्वर विश्व का शासन करता है, लेकिन कोई ऐसा स्थान है, जहां वह शरीर विद्यमान है। वह सिंहासन पर विराजमान है। मंदिरों में भारतीय जो आरती-स्तुति करते हैं, वही ये लोग भी करते हैं।

किन्तु भारतवासियों ने इस सम्बन्ध में अधिक बुद्धि से काम लिया, और उन्होंने (अपने ईश्वर को एक भौतिक वस्तु) कभी नहीं बनाया। ब्रह्म के लिए भारत भर में कोई मंदिर तुमको ढूंढ़े न मिलेगा। कारण स्पष्ट है। आत्मा की कल्पना सदैव बनी रही। यहूदियों ने आत्मा की सत्ता के सम्बन्ध में कभी जिज्ञासा ही नहीं की। प्राचीन व्यवस्थान (Old Testament) में आत्मा विषयक कोई उल्लेख नहीं मिलता। नव व्यवस्थान (New Testament) में पहले-पहल इसका उल्लेख मिलता है। ईरानी इतने व्यवहार कुशल थे – असाधारण चलते-पुरजे थे कि उनकी जाति ही लड़ाकू और

विजेता बन गयी। वे बीते युग के अंग्रेज माने जा सकते हैं। जिनका काम ही हमेशा लडना और पडोसियों को मिटाना हो गया। इस आपाधापी मे आत्मा पर विचार असम्भव हो गया। .

आत्मा की प्राचीनतम कल्पना इस स्थूल शरीर में एक सूक्ष्म शरीर की थी। स्थूल के अगोचर हो जाने पर सूक्ष्म गोचर होता है। मिस्र देश में सूक्ष्म शरीर का भी निधन हो जाता है। स्थूल शरीर मे बिखर जाने पर सूक्ष्म भी बिखर जाता है। यही कारण है कि उन्होने पिरामिडों का निर्माण किया और (अपने पुरखों के मृतशरीर को आलेपवेष्टित किया और यह आशा की कि मरे हुए लोग इस क्रिया से अमरत्व प्राप्त करेगे)।

भारत के निवासी निर्जीव शरीर की सेवा नहीं करते। (उनकी धारणा है) कि 'इसे ले जायं और फूंक दें।' पुत्र पिता के शरीर का दाह करता है। ..

दो प्रकार की जातियां हैं – दैवी सम्पदावाली और आसुरी सम्पदावाली। पहले का विचार है कि वे स्वयं जीवात्मा तथा परमात्मा के स्वरूप हैं। दूसरे का विचार है कि वे शरीरमात्र हैं। प्राचीन भारतीय तत्त्वचिंतको ने जोर देकर कहा कि शरीर नश्वर है। 'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रो को त्यागकर अन्य नवीन वस्त्रों को ग्रहण करते है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को (छोडकर) अन्यान्य नवीन शरीरों को प्राप्त करती है।'[2]

जहां तक मेरा सवाल है, वातावरण एवं शिक्षा-दीक्षा के परिणाम से, मै कुछ विपरीत ही सोचने को विवश हुआ था। मेरा अधिक सम्पर्क ईसाई एवं मुसलमानों से रेहा जो विशेषकार शरीर-सेवी होते है।.

(शरीर) तथा आत्मा के बीच एक ही सीढी है। (भारत मे) आत्मा विषयक आदर्श पर जोर दिया जाने लगा। हम लोगों के लिए यही आदर्श ईश्वरीय कल्पना का (पर्याय) हो गया।. .आत्मा की कल्पना का विस्तार होने पर (मनुष्य को स्वीकार करना पडता है कि आत्मा नाम-रूप से परे है)।

भारतीय धारणा के अनुसार आत्मा निराकार है। जो भी साकार है, वह कभी न कभी नष्ट होता ही है। शक्ति और जड द्रव्य के संघात के बिना कोई आकार नहीं हो सकता। इस संघात से गठित आकार का विघटन भी अनिवार्य है। ऐसी दशा में, यदि तुम्हारी आत्मा नारूपात्मक है, तो वह विघटित होती है; अतः तुम्हारी मृत्यु होती

---

2. वासासि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृहणाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति नवानि देही।।

–गीता।। 2। 22।।

है, तुम अमर नहीं रह जाते। (अगर) वह सूक्ष्म शरीर है, तो भी (उसका आकार प्रकृति-जन्य) है, जन्म-मरण के प्राकृतिक नियमों का अनुसार करती है। उनका दृढ़ विश्वास था कि आत्मा मन भी नहीं है....और न वह सूक्ष्म शरीर ही है।....

विचारों के निर्देशन और नियंत्रण सम्भव हैं।....(भारतीय योगियों ने) इस बात का पता लागने के लिए कि विचारों को कहां तक निर्देशित और नियंत्रित किया जा सकता है, बड़ी साधना की। कठोर साधना से विचारों को पूर्णतया शान्त किया जा सकता है। यदि (मनुष्य) विचार ही होता, तो विचारों के शान्त होने के साथ-साथ उसे मर जाना चाहिए था। ध्यानावस्था में विचार शान्त हो जाते हैं, बुद्धि ही वृत्तियां भी बिलकुल स्थिर हो जाती हैं, रक्त-संचार भी रुक जाता है। श्वास-प्रक्रिया तक स्तब्ध हो जाती है। इतने पर भी वह मरता नहीं। यदि वह विचार मात्र ही है, तो बाकी सब कुछ को नष्ट हो जाना चाहिए था, लेकिन देखते यह हैं कि जीव का नाश नहीं होता। यह प्रयोगसिद्ध है। अतः वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि बुद्धि और विचार भी जीव नहीं है। मनन-चिन्तन से भी इसकी पुष्टि हुई, जीव बुद्धि-विचार नहीं हो सकता।

मैं आता हूं, सोचता हूं और बोलता हूं। इन सारे (क्रिया-कलापों) में (आत्मा का) एकत्व बना रहता है। मेरे विचार और व्यापार बहुविध हैं....लेकिन उनमें और उनके मध्य वह अपरिवर्तनीय अखण्ड आत्मा व्याप्त रहती है। वह शरीर नहीं हो सकता। वह प्रतिपल बदलता रहता है। वह मन नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें नित्य नूतन विचार आते रहते हैं। वह न शरीर है, न मन। शरीर और मन प्रकृति-जन्य हैं, इसलिए प्रकृति नियमाधीन है। मुक्त मन कभी भी नियमाधीन नहीं हो सकता....

अतः वास्तविक मनुष्य प्रकृति का नहीं है। यह वह पुरुष है, जिसका शरीर और मन दोनों प्रकृति के हैं। प्रकृति का उतना ही अंश हमारे लिए उपयोगी है। तुम जिस प्रकार कलम, रोशनाई, कुर्सी आदि काम में लाते हो, उसी प्रकार यह देही स्थूल-सूक्ष्म रूप में प्रकृति का उपयोग करता है। स्थूल अंश है शरीर और सूक्ष्म अंश है बुद्धि। अगर वह सहज है, तो उसे निराकार होना चाहिए। रूप प्रकृति के ही होते हैं। जो प्रकृति नहीं है, उसका स्थूल-सूक्ष्म रूप नहीं हो सकता। उसे निराकार और सर्वव्यापी होना चाहिए। यह ध्यान में रखने की बात है। मेज पर रखा यह गिलास (लो)। मेज, गिलास ये दोनों साकार हैं। उनके टूटने-फूटने पर उसका गिलासत्व, मेजत्व भी लुप्तप्राय हो जाता है....

आत्मा निराकार होने के कारण अनाम है। वह न स्वर्ग जाती है, न (नरक) ही, जैसे वह इस गिलास में नहीं जाती आती। वह भरनेवाले पात्र का आकार ग्रहण

करती है वह देश के बन्धन से परे है, तो इन दोनों में से किसी एक बात की सम्भावना ही हो सकती है। या तो (आत्मा) देश को (व्याप्त किये रहती है) या देश ही (उसमें) है। तुम देश के बन्धन में हो, अतः तुम्हारा आकार होना अनिवार्य है। देश हमको सीमित करता है, बाधित करता है। तुम देश के बन्धन में नहीं हो, तो देश ही तुममें है। स्वर्गलोक और इहलोक दोनों सचेतन सत्ता में रहते हैं।....

इसलिए जीवात्मा का सम्बन्ध परमात्मा से ही होना चाहिए। परमात्मा शाश्वत है। 'वह अपाणिपाद होकर भी सब कुछ ग्रहण करता है, सर्वत्र विचरता है'[3]....वह अरूप (है), अमर है, शाश्वत है। परमात्मा का तत्त्व-निरूपण हुआ।....जीवात्मा जिस प्रकार शरीर का (प्रभु) है, उसी प्रकार परमात्मा जीवात्माओं का प्रभु है। जीव शरीर से मुक्त हो जाए तो पल भर के लिए भी शरीर, शरीर नहीं रह पाता। परमात्मा जीवात्मा से अलिप्त हो जाए तो जीवात्मा की स्थिति ही नहीं रह पाती। वह विश्वसृष्टि विधायक है, कालकवलित होनेवालों के लिए महाकाल है। मृत्यु तथा जीवन उसी छायाएं मात्र हैं।

(प्राचीन भारत के महामहिम मनीषियों) का मत था....यह जुगुप्साजनक संसार मानव का मुख्य लक्ष्य न होना चाहिए। विश्व में (न शुभ ही चिरस्थायी है, न अशुभ ही)....

मैंने तुमसे पहले ही कहा....कि (भारत में) शैतान को कोई अवसर नहीं मिल पाया। कारण स्पष्ट है। धर्म के विषय में भारतीय बडे दृढ़ थे। उन्होंने बच्चों-सा खिलवाड़ नहीं किया। तुमको शिशु-सुलभ व्यापारों का परिचय होगा ही। बच्चे हमेशा अपनी जिम्मेदारी दूसरों पर टालने की कोशिश करते रहते हैं। अविकसित बुद्धिवाले कोई भूल हो जाने पर उसकी जिम्मेदारी दूसरों पर डाल देने की कोशिश में लगे रहते हैं। एक ओर हमारी मांग है कि 'यह दो', 'वह दो' और दूसरी तरफ हमारा कहना है कि 'मैंने वैसा नहीं किया। शैतान ने ललचाया। उसी की यह करतूत है।' यह दुर्बल मानवता का इतिहास है।

पाप क्यों है ? संसार जुगुप्साजनक गदा गड्ढा क्यों है ? कोई जिम्मेदार नहीं। हम जलती आग में हाथ बढ़ा दें। ईश्वर भला करे, (मानव) जिसका पात्र है वही (पाता है)। ईश्वर असीम अनुकम्पा का आकार है। प्रार्थना करने पर वह हमारी सुनता है, सहायता करता है, स्वयं को हमारे हवाले कर देता है।

यही उनका आदर्श है। ये भाव काव्यात्मक सौन्दर्य से सजे हुए हैं। भावमग्नता

---

3. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्।। 3। 19।।

में वे आवेशपूर्ण हो उठते हैं। उनका दर्शन काव्य है। यह दर्शन एक कविता है.... संस्कृत भाषा में समस्त (भव्य-भाव) काव्याभिव्यक्ति द्वारा प्रकट हुए हैं। तत्त्ववाद, ज्योतिष आदि छंदोबद्ध हैं।

हम जिम्मेदार हैं और हमसे अपराध होते कैसे हैं ? (तुम्हारी दलील हो सकती है) – 'मैं पैदा हुआ गरीब, इसलिए मुसीबत का मारा हूं। मैं जिन्दगी भर यह संघर्ष याद रखूंगा।' तत्त्वदर्शी कहेंगे कि दोष तुम्हारा है। तुम यह तो नहीं कह रहे हो कि यह सारा प्रपंच अकारण खड़ा किया गया। तुम तो विचारशील प्राणी हो। अपने जीवन का मूल कारण स्वयं तुम हो। जीवन के तत्त्वों का निर्माण तुम हमेशा करते रहते हो। अपने जीवन को सांचें में तुम्हीं ढालते हो। अपने लिए तुम ही जिम्मेदार हो। दूसरे पर, किसी शैतान पर यह जिम्मेदारी न थोपो। तुमको जरूरत से ज्यादा सजा भोगनी पड़ेगी। ....

ईश्वर के सामने (एक व्यक्ति) उपस्थित किया जाता है और वह कहता है कि 'तुमको तीस बेंत लगानी पड़ेंगी....' उसी वक्त एक दूसरा आ पहुंचता है और वह कहता है कि 'तीस बेंत : पन्द्रह इस शख्स को और बाकी पन्द्रह इसके पाजी गुरु को, जिसने इसको यह पाठ पढ़ाया।' दूसरों को सीख देने में यही मुसीबत है। मुझे क्या मिलेगा, मैं नहीं जानता। मैं दुनिया भर घूमता हूं। जिस किसी को मैने चेला बनाया, उस हिसाब से मुझे प्रत्येक के पीछे पन्द्रह-पन्द्रह बेंत खानी होंगी।...

हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचना होगा : मेरी यह माया देवी है। यह मेरी कर्मण्यता है, (मेरा) ईश्वरत्व है। (मेरी योगमाया) बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे (इस माया को लांघ जाते हैं) संसार से तर जाते हैं।'[4]

तुमको पता चलेगा कि अपने से इस (मायारूपी) संसार को पार कर सकना बडा कठिन है। तुम पार नहीं हो सकते। यह वही पुराना सवाल है – मुर्गी और अंडा। तुम कोई काम करो तो वही कारण हो जाता है, जो दुसरे कार्य को जन्म देता है। कार्य-कारण का यह सिलसिला चलता रहता है। इसे तुम बन्द करने की कोशिश करो, तो यह नहीं रुकने का। एक बार चालू किया हुआ चक्र घूमता ही जाएगा, कभी बन्द न होगा। मैं कोई काम – भला या बुरा – करता हूं और (उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया का क्रम लग जाता है)....मैं अब उसे रोक नहीं सकता।

हम (अपने से) इस बंधन से कभी मुक्त न हो सकेंगे। यह तभी सम्भव है,

---

4. दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।

–गीता।। 7। 14।।

जब कि इस कार्य-कारण-विधान से भी अधिक शक्तिशाली कोई हो और वह हम पर दया करके हमें इससे छुटकारा दिला दे। और हम घोषित करते हैं कि वैसा एक है – ईश्वर। वैसी एक सत्ता उसी की है, जो परम दयालु है....अगर वैसा कोई ईश्वर है, तो मेरी रक्षा सम्भव हो सकेगी। अपने ही मनोबल से तुम कैसे बच सकोगे ? कृपा से ही मुक्ति के सिद्धान्त का रहस्य तुमको विदित हुआ ? तुम पाश्चात्य लोग बड़े चतुर हो; लेकिन दर्शन की व्याख्या जब करने लगते हो, तो बड़े अजीब ढंग से उलझ जाते हो। मुक्ति से तुम्हारा मतलब इस समस्त प्रकृति से छुटकारा है तो केवल कर्मसाधना से अपने को तुम कैसे मुक्त कर सकोगे ? मुक्ति का सीधा-सादा अर्थ भगवदाश्रित हो जाना है। तुमको मुक्ति का रहस्य-दर्शन हो जाय तो तुम जीवात्मा हो....प्रकृति-मात्र नहीं ठहरते। जीवात्मा, परमात्मा, और प्रकृति से बाहर तुम ही हो। इनकी केवल बाह्यसत्ता होती है और प्रकृति तथा जीव में ईश्वर की अंतरंग स्थिति रहती (है)।

इसलिए जीवात्मा एवं शरीर का जो सम्बन्ध है, वही जीव और ईश्वर का भी ठहरता है। ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों एक है। वह एक है, मैंने कहा – मेरा मतलब – देह, देही, बुद्धि से है। किन्तु हम जानते हैं कि कार्य-कारण सम्बन्ध प्रकृति के कण-कण में फैला हुआ है। एक बार तुम उसमें फंसे तो फिर कभी उससे बच निकल सकना असम्भव-सा हो जाता है। कभी इसके चक्कर में आ गये तो बचाव का उपाय (काम में उलझे रहने से) न हो पाएगा। तुम समस्त जीवधारियों के लिए अस्पताल बनवाओ.. .इतने पर भी मोक्ष-सिद्धि नहीं होने की। (अस्पताल) बनते-बिगडते हैं। (मोक्ष-सिद्धि) सम्भव होगी, जब कि प्रकृति के बंधन से परे किसी ऐसे तत्त्व की सत्ता रहे, जो प्रकृति का नियंता हो। वही नियमों का मूल आधार है। नियम उसे बांध नहीं सकते . उसकी स्थिति है और वह परम दयालु है। तुम उसे ढूंढो तो सही – वह उसी पल (तुम्हारी रक्षा के लिए तैयार मिलेगा)।

उस सर्वशक्तिमान ने हमें उबारा क्यों नहीं ? तुमको उसकी जरूरत नहीं। उसको छोड़ तुमको बाकी सब कुछ चाहिए। तुम जब उसकी याद करोगे, उसी दम तुमको वह मिल जाएगा। हमें उसकी चाह नहीं। हम कहते हैं, 'प्रभु ! एक आलीशान बंगला दो।' हम बंगला चाहते हैं, उसे नहीं। 'मेरी तन्दुरुस्ती बनाये रखो, मुसीबत से बचाओ।' जब व्यक्ति सारे सुख-उपभोग को भूल केवल उसकी प्राप्ति की लगन रखता है तब उसे (वह मिल जाता है); हे भगवान् धनी मानव को जो प्यार उसके सोने, चांदी एवं सम्पत्ति पर है, वही प्यार मैं तेरे लिए रखूं। मुझे न तो पृथिवी की कामना है, न स्वर्ग की, न सौन्दर्य की और न तो विद्या की ही। मैं मोक्षाभिलाषी भी नहीं हूं। मैं नरक में बार-बार जाऊं; परन्तु मुझे एक वस्तु की कामना है : तुझसे प्रेम करूं

– केवल प्रेम के निमित्त, स्वर्ग के निमित्त भी नहीं।'[5]

मानव जो चाहता है वह पाता है। तुम हमेशा शरीर की लालसा करो तो (तुमको दूसरा शरीर मिलेगा)। यह शरीर सड़ जाए तो दूसरे की चाह होती है और एक के बाद एक शरीर मिलता जाता है। जड से अनुराग रहे तो जड़ ही तुम्हारे पल्ले पड़ता है। तुम पहले जानवर होगे। अगर हड्डी चाटता हुआ कुत्ता दिखायी पड़े, तो मैं बोल उठूंगा, 'ईश्वर ! रक्षा करो।' शरीर से चिपके रहे तो कुत्ते-बिल्ली की योनि में पड़ोगे। क्रम से पतन होगा और हम खनिज पदार्थ रह जाएंगे – केवल शरीर और कुछ नहीं....

कुछ और व्यक्ति हैं जो समझौता करना कभी जानते ही नहीं। मोक्ष का मार्ग सत्य-साधना है। यह एक दूसरा मूलमंत्र है....

इन्सान ने शैतान को लात मार दी तो (मानव का आध्यात्मिक विकास सुगम हो चला)। वह उठ खड़ा हुआ और संसार के सन्ताप की जिम्मेदारी उसने अपने ऊपर ले ली। लेकिन जब कभी वह अतीत और भविष्य (की ओर) देखने को मजबूर हुआ, कार्य-कारण सम्बन्ध पर विचार उठा तब घुटने टेककर प्रार्थना करने लगा – 'देवाधिदेव ! तू मेरी रक्षा कर, तू ही हमारा स्त्रष्टा, हमारा पिता और प्रियतम सखा है।'

यह काव्य जरूर है, पर मेरे मत से उत्तम काव्य का नमूना नहीं। ऐसा क्यों ? यह उस असीम का वर्णन (अवश्य) है। प्रत्येक भाषा में यह वर्णन-विधान मिल सकता है। लेकिन यह इन्द्रियगोचर स्नायु-संदर्शित असीम है....

वहां (न) सूर्य (प्रकाशित होता है); न चन्द्रमा और तारागण ही; न ये बिजलियां ही वहां चमकती हैं।[6] यह असीम का दूसरा चित्रण-विधान है। यह निषेध-परक भाषा में हुआ है।....उपनिषदों में तत्त्व-निरूपण में अध्यात्मप्रधान उत्कृष्ट चित्रण लक्षित होता है। सारे संसार में वेदान्त न केवल उत्कृष्टतम दर्शन है, अपितु अद्भुत

---

5. या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु।। –प्रपन्नगीता।। 42।।
न धनं न जनं न सुन्दराम् कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि।। –शिक्षाष्टक।। 4।।
दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
अवधीरितशारदारविंदौ चरणौ ते मरणेऽपि चिंतयामि।।
–मुकुन्दमाला।। 8।।

6. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।
–मुण्डकोपनिषद्।। 2। 2। 10।।

काव्य-प्रतिभा का प्रमाण भी है

ध्यान से देखो – वेद के आरम्भिक एवं बादवाले छंदो में यही अन्तर है। आरम्भिक छन्द इन्द्रिय-सापेक्ष विषय-वर्णन मे प्रवृत हैं। सारे धर्म गोचर जगत्-प्रकृति तथा प्रकृति देवता – की असीमता से ही (प्रेरित-संचालित है)। (विदान्त के बारे में यह बात नहीं)। मानवीय चेतना का समुज्ज्वल प्रकाश सर्वप्रथम इसी मे विकीर्ण दिखायी पडा। दिगत में व्याप्त, असीम से कोई परितोष (न हुआ) – स्वयं प्रकट होनेवाले परमेश्वर ने समस्त इन्द्रियो को बाहर की ओर जानेवाली ही (बनाया) है। इसलिए मनुष्य इन्द्रियो के द्वारा प्राय बाहर की वस्तुओ को ही (दिखता) है, अन्तरात्मा को नहीं। किसी भाग्यशाली बुद्धिमान मनुष्य ने ही अमर पद को पाने की इच्छा करके चक्षु आदि इन्द्रियो को बाह्य विषयों की ओर से लौटाकर (अन्तरात्मा को) देखा है।'[7]

यह दिगन्त में व्याप्त असीम नहीं है, लेकिन सहज असीम तत्त्व है, जो देश-काल से परे है। पाश्चात्य-जगत् इस तत्त्वबोध से वचित है पश्चिम का चितन बाह्य-प्रकृति तथा प्रकृति देवता का विश्लेषण-निरुपण कर पाया है अन्तर्मुख होकर (विस्मृत) सत्य का संदर्शन करो। देवाधिदेव की सहज कृपा के बिना क्या इस स्वप्नजाल से छुटकारा मिलेगा ? कर्म में प्रवृत्त हो जाने पर उसकी शृंखला से परमपिता की असीम अनुकम्पा के बिना मुक्ति नहीं है।

परमपिता की असीम अनुकम्पा पर आश्रित रहने मे (भी) स्वाधीनता कहां ? दासता, दासता ही है। जजीर सोने की भी उतनी ही खराब है जितनी कि लोहे की। इस उलझन से बचे कैसे ?

तुम बधे नहीं हो। कोई कभी बंधा नहीं होता। (आत्मा) बंधन-रहित है। वही सर्वस्व है। तुम खंडित नहीं, अखड हो; एक हो, दो नहीं। माया के पर्दे पर पडी तुम्हारा परछाई ही ईश्वर है। ईश्वर सहज (आत्मा) है। मानव अनजाने (जिसकी) उपासना करता है, वह जिनकी ही परछाई की है। (कोई-कोई कहते हैं) कि स्वर्ग में रहनेवाला परमपिता ही ईश्वर है। वह ईश्वर है क्यो ? (इसलिए कि वह) तुम्हारी ही परछाई है। अब स्पष्ट हुआ कि तुम हमेशा ईश्वर को कैसे देख रहे हो ? ज्यों-ज्यों निज पर पडी परत हटाते जाओ, त्यो-त्यों प्रतिबिम्ब भी (निखरता) जाएगा।

'एक पेड पर दो सुन्दर पक्षी बैठे है। उनमे से एक शान्त, स्थिर एव भव्य (है); नीचे रहनेवाला (जीवात्मा) दूसरा मीठे-कडवे फल चख रहा है और सुख-दु.ख भोग

---

7. पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्।।
–कठोपनिषद्।। 2। 1। 1।।

रहा है। (लेकिन जीवात्मा परमतत्त्व परमात्मा को अपना निजी प्रतिबिम्ब जान लेता है, तो वह कभी शोक नहीं करता।)'[8]

'ईश्वर' न कहो। 'त्वं', 'तू' न कहो। 'अहं', 'मैं' कहो। (द्वैत) की भाषा है – हे ईश्वर ! तुम मेरे पिता हो।' (अद्वैत) की भाषा है – 'तू मुझे निज से भी अधिक प्यारा है। नाम से तेरा संकेत हो ही न पाता। अधिक निकटतम सम्बन्धसूचक 'अहं', 'मैं' का ही प्रयोग पर पाऊंगा।'

'ब्रह्म ही सत्य है। संसार मिथ्या है। यह मेरा सौभाग्य है कि इस क्षण मुझे बोध हुआ कि मैं बंधहीन (रहा हूं और) शाश्वत बंधनमुक्त रहूंगा।....मैं निज की ही उपासना कर रहा हूं। प्रकृति का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं; भ्रम मुझसे कोसों दूर है। प्रकृति, देवी-देवता उपासना ? परम्परागत श्रद्धा आदि के मोह दूर हुए, क्योंकि आत्मदर्शन हो गया। मैं असीम हूं। ये सारे – व्यक्तिविशेष, जिम्मेदारियां, हर्ष, विषाद, गायब हो गये हैं। मैं असीम हूं। जन्म-मृत्यु का पाश कहां ? भय कहां ? मैं एक अखंड हूं। मैं निज से भय खाऊं ? किसको (किससे) भय ? मैं ही विराट् सत् हूं। मैं सर्वव्यापी-सर्वांतर्यामी हूं।'

सवाल (निजरूपबोध) का है, कर्मसाधना से मोक्ष का नहीं। तुमको मोक्ष मिलेगा भी ! तुम तो मुक्त हो (ही)।

'मैं मुक्त हूं' कहते जाओ। दूसरे ही क्षण भ्रम में पड जाने के कारण 'मैं बद्ध हूं' रट लग जाए तो उससे परेशान न होओ। मोहजन्य समस्त इन्द्रजाल को काट फेंको।

कानों में (सत्य का) यही शंखनाद पहले-पहल सुनायी पड़े। पहले यही सुनो। रात-दिन इस पर मनन करो। सदा यही मन में भरते जाओ : 'मैं वही हूं। मैं विश्व का प्रभु हूं। वहां कभी भ्रम नहीं था...' पूर्ण मनोबल से, आत्मबल से इसी पर तब तक ध्यान लगाते जाओ, जब तक ये दीवारें, गृह, सब कुछ आंखों से ओझल न हो जाए, (जब तक) यह सारा शरीर गल न जाए। 'मैं एकाकी रहूंगा। मैं पूर्ण हूं।' साधना करते जाओ : 'किसी की क्या परवाह ! हम मुक्त होना चाहते हैं; (हम) सिद्धि नहीं चाहते। नरलोक, परलोक, मृत्युलोक आदि को ठुकरा देंगे। हमें इन अष्ट सिद्धियों एवं नव निधियों से क्या मतलब ? मन वश में हो न हो। वह गतिशील बना रहे। उससे

---

8. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।।
–मुण्डकोपनिषद्।। 3। 1। 1-2।।

अपना क्या वास्ता ? मैं मन नहीं हूं। मन की अपनी क्रिया जारी रहे।'

सूर्य (पुण्यात्मा-पापी दोनों का प्रकाश देता है)। क्या वह किसी के कलंक से कलंकित हुआ है। 'सोऽहं (मन के) – व्यापारों में मैं निर्लिप्त हूं। सूर्य कूड़ा-करकट पर किरणें पसारने से कलंकित नहीं हुआ। ॐ तत् सत्।'

यही (अद्वैत) का सार-धर्म है। (यह) जटिल (है)। साधना में लगो। विचारहीन विश्वासों को दूर करो। गुरु या ग्रंथ या देव की (सत्ता) नहीं है। मन्दिर, उपासक, आराध्य, अवतार तथा ईश्वर से बचो। मैं ही सच्चिदानन्द हूं। इसलिए, तत्त्वज्ञानियो ! सावधान ! निर्भीक हो जाओ। फिर कभी ईश्वर तथा सृष्टि-सम्बन्धी धारणाओं को न दुहराओ। **सत्यमेव जयते** – इसमें कोई सन्देह नहीं। मैं ही 'असीम' हूं, यही सत्य है।

परम्परागत धार्मिक विश्वास भ्रामक कल्पनाओं की उपज हैं....यह सभा, तुम श्रोता, मैं वक्ता आदि सब कुछ भ्रम ही है। इस भ्रम का निवारण आवश्यक है। जानने की कोशिश करो कि तत्त्वज्ञानी को कितना जागरूक होना पड़ता है ! यह (ज्ञानयोग) की (साधना) है, ज्ञान से ही मोक्ष का विधान है। अन्य योग-साधनाएं सरल हैं, समय की अपेक्षा रखती हैं ...लेकिन यह विशुद्ध बुद्धि का अपूर्व बल है। दुर्बल व्यक्ति (इस ज्ञानमार्ग पर नहीं चल सकता। तुमको दृढ़ स्वर से कहना होगा) – 'मैं आत्मा हूं। शाश्वत मुक्त हूं। (मैं) कभी बंधा नहीं था। काल मुझमें ही है; मैं काल के अधीन नहीं हूं। ईश्वर मेरे मन की उपज है। परमपिता परमात्मा मेरे मन की सृष्टि का परिणाम है।'

तुम अपने को तत्त्ववेत्ता-दार्शनिक मानते हो, तो प्रमाण पेश करो। इसी पर चिंतन करो, इसी पर विचार-विनियम हो, साधना-पथ पर एक-दूसरे का (सम्बल) बनो, और रूढ़िगत विश्वासों में मोह-पाश से छुटकारा पा जाओ !

आत्मा और ईश्वर

स्वामीजी ने बताया की आत्मा सम्पूर्ण देश से परे हैं और सम्पूर्ण देश आत्मा में है। देश में उपस्थित और प्रत्येक जीव और वस्तु का एक रूप होता है। क्योंकि देश भी स्वयं अपने में एक रूप है अर्थात् या तो मनुष्य देश में है या देश मनुष्य में है। इसको ऊपर की गयी व्याख्या से जाना जा सकता है।

रूप देश और काल से सीमित है और कार्य-कारण नियम में बंधा हुआ है। समग्र काल हममें है। हम काल में नहीं हैं। चूंकि आत्मा देश और काल में नहीं है, सभी देश और काल आत्मा के भीतर हैं। अत: आत्मा सर्वव्यापी है।

ईश्वर के सम्बन्ध में हमारी धारणा हमारी अपनी प्रतिच्छाया है।

प्राचीन फारसी और संस्कृत में निकट का सम्बन्ध है।

ईश्वर के सम्बन्ध में आदिम धारणा प्रकृति के विविध रूपों से उसका तादात्म्य कर देना था – प्रकृति-पूजा। अगली अवस्था में कबीलों के ईश्वर की पूजा हुई। इसके बाद की स्थिति में राजाओं की पूजा होने लगी।

स्वर्गस्थ ईश्वर की धारणा भारत को छोड़कर सभी जातियों में प्रधान है। यह भाव बहुत ही असंस्कृत है।

जीवन के बने रहने का भाव मूर्खतापूर्ण है। जब तक हम जीवन से छुटकारा नहीं पाते, हम मृत्यु से छुट्टी नहीं पा सकते।

आत्मा की मुक्ति

मनुष्य को उसकी इन्द्रियों का ज्ञान इन्द्रियों के कार्य के द्वारा होता है। उसी प्रकार हम आत्मा को उनके द्वारा किये गये कार्यों के द्वारा देख सकते हैं। इन्द्रियगम्य अनुभूति द्वारा आत्मा को निम्न स्तर पर नहीं लाया जाता है। यह विश्व की प्रत्येक वस्तु का अधिष्ठान है, यद्यपि यह स्वयं अधिष्ठानरहित है। जब हमें इस बात का ज्ञान होता है कि हम आत्मा हैं, हम मुक्त हो जाते हैं। आत्मा कभी परिवर्तित नहीं होती। इस पर किसी कारण का प्रभाव नहीं पड़ सकता, क्योंकि यह स्वयं कारण है। यह स्वयं ही अपना कारण है। यदि हम अपने में कोई ऐसी चीज को प्राप्त कर लें, जो किसी कारण से प्रभावित नहीं होती, तो हमने आत्मा को जान लिया।

मुक्ति का अमरता से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। मुक्त होने के लिए व्यक्ति को प्रकृति के नियमों के परे होना चाहिए। नियम तभी तक है, जब तक हम अज्ञानी हैं। जब ज्ञान होता है, हमें लगता है कि नियम हमारे भीतर की मुक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इच्छा कभी मुक्त नहीं हो सकती, क्योंकि वह कार्य और कारण की दासी है। किन्तु, इच्छा के पीछे रहनेवाला 'अहं' मुक्त है और यही आत्मा है। 'मैं मुक्त हूं' – यह वह आधार है जिस पर अपना जीवन निर्मित करके उसका यापन करना चाहिए। मुक्ति का अर्थ है अमरता।

ईश्वर : सगुण तथा निर्गुण

ईश्वर सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों में विद्यमान है। क्योंकि कुछ धर्म ईश्वर को सगुण तथा कुछ धर्म ईश्वर को निर्गुण मानते हैं। प्रत्येक मनुष्य में विश्वात्मा होने के कारण विश्वात्मा सर्वव्यापक है। सभी मनुष्य सगुणीकृत निर्गुणी आत्माएं हैं। सगुणीकृत शब्द को निरपेक्ष अर्थ में प्रयोग करने में मनुष्य निर्गुण व सापेक्षिक अर्थ में प्रयोग करने पर सगुण कहलाता है। पहले यह संशयपूर्ण प्रतीत हो सकता है, परन्तु मेरे लिए यह उतना ही संदिग्ध है, जितना तुम्हारे सम्मुख मेरा खड़ा होना। आत्मा सर्वव्यापक कैसे नहीं होगी ? – न तो इसमें लम्बाई है, न चौड़ाई, न मोटाई और न किसी भी प्रकार का भौतिक गुण; फिर, यदि हम आत्मा हैं, तो हम देश से सीमित नहीं किये जा सकते। देश केवल देश को सीमित करता है और पदार्थ, पदार्थ को। यदि हम इस शरीर में सीमित हो जाएं, तो हम कुछ भौतिक जैसी वस्तु बन जाएंगे। शरीर, आत्मा और प्रत्येक वस्तु भौतिक होगी, और 'शरीर में वास करना', 'आत्मा को मूर्त रूप देना' जैसे शब्द केवल सुविधा के हेतु प्रयुक्त होनेवाले शब्द होंगे, इसके परे उनका कोई अर्थ न होगा। आत्मा की जो परिभाषा मैंने दी है, वह तुममें से कुछ को स्मरण होगी। प्रत्येक आत्मा एक ऐसा वृत्त है जिसका केन्द्र एक बिन्दु पर है, किन्तु जिसकी परिधि कहीं नहीं है। जहां शरीर होता है, वहां केन्द्र है, और वहीं कार्य की अभिव्यक्ति होती है, तुम सर्वव्यापक हो; किन्तु तुमको चेतना केवल एक बिन्दु पर ही केन्द्रीभूत होने की रहती है। उस बिन्दु ने पदार्थ के अणुओं को धारण कर अपनी अभिव्यक्ति के लिए उनको एक यंत्र के रूप बना रखा है। जिसके द्वारा वह अपने को अभिव्यक्त करता है, उसे शरीर कहते हैं। इसलिए तुम सब जगह हो। जब एक शरीर या यंत्र बेकार हो जाता है, तब तुम जो कि केन्द्र हो, आगे बढ़ते और पदार्थ के दूसरे सूक्ष्मतर या स्थूलतर अणुओं को धारण करते हो – और उसके द्वारा कार्य करते हो। यह मनुष्य है; और ईश्वर क्या है ? ईश्वर एक वृत्त है जिसकी परिधि कहीं नहीं है और केन्द्र सर्वत्र है। उस वृत्त में प्रत्येक बिन्दु सजीव, सचेतन, सक्रिय और समान रूप से क्रियाशील हैं। हम सीमित आत्माओं में केवल एक बिन्दु सचेतन है और वह केन्द्र आगे-पीछे गतिशील रहता है। जिस प्रकार विश्व की तुलना में शरीर की

सत्ता अत्यल्प है, उसी प्रकार ईश्वर की तुलना में समस्त विश्व कुछ नहीं है। जब हम कहते है, ईश्वर बोलता है, तो इसका अर्थ है कि वह अपनी सृष्टि के माध्यम से बोलता है। जब हम उसका वर्णन उसे देश-काल से परे कहकर करते हैं, तब हम कहते हैं, कि वह निर्गुण सत्ता है। किन्तु वह रहता है वही सत्।

उदाहरणार्थ : हम यहां खड़े हैं और सूर्य को देख रहे हैं। कल्पना करो कि तुम सूर्य की ओर जाना चाहते हो। कुछ हजार मील उसके निकट पहुंचने पर तुमको एक दूसरा सूर्य दिखायी पड़ेगा, और अधिक बडा। मान लो तुम और अधिक निकट चले जाते हो, तब तुम और भी बडा सूर्य देखोगे। अन्त में तुम वास्तविक सूर्य देखोगे, करोड़ों मील विशाल। कल्पना करो कि तुम इस यात्रा को अनेक चरणों में विभाजित करके प्रत्येक स्थान से चित्र लेते हो और वास्तविक सूर्य का चित्र लेने के बाद वापस लौटकर सब चित्रों की तुलना करते हो। तब वे सब तुमको भिन्न प्रतीत होंगे, क्योंकि प्रथम दृष्टि में वह एक छोटा लाल गोला था और वास्तविक सूर्य करोड़ो मील विस्तृत था। तथापि सूर्य वही था। यही बात ईश्वर के सम्बन्ध में है। अनन्त सत्ता को हम भिन्न-भिन्न दृष्टि बिन्दुओं से, मन के भिन्न-भिन्न स्तरों से देखते हैं। निम्नतम मनुष्य उसे एक पितर के रूप में देखता है। जैसे-जैसे उसकी दृष्टि अधिक व्यापक होती है, वह उसे एक ग्रह के शासक के रूप मे, और अधिक व्यापक होने पर विश्व के नियन्ता के रूप में तथा उच्चतम मनुष्य उसे अपने ही समान देखता है। ईश्वर वही था और भिन्न-भिन्न अनुभव केवल दृष्टि के परिमाण और भेद थे।

सोऽहमस्मि

(20 मार्च, सन् 1900 ई० को सैन फ्रान्सिस्को में दिया गया व्याख्यान)

आज रात मेरे बोलने का विषय मनुष्य है, प्रकृति की तुलना में मनुष्य। बहुत दिनों तक 'प्रकृति' शब्द प्राय: एकान्तिक रूप से बाह्य-जगत् के घटना-समूह के अर्थ में ही प्रयुक्त होता था। यह देखा गया कि यह घटना-समूह नियमानुसार कार्य करता है, घटनाएं अपनी आवृत्ति स्वत: किया करती हैं : जो अतीत में घटित हुआ था, वही पुन: घटित होता है– कोई घटना केवल एक ही बार घटित नहीं होती। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि प्रकृति एकरूप है। एकरूपता प्रकृति की कल्पना के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। बिना इसके प्राकृतिक घटनाओ को नहीं समझा जा सकता। जिसे हम नियम कहते हैं, उसका आधार यह एकरूपता ही है।

क्रमश: 'प्रकृति' शब्द तथा एकरूपता की धारण का प्रयोग, जीवन और मन के व्यापारों के सम्बन्ध में भी होने लगा। जो कुछ विभेदयुक्त हैं, वह सब प्रकृति हैं। वनस्पति, पशु और मनुष्य तीनों का गुण (स्वभाव) प्रकृति है। मनुष्य का जीवन निश्चित नियमों के अनुसार चलता है और उसी प्रकार मन भी। विचार यों ही उत्पन्न नहीं होते। उनके उदय, अस्तित्व और अंत का एक नियम है। दूसरे शब्दों में जिस प्रकार बाह्य-प्रकृति नियम से आबद्ध है, उसी प्रकार आन्तरिक प्रकृति अर्थात् जीवन और मानव-मन भी।

जब हम मनुष्य के अस्तित्व और मन को ध्यान में रखते हुए नियम पर विचार करते हैं, तब यह तुरन्त स्पष्ट हो जाता है कि स्वतंत्र इच्छा और स्वतंत्र अस्तित्व जैसी कोई वस्तु नहीं हो सकती। हम जानते हैं कि पशु-प्रकृति किस प्रकार पूर्णरूपेण नियमबद्ध है। पशु किसी स्वतंत्र इच्छा का प्रयोग करता हुआ प्रतीत नहीं होता। यह बात मनुष्य के संबंध में भी सत्य है, मानव-प्रकृति भी नियमबद्ध है। मानव-मन के क्रिया-कलापों का नियमन करनेवाला नियम ही कर्म का नियम कहलाता है।

शून्य से कुछ उत्पन्न होता हुआ किसने नहीं देखा। यदि कोई बात मन में उठती

है, तो वह भी किसी न किसी पदार्थ से उत्पन्न हुई होगी। जब हम स्वतंत्र इच्छा की बात करते हैं, तब हमारा आशय यह होता है कि इच्छा किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं होती। परन्तु यह सत्य नहीं हो सकता। इच्छा कारण से उत्पन्न होती है, कारण द्वारा उत्पन्न होने से वह स्वतंत्र नहीं हो सकती– वह नियम से बंधी हुई है। मैं तुमसे बात करने की इच्छा रखता हूं और तुम मेरी बात सुनने आते हो, यह नियम है। मैं जो कुछ करता, सोचता या अनुभव करता हूं, मेरे आचरण और व्यवहार का प्रत्येक अंश, मेरी प्रत्येक क्रिया–ये सब किसी न किसी कारण से उत्पन्न होते हैं, अतः स्वतंत्र नहीं हैं। जीवन और मन का यह नियमन ही कर्म का नियम है।

यदि प्राचीनकाल में ऐसा सिद्धान्त पश्चिमी समाज में प्रतिपादित किया जाता, तो भारी उथल-पुथल मच जाती। पश्चिम का मनुष्य यह नहीं सोचना चाहता कि उसका मन नियम से शासित होता है। किन्तु भारत में जैसे ही वहां ही प्राचीनतम दर्शन-पद्धति द्वारा यह प्रतिपादित किया गया, स्वीकार कर लिया गया। मन की स्वतंत्रता जैसी कोई चीज नहीं, वह हो भी नहीं सकती। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन से भारतीय मन में कोई उथल-पुथल क्यों नहीं हुई ? भारत ने इसे शांतिपूर्वक स्वीकार कर लिया; यही भारतीय विचारधारा की विशेषता है। यहीं पर वह अन्य सभी विचारधाराओं से भिन्न है।

बाह्य और आन्तरिक प्रकृतियां दो भिन्न वस्तु नहीं है, वस्तुतः वे एक हैं। प्रकृति समस्त घटनाओं की समष्टि है। 'प्रकृति' से आशय है–वह सब जो हैं, वह सब जो गतिशील है। हम जड़ वस्तु, और मन से अत्याधिक भेद मानते हैं। हम सोचते हैं। कि मन जड़ वस्तु से पूर्णतः भिन्न है। वस्तुतः वे एक ही प्रकृति हैं, जिसका अर्द्धांश दूसरे अर्द्धांश पर सतत क्रिया करता है। जड़ पदार्थ विभिन्न संवेदनों के रूप में मन पर प्रभाव डालता है। ये संवेदन शक्ति के सिवा और कुछ नहीं है। बाहर से आने वाली शक्ति भीतर की शक्ति को आन्दोलित करती है। बाह्य-शक्ति के प्रति अनुक्रिया करने अथवा उससे दूर हट जाने की इच्छा से आन्तरिक शक्ति जो रूप धारण करती है, उसे हम विचार कहते हैं।

जड़ पदार्थ और मन दोनों ही वास्तव में शक्ति ही हैं और यदि तुम उनका विश्लेषण गहराई से करो, तो पाओगे कि मूलतः दोनों एक हैं। बाह्य-शक्ति किसी प्रकार आन्तरिक शक्ति को प्रेरित कर सकती है, इसी बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे कहीं एक-दूसरे से संयुक्त होती हैं–वे अश्वयमेव अखण्ड हैं और इसलिए वे मूलत. एक ही शक्ति है। जब तुम इन सबके मूल में जाते हो, तब वे सरल एवं सामान्य प्रतीत होती है। चूंकि वही शक्ति एक रूप में जड़ वस्तु, दूसरे रूप में मन होकर प्रकट होती है. अतः मन और जड़ पदार्थ को भिन्न समझने का कोई कारण नहीं है। मन जड़

पदार्थ के रूप में परिवर्तित होता है और जड़ पदार्थ मन के रूप में। विचार-शक्ति ही स्नायु-शक्ति, पेशी-शक्ति बन जाती है और स्नायु-शक्ति एवं पेशी-शक्ति विचार-शक्ति। प्रकृति ही यह सब शक्ति है, चाहे वह जड़ वस्तु के रूप में अभिव्यक्त हो, चाहे मन के रूप में।

सूक्ष्मतम मन एवं स्थूलतम जड़-पदार्थ के बीच केवल मात्रा का ही अन्तर है। अतएव, समस्त विश्व को मन या जड़ दोनों कहा जा सकता है। इन दोनों में क्या कहें यह महत्व नहीं रखता। तुम मन को सूक्ष्म जड़ पदार्थ कह सकते हो, अथवा शरीर को मन का स्थूल रूप। तुम किसे किस नाम से पुकारते हो, उससे कोई अंतर नहीं पड़ता। गलत ढंग से सोचने के कारण ही भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद के बीच संघर्ष से कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। वास्तव में दोनों में कोई भेद नहीं है। मुझमें और हीनतम सूअर में केवल मात्रा का अन्तर है–सूअर कम अभिव्यक्त हुआ, मैं अधिक। कभी मैं उससे बुरा हो जाता हूं, कभी सूअर मुझसे अच्छा रहता है।

और न इस बात पर विवाद करने से कोई लाभ है कि पहले जड़ होता है या (चेतन) मन। क्या मन पहले आता है, जिससे जड़ वस्तु निकली है ? या पहले जड़ वस्तु हुई, जिससे मन निकला ? बहुत से दार्शनिक तर्क इन बेकार प्रश्नों को लेकर आगे बढ़ते हैं। यह तो वैसे ही है, जैसे कि यह पूछना कि पहले अण्डा हुआ या मुर्गी। दोनों ही प्रथम हैं और दोनों ही अन्तिम–मन और जड़ वस्तु, जड़ वस्तु और मन। यदि मैं यह कहता हूं कि जड़ पदार्थ पहले होता है और सूक्ष्मतर होता हुआ वह मन बन जाता है, तब मुझे स्वीकार करना पड़ेगा कि पदार्थ के पूर्व मन अवश्य रहा होगा। अन्यथा पदार्थ कहां से आया ? जड़-पदार्थ मन से पहले है, और मन जड़-पदार्थ से पहले हैं। यह सदैव मुर्गी-अण्डे जैसा प्रश्न है।

समस्त प्रकृति कार्य-करण सम्बन्ध के नियम से बंधी हुई है और देश-काल में स्थित है। हम कोई चीज देश से परे नहीं देख सकते, तो भी हम देश को नहीं जानते। हम लोग कोई चीज काल से परे नहीं जानते, पर हम काल को भी नहीं जानते। हम किसी चीज को कार्य-कारण सम्बन्ध के सिवा और किसी रूप में नहीं समझ सकते, तथापि हम नहीं जानते कि कार्य-कारण सम्बन्ध क्या है। ये तीन – देश, काल और कार्य-कारण–प्रत्येक घटना में विद्यमान है। परन्तु वे घटना नहीं है। मानो वे रूप और सांचे हैं, जिनमें ज्ञेय बनने के पूर्व प्रत्येक वस्तु का ढलना आवश्यक है। पदार्थ – उपादान, काल, देश और कार्य-कारण सम्बन्ध का संघात है। मन – उपादान, काल, देश और कार्य-कारण सम्बन्ध का संघात है।

इस तथ्य को दूसरे प्रकार से भी व्यक्त किया जा सकता है। प्रत्येक वस्तु

उपादान नाम एवं रूप का योग है। नाम और रूप आते-जाते रहते हैं, किन्तु उपादान सदा वही रहता है। यह घड़ा उपादान, रूप और नाम से निर्मित है। जब यह टूट जाता है, तब तुम इसे घड़ा नहीं कहते और न तुम इसके घड़ा रूप को ही देखते हो। इसका नाम और रूप नष्ट हो जाता है, किन्तु इसका उपादान शेष रहता है। उपादान में जो अन्तर किया जाता है, वह नाम और रूप के द्वारा। ये वास्तविक नहीं हैं, क्योंकि ये नष्ट हो जाते हैं। जिसे हम प्रकृति कहते हैं, वह अपरिवर्तनशील एवं अविनाशी उपादान नहीं है। प्रकृति देश, काल एवं कार्यकरण सम्बन्ध है। प्रकृति, नाम और रूप है। प्रकृति माया है। माया का अर्थ है नाम और रूप, जिसमें प्रत्येक वस्तु ढाली जाती है। माया सत्य नहीं है। यदि वह सत्य होती, तो हम उसे नष्ट या परिवर्तित न कर सकते। उपादान तत्त्व है और माया दृश्य। एक तो वास्तविक है, जिसे कोई नष्ट नहीं कर सकता और दूसरा दृष्य-रूप 'मैं' है, जो सतत परिवर्तित और नष्ट हो रहा है।

वास्तविकता यह है कि जो कुछ भी अस्तित्व रखता है, उसके दो पक्ष हैं। एक तात्त्विक – अपरिवर्तनशील एवं अविनाशी; दूसरा रूप – परिवर्तनशील एवं नश्वर। मनुष्य अपने सच्च रूप में तत्त्व, जीव, आत्मा है। यह जीव, यह आत्मा कभी परिवर्तित नहीं होती, कभी नष्ट नहीं होती। किन्तु वह एक रूप का चोला पहने हुए तथा एक नाम से सम्बद्ध नहीं प्रतीत होती है। ये नाम और रूप अखण्ड और अविनाशी नहीं है, वे सतत परिवर्तित और नष्ट होते है। फिर भी लोग मूर्खतापूर्वक इस परिवर्तनशील रूप, शरीर और मन में अमरत्व की खोज करते हैं – वे एक शाश्वत शरीर प्राप्त करना चाहते हैं। मैं उस प्रकार का अमरत्व नहीं चाहता।

मेरे और प्रकृति के बीच क्या सम्बन्ध है ? जहां तक प्रकृति से आशय नाम, रूप, काल, देश और कार्य-कारण सम्बन्ध से है, मैं प्रकृति का अंश नहीं हूं, क्योंकि मैं मुक्त हूं, अमर हूं, अपरिवर्तनशील एवं अनन्त हूं। मेरी स्वतन्त्र इच्छा है या नहीं, यह प्रश्न नहीं उठता। मैं किसी भी प्रकार की इच्छा से पूर्णत: परे हूं। जहां भी इच्छा है, वह मुक्त नहीं है। इच्छा की स्वतन्त्रता जैसी कोई चीज नहीं है। मुक्ति उस चीज की है जो नाम और रूप के बन्धन में बंधने और उनका दास बनने पर इच्छा का रूप धारण करती है। वह तत्त्व – आत्मा – मानो अपने को नाम-रूप के सांचे में ढालती है और तुरन्त बद्ध हो जाता है, जब कि वह पहले मुक्त थी। फिर भी उसका मौलिक स्वरूप अब भी वर्तमान है। इसीलिए वह कहती है, "मैं मुक्त हूं, इन सब बन्धनों के बावजूद मैं मुक्त हूं।" वह इसे कभी नहीं भूलती।

परन्तु इच्छा का रूप धारण कर लेने पर वह वास्तव में स्वतन्त्र नहीं रह जाती। प्रकृति डोर खींचती है और जैसा चाहती है, वैसा ही उसे नाचना पड़ता है।

इसी प्रकार हमने और तुमने वर्षों से नाच नाचा है। वह सब जो हम देखते, करते, जानते और अनुभव करते हैं, हमारे समस्त विचार और कार्य प्रकृति के इशारे पर नाचने के सिवा और कुछ नहीं हैं। इनमें से किसी में स्वतन्त्रता न तो रही है और न है। निम्नतम से लेकर उच्चतम तक समस्त विचार और कार्य नियम से बंधे हैं और इनमें से किसी का भी हमारे वास्तविक स्वरूप से सम्बन्ध नहीं है।

मेरा वास्तविक स्वरूप नियमों से परे है। जब तुम दासता से, प्रकृति से सामंजस्य स्थापित करते हो, तब तुमको नियमों के अधीन रहना पड़ता है। तुम नियम से बंधे हुए प्रसन्न रहते हो। किन्तु जितना अधिक तुम प्रकृति और उनके आदेशों का पालन करते हो, उतना ही अधिक तुम बंध जाते हो। जितना ही तुम अज्ञान के साथ सामंजस्य स्थापित करते हो, उतना ही तुम विश्व की प्रत्येक वस्तु के इशारे पर नाचते हो। क्या प्रकृति के साथ सामंजस्य, यह नियम का पालन मनुष्य के वास्तविक स्वभाव और लक्ष्य के अनुकूल है ? किस खनिज पदार्थ ने कभी नियम से संघर्ष या कलह मोल ली ? किस वृक्ष या पौधे ने नियम का उल्लंघन किया ? यह मेज प्रकृति के नियम के सामंजस्य में है, परन्तु यह सदा मेज ही बनी रहती है, इससे आगे उन्नति नहीं करती। मनुष्य प्रकृति के विरुद्ध युद्ध और संघर्ष करना प्रारम्भ करता है। वह अनेक भूलें करता है, कष्ट भोगता है। परन्तु अन्त में प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है और अपनी मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जब वह मुक्त हो जाता है, तब प्रकृति उसकी दासी बन जाती है।

आत्मा का अपने बंधन के प्रति जागरूक हो जाना, उठ खड़े होकर स्व-प्रतिष्ठापन का प्रयास करना – इसी को जीवन कहते हैं। इस संघर्ष में सफल होना ही विकास कहलाता है। अन्तिम विजय, जब समस्त दासता नष्ट हो जाती है, मोक्ष – निर्वाण, मुक्ति कहलाती है। विश्व में प्रत्येक वस्तु मुक्ति के लिए संघर्षरत है। जब तक मैं प्रकृति से, नाम-रूप से, देश-काल एवं कार्य-कारण सम्बन्ध से बंधा हुआ हूं, मैं नहीं जानता कि मैं वस्तुत: हूं क्या ? किन्तु इस बंधन में भी मेरा वास्तविक स्वरूप पूर्णत: खो नहीं जाता। मैं बन्धनों को तोड़ने के लिए जोर लगाता हूं, एक-एक करके वे टूटते हैं और मुझे अपने जन्मजात दिव्यत्व का भान हो जाता है। तब पूर्ण मुक्ति प्राप्त होती है। मुझे अपने स्वरूप का पूर्णतम एवं स्पष्टतम ज्ञान हो जाता है – मैं जानता हूं कि मैं अनन्त आत्मा हूं, प्रकृति का स्वामी हूं, उसका दास नहीं। समस्त भेदों एवं संघातों के परे, देश, काल एवं कारणता से परे, मैं अपना स्वरूप हूं। सोऽहमस्मि !